CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शाङ्कर-वेदान्त

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शांकर-वेदान्त

(इतिहास और निबन्ध)

शक :
ामी गोविन्दप्रकाश

लेखक :
स्वामी हरप्रकाश

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शांकर-वेदान्त

(इतिहास और निबन्ध)

लेखक—

स्वामी हरप्रकाश वेदान्ताचार्य

वेदान्त-विभागाध्यक्ष :–

श्री भगवानदास-संस्कृत-महाविद्यालय

प्राचीन अवधूतमण्डलाश्रम (हरिद्वार)

पो०-गुरुकुल काँगड़ी, जि०-सहारनपुर (उत्तरप्रदेश)

प्रकाशक—

स्वामी गोविन्दप्रकाश वेदान्ताचार्य

परमाध्यक्ष,

स्वामी रामतीर्थ मिशन

राजपुर, देहरादून (उ० प्र०)

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राप्ति-स्थान :—

१–प्राचीन अवधूत मण्डलआश्रम, पत्रालय–गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार)
जिला-सहारनपुर (उ० प्र०)

२–चौखम्बा–विद्याभवन (स्टेट बैंक के पीछे)
चौक, वाराणसी (उ०प्र०)।

३–स्वामी रामतीर्थ मिशन
पो० राजपुर, जिला देहरादून (उ० प्र०)

प्रकाशनकाल—नवम्बर, १९७६
२०३३

प्रथमावृत्ति—१००० प्रतियाँ

मूल्य—६.०० (छः रुपये)

मुद्रक—
सुरेशचन्द्र वैष्णव
मैनेजर : गुरुकुल कांगड़ी प्रिंटिंग प्रेस, हरिद्वार।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दो शब्द

भारतीय-दर्शन-सम्प्रदायों में अद्वैतवेदान्त ने भारतीय सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया है, इसमें संदेह नहीं। यों तो उपनिषद् को ही वेदान्त कहा जाता है, जैसा कि सदानन्द योगीन्द्र कहते हैं—"वेदान्तों नाम उपनिषद्प्रमाणम्" किन्तु 'तदुपकारीणि-वेदान्तवाक्यसंग्राहकाणि शारीरकसूत्रादीनि' भी वेदान्त ही हैं।

आत्मदर्शन के लिये श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन—ये तीन उपाय बतलाये गये हैं। प्रथम उपाय उपनिषदों का श्रवण है, अतः उपनिषदें श्रुति प्रस्थान हैं। द्वितीय उपाय युक्ति तर्कपूर्वक मनन है। तदर्थं शारीरक सूत्रभाष्य सहायक हैं। इसीलिये शरीरक भाष्य को तर्कप्रस्थान कहा जाता है। तृतीय उपाय है पुनः पुनः स्मरण करके निदिध्यासन। एतदर्थ स्मृति-ग्रन्थ भगवद्गीता भाष्यादि सहायक हैं। अतः भगवद्गीतादि स्मृति प्रस्थान हैं। उक्त प्रस्थानत्रयी के ऊपर आचार्य शंकरकृत भाष्य ही शांकरवेदान्त की आधारशिला है। शांकरवेदान्त की परम्परा में अष्टम शताब्दी से लेकर अनेकों विद्वान् आचार्य हुये।

इस युग में इस दिशा में पाण्डित्यपूर्ण लेखनी कोई भी नहीं उठा रहे हैं। आजकल शांकर-वेदान्ती विद्वान् साधु-संन्यासीगण भी कथा—प्रवचन द्वारा वर्तमान में ही वेदान्तप्रचार करने का दावा करते हैं। प्रवचन भविष्य में वेदान्तप्रचार नहीं करेगा। भविष्य में तो पाण्डित्यपूर्ण वेदान्त-ग्रन्थ ही शांकरवेदान्त का प्रचार कर सकेंगे।

वेदान्ताचार्य स्वामी हरप्रकाश जी का यह प्रयास पूर्वोक्त कमी को दूर करने का उपक्रम है। ग्रन्थ में लेखक ने संक्षिप्त रूप से वादरायण-व्यास से लेकर अप्पय दीक्षित तक के आचार्यों का परिचय दिया है एवं शांकर-वेदान्त के प्रायः सभी सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ से वेदान्त के जिज्ञासुओं को लाभ होगा तथा शांकरवेदान्त के अन्य विद्वान् साधुगण भी लेखनी उठाने के लिये प्रेरणा लेंगे।

डा० अभेदानन्द
एम. ए., पी-एच. डी., वेदान्ताचार्य
अध्यक्ष, दर्शन-विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राक्कथन

भारतीय दर्शनमें वेदान्त का सर्वोत्कृष्ट स्थान माना जाता है। आचार्य शंकर ने अद्वैतसिद्धान्त को परिष्कृत और परिमार्जित किया, इस कारण साधारण-दृष्टिसे अद्वैतवाद और शंकराचार्य पर्याय-से हो गये हैं। यों तो आचार्य शंकर के पूर्व भी अद्वैतसिद्धान्त का स्वरूप विभिन्न आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका था और बाद के आचार्यों ने भी कुछ अंशों में आचार्य शंकर की पद्धति से हटकर कुछ मौलिक विचार रक्खें। फिर भी शंकराचार्य के परवर्ती और अनुगामी अद्वैत-दर्शन को शांकर अद्वैतवेदान्त कहना असमीचीन नहीं है। इसी कारण सामान्य जन-धारणा को दृष्टिगत करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'शांकर-वेदान्त' रखा गया है।

ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में महर्षि वेद-व्यास से लेकर आजतक के प्रमुख अद्वैत-वेदान्ताचार्यों के जीवन और कृतित्व पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। शंकराचार्य के पूर्ववर्त्ती आचार्यों को विना समाविष्ट किये आचार्य शंकर के कृतित्व और सिद्धान्तों पर प्रकाश नहीं पड़ सकता, अतः उनका भी इस ग्रन्थ में समावेश किया गया है। इसी प्रकार ग्रन्थ के कलेवर को ध्यान में रखते हुए अत्यधिक प्रसिद्ध आचार्यों के जीवन और कृतित्व को ही विषयक्षेत्र में स्थान दिया गया है।

द्वितीयखण्ड में अद्वैत-वेदान्त के प्रसिद्ध, महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर सिद्धान्तों का संक्षिप्त और सर्वाङ्गीण विवेचन करने का प्रयास हुआ है। यह ध्यान में अवश्य रखा गया है कि यथासम्भव कोई भी क्षेत्र या शाखा वञ्चित न रहने पाये। तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा, मोक्षमीमांसा तथा आचार-पक्ष पर भी आवश्यक संख्या में निबन्ध प्रस्तुत किये गये

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि तलस्पर्शी विवेचन की अपेक्षा विषय की गहराई तक पहुँचाने की दृष्टि अपनाई गयी है।

ग्रन्त में चार परिशिष्ट दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्ट में विभिन्न ग्रन्थकार एवं उनके ग्रन्थों की सूची दी गयी है। द्वितीय परिशिष्ट में विभिन्न पारिभाषिक शब्दों के अर्थ प्रस्तुत किये गये हैं। तृतीय परिशिष्ट में कुछ प्रमुख ग्रन्थों के नामों की व्युत्पत्ति संस्कृत और हिन्दी में दी गई है, इस तृतीय परिशिष्ट के लिखने का श्रेय प्रधानाचार्य प० श्री मनसाराम जी शर्मा को है। चतुर्थ परिशिष्ट में द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद का संक्षिप्त क्रम दिखाया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण में जहाँ संस्कृत के मौलिक ग्रन्थों का सहारा लिया गया है, वहीं अधुनातन अनुसंधानपरक हिन्दी एवं संस्कृतग्रन्थ भी आधार बनाये गये हैं। यथासम्भव विवेचन को प्रामाणिक और पुष्ट बनाने का प्रयत्न किया गया है। यों तो अद्वैत-सिद्धान्त के साहित्य में हिन्दी, संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के अगण्य ग्रन्थ विद्यमान हैं और यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वथा नयी और अनुपलब्ध-सामग्री उपलब्ध करा सकेगा। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि प्रस्तुतग्रन्थ अपने ढंग और अपनी सरलशैली से अद्वैत-सिद्धान्त को समग्र और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है। दृष्टि अनुसंधानात्मक न होकर वर्णनात्मक और विवेचनात्मक रही है। इस कारण समालोचना और विभिन्न मतवादों के सामञ्जस्य का अभाव-सा मिलेगा। यह अवश्य सम्भव है कि भाषा पूर्णतः अधुनातन न बन पाई हो; परन्तु शांकर-वेदान्त के ग्रन्थों और विषयों को समझने में प्रस्तुत ग्रन्थ अवश्य सहायक सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

सम्प्रति अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में अद्वैत-वेदान्त का समावेश है और प्रधानतः आचार्यों की जीवनी और सिद्धान्तों पर प्रश्न पूछे जाते हैं। निश्चय है कि ऐसे विद्यार्थियों का यह कृति पर्याप्त

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सहयोग कर सकेगी। इसके अतिरिक्त जो अद्वैत-सिद्धान्त के जिज्ञासु-जन हैं, वे भी इस ग्रन्थ से अद्वैतसिद्धान्त एवं उसके आचार्यों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु इन सम्भावनाओं का सही निर्णय सहृदय गुणग्राही पाठक ही कर सकेंगे।

-स्वामी गोविन्दप्रकाश

आभार-प्रदर्शन

इस ग्रन्थ की प्रायः समस्त सामग्री विभिन्न मान्य आचार्यों एवं लेखकों के ग्रन्थों से प्राप्त हो सकी है। अतः उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना अपना पुनीत कर्तव्य है। साथ ही इस ग्रन्थ के निर्माण एवं प्रकाशन में जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से योगदान हुआ है; उनके प्रति मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ।

यदि यह ग्रन्थ पाठक-वृन्द को रुचिकर एवं उपयोगी प्रतीत हुआ, तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

-स्वामी हरप्रकाश

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आमुख

इस परिवर्तनशील संसार में अनादिकाल से आध्यात्मिक सुख-शान्ति के मार्गदर्शकों के रूप में विविध दर्शनों एवं मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव होता आया है। भारतीय वाङ्मय के मूल वेदों को उपजीव्य बनाकर जिस दर्शन-परम्परा का उद्गम हुआ, वह वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु आचार्यों की व्याख्या एवं तर्कणा-पद्धति के भेद के कारण वेदान्त की कई धाराएं हो गई हैं। इन वेदान्तदर्शनों के मध्य जिसका सर्वाधिक महत्त्व दृष्टिगत होता है, वह अद्वैतवेदान्त है।

''अद्वैतवेदान्तदर्शन' का अर्थ समझना भी इस सन्दर्भ में उपयोगी है। 'वाचस्पत्यम्' के अनुसार अद्वैतशब्द का निर्वचन है—"द्विधा इतं द्वीतम्, तस्य भावो द्वैतम्, द्वैतम्=भेदः, भेदो नास्ति यत्र तदद्वैतम्" अर्थात् अद्वैत का अर्थ द्वैत-विरोधी या भेदरहित तत्त्व है। वेदान्त-शब्द का अर्थ है—'वेदानाम् अन्तः शिरोभागो वेदान्तः' अर्थात् वेदों के अन्त-भाग उपनिषदों का नाम वेदान्त है। दर्शनशब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय, उसे दर्शन कहते हैं। इस शब्द की निष्पत्ति 'दृश् प्रेक्षणे' धातु से करणार्थक ल्युट् प्रत्यय करने से होती है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि किसके द्वारा क्या देखा जाय? घट-पट आदि स्थूल पदार्थों का दर्शन तो हमें नेत्रों के द्वारा हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म पदार्थों के ज्ञान के लिए ये समर्थ नहीं। जैसे—जीवात्मा का स्वरूप क्या है? इस परिदृश्यमान जगत् की उत्पत्ति का मूल क्या है? आदि प्रश्नों का उत्तर जिस शास्त्र या ज्ञान के द्वारा हमें मिलता है, उसे दर्शन कहते हैं। 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

"शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शास्त्रं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः॥
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्।"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अर्थात् 'शास्' या 'शंस्' धातु से शास्त्र' शब्द का निष्पत्ति होती है। 'शास् का अर्थ है—शासन करना। 'शंस्' का अर्थ है—प्रकट करना या वर्णन करना। शासन दो प्रकार का होता है, विधिरूप और निषेध-रूप। श्रुति-स्मृति द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठेय कार्य, जैसे "स्वर्गकामो यजेत" आदि विधि हैं और "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" आदि निषेध-वाक्य हैं। इस प्रकार शासन के अर्थ में शास्त्रशब्द का प्रयोग प्रायः वेद, धर्मशास्त्र इत्यादि के लिए होता है। शंसक या बोधक शास्त्र उसे कहते हैं, जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उपस्थान किया जाय। यह क्रियापरक नहीं होता। इसी अर्थ में 'दर्शन' को शास्त्र कहते हैं। धर्म-शास्त्र प्रधानतः कर्तव्याकर्तव्य के विधायक होने के कारण पुरुष-तन्त्र होते हैं, जबकि दर्शन-शास्त्र वस्तु-स्वरूप-प्रतिपादक होने के कारण वस्तुतन्त्र ।

इस प्रकार अद्वैतवेदान्तदर्शन का तात्पर्य है—वह शास्त्र या ज्ञान, जो परमार्थरूप से भेदरहित या अद्वैतविरोधी वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करता या दिग्दर्शन कराता है।

× × ×

यद्यपि अद्वैतवेदान्त को मूर्तरूप प्रदान करने का श्रेय आचार्य शंकर को है, फिर भी यह सत्य है कि अद्वैत-दर्शन का बीज वैदिक संहिताओं में भी निहित है तथा उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में उसकी परम्परा चली आई है।

वेदों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद माना जाता है और यहाँ भी हमें अद्वैत-वेदान्त के बीज उपलब्ध होते हैं। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" इस मन्त्र में 'एकं' तथा 'सत्' पद अद्वैत-आदितत्त्व की अभिव्यञ्जना करते हैं तथा 'बहुधा वदन्ति' के रूप में जो एकत्व में अनेकत्व का कथन किया गया है, वह भी अद्वैतवेदान्त के विवर्तवाद का ही सूक्ष्म-रूप है। इसी प्रकार पुरुषसूक्त में अनन्तशिर, अनन्तचक्षु और अनन्त-पादवाले जिस विराट् पुरुष की कल्पना की गई है, उससे भी अद्वैततत्त्व की परिपुष्टि होती है। अद्वैतवेदान्त में समस्त जगत्प्रपञ्च का निषेध

Prof. Arniodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर अनिर्वचनीय रूप से परमतत्त्व की प्रतिष्ठा करने की जो प्रक्रिया प्रचलित है, उसका उत्स हम नासदीय सूक्त में देख सकते हैं—

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥"

यजुर्वेद में भी एक ही तत्त्व को जो इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है, वह भी परमतत्त्व के एकत्व का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार सामवेद और अथर्ववेद में भी अद्वैततत्त्व के प्रतिपादक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। उपनिषदें, जिनका अपर नाम वेदान्त भी है, प्रधान रूप से अद्वैततत्त्व का प्रतिपादन करती हैं—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्," "नान्यत् किञ्चन मिषत्," "नेह नानास्ति किञ्चन," "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्," एकमेवाद्वितीयम्," "नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् मृत्युनैवेदमावृतमासीत्," "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि उपनिषद्-वाक्य एक ओर नानात्व और प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं, वहीं दूसरी ओर अद्वैततत्त्व की प्रतिष्ठापना भी। जो हो, प्रायः समस्त प्रधान उपनिषदें अध्यात्म, ज्ञान-तत्त्व या वेदान्त का प्रतिपादन करती हैं।

उन उपनिषदों का दोहन कर भगवान् व्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना की, जो वेदान्त-दर्शन के नाम से जाना जाता है। इसकी व्याख्या के भेद से वेदान्त के अन्तर्गत विभिन्न वादों का प्रवर्तन किया गया, जैसे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि। यह प्रसिद्धि है कि सभी उपनिषदों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही है, किन्तु उपनिषदों में इस प्रकार के अद्वैतप्रतिपादक मन्त्र शृंखलाबद्धरूप में विद्यमान नहीं है। माण्डूक्य उपनिषद् में इसका कुछ व्यवस्थित रूप मिलता है। आचार्य गौड़पाद ने इस उपनिषद् पर व्याख्या के रूप में कारिकायें प्रस्तुत कर अद्वैतवाद को व्यवस्थित रूप देने का प्राथमिक प्रयास किया है, जिसमें उन्होंने 'अजातवाद' की मुख्यरूप से प्रतिष्ठापना की है। जैसा कि पहले कहा गया, दार्शनिक जगत् में अप्रतिम स्थान रखने वाले आचार्य शंकर ने अद्वैतवेदान्त का परिमार्जन, संस्थापन एवं परिवर्धन कर उस

Prof. Amodavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एक नये रूप में प्रस्तुत किया। इसकी महत्ता इसी बात से लक्षित होती है कि बाद में उनके नाम से 'शांकरवेदान्त' की संज्ञा प्रचलित हो गई। इन्होंने प्रमुख दश उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्, गीता पर भाष्य लिखे, जो अद्वैतवाद के आधारग्रन्थ बने। आचार्य शंकर के तीनों भाष्य वैसे प्रतिपादन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं ही, इनकी भाषाशैली भी अत्यन्त मार्मिक और सौष्ठवपूर्ण है।

यद्यपि बौद्धदार्शनिक नागार्जुन का शून्यवाद अद्वैतवाद के अत्यन्त समीप है तथा आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद का पूर्ववर्ती भी है। इसीलिए कुछ विचारक आचार्य शंकर के अद्वैतवाद में बौद्ध शून्यवाद का प्रभाव-प्रतिपादन करने का प्रयत्न करते हैं, तथापि आचार्य शंकर के अद्वैतवाद की मौलिकता अस्वीकृत करना उचित न होगा। अनेक सूक्ष्म दार्शनिक मतभेदों के अतिरिक्त आचार्य शंकरके अद्वैतवाद में मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि वह वेद-स्मृति-सम्मत है और विधि-प्रधान है।

अद्वैतवाद के विकास में आचार्य शंकर के बाद जिस महान् विभूति का योगदान हुआ, वे हैं आचार्य सुरेश्वर।। बहुमत की धारणा यह है कि आचार्य सुरेश्वर और मण्डनमिश्र एक थे। इनका वेदान्त और मीमांसा पर समान अधिकार था। इनकी महत्ता इस बात में भी रही है कि इन्होंने इन दोनों दर्शनों के कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर पृथक् रूप से ग्रन्थों की रचना की। आचार्य शंकर द्वारा सिंचित अद्वैतवाद को परिवर्धित करने में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इन्होंने अद्वैत-वाद की अनेक गुत्थियों को सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया है, जिनमे से दो उल्लेखनीय हैं—एक तो माया और अविद्या का भेद अर्थात् इनके अनुसार ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अविद्या है, और द्वितीय यह कि इन्होंने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब एवं अवच्छेद न मानकर आभास प्रतिपादित किया है। अष्टम शताब्दी के ही आचार्य पद्मपाद ने ब्रह्मसूत्र-शांकर-भाष्य के पांच पादों पर टीका लिखी जिसका नाम पञ्चपादिका पड़ा।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नवम शतक में प्रादुर्भूत सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आचार्य वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्र–शांकरभाष्य पर अपनी उपेक्षित पत्नी 'भामती' के नाम पर भामती नामक टीका लिखी। इनकी यह टीका भाष्य के मार्मिकार्थ को खोलने में समर्थ तो है ही, यह शांकर अद्वैत-वेदान्त के क्षेत्र में एक सम्प्रदाय की जन्मदात्री भी बनी और इसके नाम पर भामती-प्रस्थान का प्रवर्तन हुआ। आचार्य वाचस्पति ने नवम दशकमें जगत् के स्वरूप, अविद्या, ईश्वर, मोक्ष के साधन आदि के सम्बन्ध में अपनी मौलिक प्रतिष्ठापनाएं प्रस्तुत की हैं, जो परवर्ती विवरण-प्रस्थान की मान्यताओं से मेल नहीं रखतीं। इसी कारण अद्वैतवेदान्त में भामती-प्रस्थान और विवरण-प्रस्थान, ये दो सम्प्रदाय जाने जाते हैं। नवम शतक के ही सर्वज्ञात्ममुनि ने आचार्य शंकर के भाष्य के आधार पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ 'संक्षेपशारीरक' का निर्माण किया, जिसमें भाष्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त संक्षिप्त और स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किये गये हैं। उनकी मान्यता कुछ अंशों में आचार्य वाचस्पति मिश्र से भिन्न है। यह कहा जा सकता है कि प्रकाशात्मयति द्वारा प्रवर्तित विवरण-प्रस्थान के बीज संक्षेप-शारीरक में निहित हैं।

विवरण-प्रस्थान के प्रवर्तक प्रकाशात्मयति एकादश शतक में हुए, जिन्होंने पद्मपादाचार्य की पञ्चपादिका पर विवरण नाम की टीका लिखकर अनेक प्रमुख सिद्धान्तों पर वाचस्पति से अपना पृथक् मन्तव्य प्रकट किया। अद्वैत-वेदान्त के प्रकाण्ड नैयायिक श्रीहर्ष ने खण्डन-खण्ड-खाद्य लिख कर प्रतिद्वन्द्वियों के मत का अपनी अकाट्य खण्डन-पद्धति से खण्डन किया। इसके कारण वे आज भी एक उद्भट खण्डन-कर्ता दार्शनिक के रूप में जाने जाते हैं। ये उच्चकोटि के साहित्यिक भी थे। इसी शतक में आनन्दबोध भट्टारक हुए, जिन्होंने न्यायमकरन्द, प्रमाण-माला, न्यायदीपिका आदि ग्रन्थ लिख कर अद्वैत-वेदान्त के नैयायिकों में अपना सर्वोत्कृष्ट स्थान बनाया।

तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न चित्सुखाचार्य बहुमुखी प्रतिभा वाले दार्शनिक थे, इन्होंने अनेक ग्रन्थों की व्याख्या लिखी तथा अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लिखे। इनके द्वारा रचित तत्त्वदीपिका बहुचर्चित ग्रन्थ है, जिसमें अद्वैत-वेदान्त के मुख्य सिद्धान्तों का सविस्तर विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ की विशेषता इस बात में है कि सम्भावित समस्त पूर्वपक्षों को प्रस्तुत कर सिद्धान्त पक्ष का निरूपण किया गया है। इसी शतक में विमुक्तात्मा, अमलानन्द सरस्वती और आनन्द गिरि हुए, जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों पर टीकायें लिखीं और स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे।

चौदहवीं शताब्दी के वेदान्तियों में उल्लेखनीय नाम विद्यारण्यमुनि का है, जिनका अपर नाम माधवाचार्य था। इन्होंने बहुसंख्य ग्रन्थों का निर्माण कर जहाँ अद्वैत-साहित्य को बढ़ाने का स्तुत्य प्रयास किया, वहीं सरल और सूक्ष्म पद्धति से विषय-प्रतियादन कर अद्वैत-सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार में अपूर्व योगदान किया है। इनके विवरण-प्रमेयसंग्रह, पञ्चदशी, सर्वदर्शनसंग्रह, वैयासिकन्यायमाला आदि बहुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

सोलहवीं शताब्दी के मधुसूदन सरस्वती और अप्पयदीक्षित उच्च-कोटि के दार्शनिकों में से हैं। अप्पयदीक्षित का साहित्य तथा वेदान्त में समानाधिकार था। परन्तु वेदान्त के क्षेत्र में इनका महत्त्वपूर्ण योग-दान रहा है। इन्होंने कुछ टीका-ग्रन्थ एवं अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। इनका सिद्धान्त-लेश-संग्रह एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है, जिसमें प्रमुख विषयों पर विभिन्न आचार्यों के मतों को प्रस्तुत कर उनका समन्वय करने का प्रयास किया गया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती टीकाकार एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ-निर्माता दोनों हैं। इन्होंने संक्षेपशारीरक, भगवद्गीता आदि पर टीकाएँ लिखीं तथा सिद्धान्त-विन्दु, भक्ति-रसायन आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इनकी 'अद्वैतसिद्धि' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मानी जाती है, जिसमें सूक्ष्म एवं गम्भीर विषयों का साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ नैयायिक-शैली से लिखा गया है।

इनके अतिरिक्त अद्वैत-वेदान्त के क्षेत्र में अधुनापर्यन्त अनेक दार्शनिकों का प्रादुर्भाव होता आ रहा है, जिन्होंने अपनी सूक्ष्मेक्षिका प्रतिभा एवं प्रबल तर्कशक्ति के द्वारा अद्वैत-सिद्धान्त का उपबृंहण,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिष्कार एवं प्रचार किया है तथा साथ-साथ प्रतिवादियों के मतों का निरास भी। इनके द्वारा अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए। इनमें से धर्मराजाध्वरीन्द्र की 'वेदान्त-परिभाषा' और सदानन्द का 'वेदान्तसार' अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।

× × ×

जैसेकि इस दर्शन के नाम से ही संकेत मिलता है अद्वैत-वेदान्त का मूल सिद्धान्त है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, नेह नानाऽस्ति किञ्चन अर्थात् एक ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और परमार्थतः कुछ भी नाना नहीं है। अधिक गम्भीर-विवेचन करने पर तो ब्रह्म ही जगत है, जगत् ही ब्रह्म। परमार्थतः न तो बन्धन है और न मुक्ति। ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप और निर्गुण-निरीह है। किन्तु इस प्रतीयमान नानात्व की व्याख्या करने के लिये त्रिविध सत्ता स्वीकृत की गई है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक, और ब्रह्म की शक्ति या उपाधि के रूप में माया का स्वीकार उसे सबल आधार प्रदान किया गया है। यह अविद्या, माया या अज्ञान भावरूप माना गया है, जिसका स्वरूप सदसद्-भिन्न अनिर्वचनीय है, इसी अविद्या से उपहित होकर ब्रह्म ईश्वरत्व एवं जीवत्वको प्राप्त होता है या उसकी इन रूपों में प्रतीति होती है। जीव के स्वरूप के विषय में अद्वैत-वेदान्त के अन्तर्गत ही दार्शनिकों में मतभेद है। कुछ जीव को एक तथा कुछ अनेक मानते हैं और इसी प्रकार किन्हीं के अनुसार जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब, किन्हीं के अनुसार माया से अवच्छिन्न तथा किन्हीं के अनुसार आभास मात्र है।

जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया गया है, किन्तु मिथ्या का तात्पर्य अलीक या अभावरूप नहीं है। अद्वैत-वेदान्त में मिथ्या का अर्थ सत्,असत् एवं सदसदुभय से भिन्न अनिर्वचनीय है। प्रतीति और बाध होना ही जगत् के मिथ्यात्व का मूल कारण है। आचार्यों ने मिथ्यात्व के अनेक लक्षण किये हैं। कुछ आचार्य सृष्टि को दृष्टिमूलक मानते हैं, तो कुछ ठीक इसके विपरीत सृष्टिमूलक दृष्टि मानते हैं। परन्तु अद्वैत-वेदान्त का सिद्धान्त पक्ष अजातवाद प्रतीत होता है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

फिर भी अभ्युपगमवाद से ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है। इस सम्बन्ध में विवाद है कि ब्रह्म निमित्तकारण है या उपादानकारण ? बहुसम्मत मत यह है कि ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इसी प्रकार जगत् को ब्रह्म का परिणाम न मानकर अद्वैत-वेदान्तियों ने विवर्त माना है।

इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ब्रह्म में जगत् या एक में अनेकत्व आरोपित या अध्यस्त है। इस आरोप का अपवाद करना ही ब्रह्म-ज्ञान का मोक्ष या साधन है। एतदर्थ साधन-चतुष्टय-संपन्न अधिकारी शिष्य गुरु की शरण में जाता है और गुरु उसे अध्यारोप-अपवाद-न्याय से 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों का तात्पर्यार्थ बतलाकर ब्रह्म का उपदेश करते हैं। जहदजहल्लक्षणा करके 'तत्त्वमसि, आदि महावाक्यों द्वारा अखण्डार्थबोध या ब्रह्मात्मैक्य करना अहंग्रहोपासना कहलाती है ।

यद्यपि अन्य दर्शनों की तरह अद्वैत-वेदान्त में भी प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द प्रमाण की स्वीकृति है, किन्तु प्रधानता आगम-प्रमाण या शब्द-प्रमाण की है। फिर भी प्रमाणों की स्वीकृति भेदमूलक होने के कारण अविद्या-ग्रस्त जीवों या अज्ञानियों के लिए है, परमार्थ अद्वैत में प्रमाणों की पहुँच कथमपि संभव नहीं है। इसीलिए आचार्य शंकर ने कहा है- 'प्रमाणानामविद्यावद्विषयत्वात्' । मीमांसा के अनुसरण में अद्वैत-वेदान्त प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति को स्वतः मानकर स्वतः प्रामाण्यवाद का समर्थन करता है।

अद्वैत-वेदान्त में मोक्ष किसी अप्राप्त अवस्था या वस्तु की प्राप्ति का नाम नहीं है, अपितु नित्यप्राप्त आत्मतत्त्व की ज्ञानरूप प्राप्ति ही मोक्ष है,जिससे दुःखों की निवृत्ति और निरतिशय आनन्द की अभिव्यक्ति हो जाती है। अन्य दर्शनों की तरह अद्वैत-वेदान्त में भी विदेह-मुक्ति और जीवन्मुक्ति दोनों का अङ्गीकार है, किन्तु कुछ आचार्य जीवन्मुक्ति का स्वीकार नहीं करते हैं। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' के अनुसार ज्ञान के द्वारा मुक्ति मानी गई है और कर्म से मुक्ति या ज्ञान-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्मसमुच्चय का निरास किया गया है। कर्मों की उपयोगिता अन्तःकरण की शुद्धि या परम्परया ज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष–साधन में मानी गई है।

कुछ भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों ने अद्वैत-मूलक होने के कारण अद्वैत-वेदान्त पर यह आक्षेप किया है कि इसमें नीतिशास्त्र या आचार-पक्ष के लिए स्थान नहीं है, क्योंकि इसमें जगत् एवं व्यवहार की सत्यता का निषेध किया गया है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जगत् के मिथ्यात्व का अभिप्राय यह नहीं है कि उसकी व्यावहारिक सत्ता भी नहीं है। जगत् काल्पनिक या भ्रान्तिमात्र नहीं है, परमार्थतः अनेकत्व स्वीकार करने के बावजूद व्यावहारिक नानात्व तो स्वीकृत ही है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि शुभाशुभ और गुणावगुण का जीवन में कोई महत्त्व नहीं है। अपितु अभेद-दर्शन या साम्य-बुद्धि तो नैतिकता के लिए और भी सुदृढ़ आधार-भूमि प्रदान करती है। यही कारण है कि कई आधुनिक दार्शनिकों ने व्यावहारिक वेदान्त का साङ्गोपाङ्ग एवं तर्कणापरक विवेचन कर समाज को नई दिशा दी है।

आज के इस युग में, जबकि समता और स्वतंत्रता का सर्वाधिक महत्त्व व्यवहारतः स्वीकृत किया जा रहा है, अद्वैत-वेदान्त की सामाजिक और व्यावहारिक उपयोगिता का क्षेत्र और विस्तृत हो गया है। इस दर्शन के मौलिक सिद्धान्त का ग्रहण कर एक नये सामाजिक जीवन्-दर्शन और नैतिकता का निर्माण करते हुए हम भेदभाव-रहित, सुखी एवं सम्पन्न समाज के निर्माण की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ शांकर–अद्वैत-वेदान्त का संक्षिप्त एवं सर्वाङ्गीण परिचय कराने में छात्रों एवं नव अध्येताओं के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

३० नवम्बर १९७६, –शुकदेवदास शास्त्री
हरिद्वार। (व्याकरणाचार्य, एम. ए.–दर्शनशास्त्र)

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	६	चोदराज	चेदिराज
१९	५	सुरेष्वराचायं	सुरेश्वराचार्य
२२	२७	अवच्छिन्न	सर्वथाऽनवच्छिन्न
३१	१०-११	वाचस्पति पति मिश्र	वाचस्पतिमिश्र ने
३१	१५	क कारण ब्रह्म	के कारण ब्रह्म
४२	८	युक्त संगत है	युक्तिसंगत है
४५	२३	नितारण हुआ ।	निर्माण हुआ ।
५०	२३	ब्रह्मात्मैक्यपरत्वान्तु	ब्रह्मात्मैक्यपरत्वात्तु
५७	१६	मुक्तात्मा	विमुक्तात्मा
६६	२०	ज्ञात नहीं होता	ज्ञात नहीं हुआ
७८	२३	देय बुद्धि	हेयबुद्धि
८७	१५	प्राप्ते भार्गवत्सरे	प्राप्ते भार्गववत्सरे
८९	९	वेदान्तभिमत	वेदान्ताभिमत
९०	१	चतुश्कोण	चतुष्कोण
९४	१६	विद्यारण्यकृतंन्श्लोकैर्नृ-	विद्यारण्यकृतैःश्लोकैर्नृ-
९८	७	बुद्धिर्नाहमध्यासमूलम्	नाहं बुद्धिर्नाहमध्यासमूलम्
१००	१७-१८	अनन्तर ही ही	अनन्तर ही
१२१	१-३	शांकरवेदान्त के अनुसार यहाँ पर धूम है, ऐसे पक्षधर्मता के ज्ञान में धूम वह्निव्याप्य होता है ऐसे संस्कार का उद्‌बोध में होता है, जिससे । अतः यह भी वह्निमान् है, ऐसी अनुमिति होती	शांकरवेदान्त के अनुसार प्रथमक्षण में पर्वत में धूम देखते ही पक्षधर्मता का ज्ञान होता है, द्वितीयक्षण में पक्षधर्मता से पहले देखी हुई व्याप्ति के अनु- भव से जन्य संस्कार का उद्‌बोध होता है, तृतीय

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		है ।	क्षण में उक्त उद्बुद्ध संस्कार से अनुमिति प्रमा की उत्पत्ति होती है। न्यायमत में उक्त संस्कार से व्याप्ति का स्मरण होता है और इसी परा-मर्श (तृतीयलिंगज्ञान) से अनुमितिप्रमा की उत्पत्ति होती है, ऐसा माना गया है।
१२३	१४	यस्मात् करणत्तदेवार्थापत्ति	यस्मात्करणात्तदेवार्थापत्ति
१३७	११	ग्रहण करने में	ग्रहण करने में
१३९	२१	स्थापन की है ।	स्थापना की है ।
१४७	१६	सन्नाप्यन्नाप्यु	सन्नाप्यसन्नाप्यु
१५०	२२	न सद्सदुभय रूप है,	न सदसदुभय रूप है,
१५०	२३	सावयवनिरवयय	सावयवनिरवयव
१५५	४	यद ऐसा कहें	यदि ऐसा कहें
१५७	७	सत्वशुष्यविशुद्धिम्यां	सत्वशुद्ध्यविशुद्धिम्यां
१५७	१९	विपर्पय	विपर्यय
१५९	२२	अपने अघान	अपने अधीन
१६६	२४	शुकाकि	शुकादि
१६७	२१	और पैरों सुख है ।	और पैरों में सुख है ।
१९०	७	इन्द्रियसन्निकर्ष सब आदि	इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सब
१९२	१५	जगत्प्रपञ्च से	जगत्प्रपञ्च में
१९९	१५	अभिभाषी	अभिलाषी
२०८	१७	अद्वैतसिद्धकार	अद्वैतसिद्धिकार
२११	४	ज्ञानकमसमुच्चय	ज्ञानकर्मसमुच्चय

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३०	२	सद्सत्	सदसत्
२३३	८	शांकरवेदान्तसमस्त	शांकरवेदान्तसम्मत
२३८	१२	परिघर्तित	परिवर्तित
२५०	३	१-वेदान्तत्त्तवविवेक,	१-वेदान्ततत्त्वविवेक,
२६१	२७	सकार रूप	संस्कार रूप
२६४	८	अनुभव से जन्म	अनुभव से जन्य

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड:इतिहास

क्रम	नाम	पृष्ठ
१—	व्यास	१
२	गौड़पादाचार्य	८
३—	गोविन्दपादाचार्य	११
४—	शकराचार्य	१३
५—	सुरेश्वराचार्य	१६
६—	पद्मपादाचार्य	२३
७—	वाचस्पति मिश्र	२६
८—	सर्वज्ञातम मुनि	२६
९ —	गंगापुरी भट्टारक	३२
१०—	प्रकाशात्मयति	३३
११—	श्रीहर्ष	३५
१२—	आनन्दबोध भट्टारक	४०
१३—	अद्वैतानन्द बोधेन्द्र	४२
१४—	चित्सुखाचार्य	४३
१५—	विमुक्तात्मा	४७
१६—	अमलानन्द	४९
१७ —	आनन्दगिरि	५१
१८—	आनन्दपूर्ण	५४
१९—	रामाद्वयाचार्य	५७
२०—	शंकरानन्द	५९
२१—	भारती तीर्थ	६०
२२—	विद्यारण्य	६२
२३—	अखण्डानन्द	६५
२४—	प्रकाशानन्द	६६

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्रम	नाम	पृष्ठ
२५—	शंकरमिश्र	६८
२६—	प्रत्यक्स्वरूप भगवान्	७०
२७—	नृसिंहाश्रम	७१
२८—	अप्पयदीक्षित	७४
२९—	मधुसूदन सरस्वती	७७
३०—	सदानन्द योगीन्द्र	८२
३१—	मल्लनाराध्य	८५
३२—	रंगराजाध्वरी	८५
३३—	नारायण आश्रम	८६
३४—	भट्टोजिदीक्षित	८६
३५—	सदाशिवेन्द्र	८७
३६—	नृसिंह सरस्वती	८७
३७—	धर्मराजाध्वरीन्द्र	८८
३८—	ब्रह्मानन्द सरस्वती	९१
३९—	गोविन्दानन्द	९३
४०—	रामतीर्थ	९४
४१—	रामानन्दसरस्वती	९५
४२—	रङ्गनाथ	९५
४३—	रामकृष्णदीक्षित	९६
४४—	सदानन्द यति(काश्मीरक)	९६
४५—	अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ	९७
४६—	महादेव सरस्वती	९८
४७—	सदाशिवेन्द्र सरस्वती	९८
४८—	आयन्नदीक्षित	९९
४९—	वेदव्यास (पूरक)	९९

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्वितीय खण्ड : निबन्ध

क्रम	विषय	पृष्ठ
१—	दर्शन के क्षेत्र में शांकर अद्वैत-वेदान्त	१०५
२—	वेदान्त शास्त्र के आरम्भ का प्रयोजन	१०७
३—	अध्यारोपापवाद	१०९
४—	त्रिविध सत्ता	१११
५—	अध्यासवाद	११३
६—	प्रमाणसंख्या	११८
७—	प्रमाणों का अविद्यावद्विषयत्व	१२५
८—	स्वतः प्रामाण्यवाद	१२८
९—	ख्यातिवाद	१३८
१०—	ब्रह्म	१४१
११—	माया	१४६
१२—	अनिर्वचनीय-अविद्या	१४९
१३—	अविद्या का आश्रय और विषय	१५२
१४—	माया और अविद्या का भेदाभेद-विचार	१५६
१५—	ईश्वर	१५९
१६—	जीव	१६३
१७—	एकजीववाद	१६६
१८—	अनेकजीववाद	१६८
१९—	अवच्छेदवाद	१७३
२०—	प्रतिबिम्बवाद	१७८
२१—	चेतना (ज्ञान)	१८०
२२—	अन्तःकरण	१८३
२३—	इन्द्रियाँ	१८५
२४—	जगत्	१८८
२५—	दृष्टिसृष्टिवाद	१९२

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्रम	विषय	पृष्ठ
२६—	सृष्टिदृष्टिवाद	१९६
२७ —	अजातवाद	१९८
२८—	जगत्-कारण	२००
२९—	परिणामवाद और विवर्तवाद	२०२
३०—	जगन्मिथ्यात्व	२०६
३१—	साधनचतुष्टय	२१०
३२—	अहंग्रह और प्रतीकोपासना	२१३
३३—	तत्त्वमसि में लक्षणा	२१५
३४—	ज्ञानकर्मसमुच्चय-निरास	२१९
३५—	शांकरवेदान्त में कर्मों की उपयोगिता	२२३
३६—	ज्ञान में संन्यास का उपयोग	२२५
३७—	मोक्ष का स्वरूप	२२७
३८—	जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति	२३१
३९—	मृत्यु के अनन्तर जीवों की त्रिविध गति	२३५
४०—	मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च	२३९
४१—	शांकरवेदान्त में आचार-पक्ष	२४२
	परिशिष्ट— १	
	(शांकरवेदान्त के प्रमुख ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ)	२४७
	परिशिष्ट— २	
	(पारिभाषिक शब्दावली)	२५४
	परिशिष्ट— ३	
	कतिपय ग्रन्थनामों की व्युत्पत्ति	२६६
	परिशिष्ट—४	
	द्वैतवाद और अद्वैतवाद के विकास का क्रम	२७१

—०○—

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रथम खण्ड : इतिहास

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यास ईसा पूर्व ६९८

महर्षि वेदव्यास संस्कृत-साहित्य के उन आधार-स्तम्भों में से एक हैं, जिनके बल पर लौकिक संस्कृत वाङ्मय के बृहद्भवन का प्रारम्भ हुआ तथा जिनका साहित्य प्रायः समस्त परवर्ती साहित्य का उपजीव्य बना। किं बहुना, समस्त वेदान्त-दर्शनों के पल्लवन का एकमात्र आधार तो महर्षि व्यासकृत ब्रह्मसूत्र ही है। इनकी माता का नाम सत्यवती था, जो चोदराज वसु उपरिचर के वीर्य से यमुना के किसी द्वीप में उत्पन्न हुई थी। मल्लाहों के राजा दासराज के द्वारा जन्मकाल से ही उनकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। पराशर ऋषि के अंश से और सत्यवती के गर्भ से इन का जन्म हुआ था, अतः ये पाराशर्य भी कहलाते थे। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण द्वैपायन कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण कृष्णमुनि। इन्होंने वेदों का विभाग किया, इस कारण इन का नाम वेदव्यास पड़ा। महाभारत के आरम्भ में इन्होंने व्यास को नमस्कार किया है, उसका तात्पर्य है— व्यास-गद्दी परम्परा को नमस्कार करना। व्यास चौबीस अवतारों में हैं, अतः यह उचित ही है।

प्राचीन पद्धति के पण्डित-समाज में यह प्रचलित तथा प्रसिद्ध धारणा है कि बादरायण व्यास का नामान्तर है। परन्तु आज-कल के पाश्चात्य तथा अनेक भारतीय अन्वेषक विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं। कुछ तो कहते हैं कि बादरायण को व्यास मान लेने पर भी उनके कृष्णद्वैपायन व्यास होने में कोई प्रमाण नहीं। प्रारम्भ में इसी प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। सर्व-प्रथम प्रमाण जो उपर्युक्त विचार के समर्थन में उपन्यस्त किया जाता है, वह है महर्षि पाणिनि के सूत्र "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" (४।३।११०) तथा "कर्मन्दकृशाश्वादिनिः" (४।३।१११)। प्रथम सूत्र में भिक्षुसूत्रकार पाराशर्य का स्पष्ट उल्लेख है, और पाराशर्य का अर्थ पराशर-पुत्र है जो वेदव्यास बादरायण थे। भिक्षुपद संन्यासियों के लिये उपनिषदों के आधार पर लिखा हुआ कोई ग्रन्थ होगा, जो पाणिनि को ज्ञात रहा

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होगा। आजकल प्रचलित जो ब्रह्मसूत्र है वह भी बादरायण व्यास के नाम से ही प्रसिद्ध है। अतः उपर्युक्त पाणिनिसूत्र अभिप्रेत भिक्षुसूत्र वेदव्यास अर्थात् बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र ही है।

डचुसन के मतानुसार ब्रह्मसूत्र को पहले किसी संग्रहकार ने एकत्र संग्रथित किया था। ब्रह्मसूत्र पर उपवर्ष ने "कृतकोटि" नाम की वृत्ति लिखी थी। बोधायन की वृत्ति का भी यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। इन दोनों का समय ईसापूर्व ५०० वर्ष माना जाता है। अतः व्यास का समय इनसे भी पूर्व होना चाहिये। इससे भी व्यास के समय ईसापूर्व ६९८ की पुष्टि होती है। कुछ विद्वान् ऐसा भी कहते हैं कि उपवर्ष ने अद्वैत मत के अनुसार वृत्ति लिखी थी और बोधायन ने विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार। सोमदत्त कथासरित्सागर के अनुसार वर्ष और उपवर्ष दोनों भाई थे और वर्ष के शिष्य व्याकरणकर्त्ता पाणिनि थे।

अधोलिखित सूत्रों के अनुसार कुछ विद्वानों का मत है कि व्यास और बादरायण भिन्न व्यक्ति थे। "वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति" (१।३।२९ वे०सू०) इसी सूत्र का भाष्य—बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते। "मनुव्यासप्रभृतिभिः" (२।१।१२ वे० सू०) "स्मरन्ति च व्यासादयो यथा" (२।३।४ वे० सू०शा०भा०)। उक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यास अथवा वेदव्यास तथा बादरायण वेदान्तसूत्र रचयिता से भिन्न हैं, क्योंकि इनके नाम पृथक् निर्दिष्ट हैं। यदि सूत्रकार से अभिन्न होते तो शंकराचार्य अपने भाष्य में उनका मत पृथक् उपन्यस्त न करते। साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि व्यास और बादरायण के पृथक्तया उद्घृत होने के कारण शंकर के अनुसार वेदव्यास (महाभारत के रचयिता) बादरायणसूत्रकार से भिन्न व्यक्ति हैं।

परन्तु यह मत समीचीन नहीं है। क्योंकि—"उत्तरं भगवान् बादरायणाचार्यः पठति" (ब्र० ४।४।२२) इस अवतरणिका-भाष्य तथा "ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय धीमते। ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवते हरेः"॥ इस वाचस्पति मिश्रकृत भामती के मङ्गलाचरण-श्लोक से ब्रह्मसूत्र के

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रचयिता वेदव्यास और बादरायण दोनों अभिन्न व्यक्ति सिद्ध होते हैं। सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेप-शारीरक के कई स्थानों पर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वेदव्यास बादरायण ब्रह्म-सूत्र के रचयिता हैं। पञ्चपादिकाकार पद्मपादाचार्य ने भी उक्त मत की पुष्टि अपनी पंचपादिका के मङ्गल में की है—

'नमः श्रुतिशिरः पद्मखण्डमार्त्तण्डमूर्त्तये। बादरायणसंज्ञाय मुनये शमवेश्मने'' ॥ उक्त उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि पाराशर्य अर्थात् वेदव्यास बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। यही तर्कसम्मत प्रतीत होता है।

वेदव्यास की रचनायें—

वेदव्यास ने चारों वेदों का विभाग किया और १८ पुराणों की रचना की। पुराण के लक्षण निम्न प्रकार से हैं—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्" ॥ अठारह पुराणों के नाम निम्नश्लोक में संगृहीत हैं —

"मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते ॥

अर्थात् १-मत्स्य, २-मार्कण्डेय, ३-भविष्य, ४-भागवत, ५-ब्रह्माण्ड, ६-ब्रह्मवैवर्त, ७-ब्राह्म, ८-वामन, ९-वराह, १०-विष्णु ११-वायु (शिव), १२-अग्नि, १३-नारद, १४-पद्म, १५-लिङ्ग, १६-गरुड, १७-कुर्म और १८-स्कन्द ये अठारह पुराण हैं।

पुराणों का निर्माण-काल—

आचार्य बलदेव उपाध्याय के मतानुसार ईसापूर्व ६०० वर्ष पहले पुराणों का अस्तित्व था। आचार्य रामचन्द्र मिश्र लिखते हैं कि— "तदिमानि तत्त्वानि पुराणानां वैदिककालेऽप्यस्तित्वं समर्थयन्ते। ईशवीय-शतकात् षट्शतकपूर्वतनकाले पुराणानामस्तित्वमासीदिति कल्पनाऽपि सत्यानुमोदिता। इदं तु सत्यं यत् पुराणस्यादिमं रूपं सम्प्रति नावाप्यते।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुराणं कदाचिदेकत्र समये नारच्यत, समये समये तत्राध्यायायोजिताः, गुप्तकालपर्यन्तं तेषां वर्तमानरूपमुपपन्नमासीत्"।

उपर्युक्त मतों के आधार पर यही निश्चित होता है कि वेदों की तरह पुराणों को भी एकत्रित (संगृहीत) किया गया था। क्योंकि वैदिक काल में भी पुराणों की सत्ता थी। ४४५ ई० के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—"शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्" इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा। शत साहस्री संहिता के नाम से महाभारत ही प्रसिद्ध है क्योंकि इस में एक लाख श्लोक हैं। कुछ इतिहासकारों का मत है कि ईसा पूर्व ५०० में महाभारत की रचना हुई थी।

महाभारत --

वेदव्यास जी ने इतिहासात्मक महाभारत की रचना की थी, महाभारत के आदि पर्व में ये स्वयं लिखते हैं--

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन वर्ष के भीतर रचना का कार्य ग्रन्थकार की अनुपम काव्य-प्रतिभा तथा अदम्य उत्साह का पर्याप्त सूचक है। वर्तमान काल में महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। महाभारत में १८ पर्व (खण्ड) हैं --

१-आदि, २-सभा, ३-वन, ४-विराट्, ५-उद्योग, ६-भीष्म, ७-द्रोण, ८-कर्ण, ९-शल्य, १०-सौप्तिक, ११-स्त्री, १२-शान्ति, १३-अनुशासन, १४-अश्वमेध, १५-आश्रमवासी, १६-मौसल, १७-महाप्रस्थानिक, १८-स्वर्गारोहण इस प्रकार अठारह पर्व हैं। महाभारत पर अभी तक दश टीकायें हो चुकी हैं।

दिनांक १४ दिसम्बर १९७५ के हिन्दुस्तान दैनिक समाचार पत्र में प्रकाशित हुआ था कि "महाभारत युद्ध ईसापूर्व ३१३७ में हुआ था"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह घोषणा पुरातत्त्व विभाग भारत जर्मन परिषद् ने की है। परन्तु यह इतिहास से मेल नहीं खाती कारण कि व्यास जी का काल ईसापूर्व ६६८ इतिहासकारों ने माना है। अतः उक्त नवीन खोज की संगति नहीं बनती। ज्योतिष शास्त्र के साथ तो उक्त नवीन खोज की संगति होती है क्योंकि ज्योतिष के अनुसार वर्तमान में (ई० १६७५ में) कलि सम्वत् ५०७६ है और कृष्ण जन्म सम्वत् ५२११ है।

ब्रह्मसूत्र--

जैसा कि पहले कहा जा चुका है व्यास की महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध कृति ब्रह्मसूत्र है।

ब्रह्मसूत्र का रचनाकाल--

अर्वाचीन विद्वानों में से जैकोबी के अनुसार ब्रह्मसूत्र की रचना २५० से ४५० शताब्दी के भीतर हुई। इस मत के समर्थन में यही युक्ति बतलाई जाती है कि वेदान्त दर्शन में अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का खण्डन है। कीथ वेदान्त दर्शन का रचनाकाल २०० शताब्दी मानते हैं। फ्रेजर ४०० ईसापूर्व मानते हैं और मैक्समूलर ३०० ईसापूर्व मानते हैं। अक्षयकुमार गुहा इसका समय ६०० ईसापूर्व मानते हैं। दास गुप्त के अनुसार ब्रह्मसूत्र का समय २०० ईसापूर्व है। बलदेव उपाध्याय दर्शनों का रचनाकाल ४०० विक्रम पूर्व से २०० विक्रम पूर्व मानते हैं।

उपर्युक्त मतों के संग्रह से इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रचलित ब्रह्मसूत्र की रचना कई शताब्दी ईसापूर्व में हुई होगी। जैकोबी का मत है कि वेदान्त सूत्र अन्य दर्शन सूत्रों तथा ईश्वर-कृष्ण कृत सांख्य कारिका आदि दर्शन ग्रन्थों के बाद में निर्मित हुआ, क्योंकि वेदान्त दर्शन में खण्डनार्थ उपस्थापित अन्य दार्शनिक सिद्धान्त से अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। परन्तु यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसूत्र में प्राचीन ऋषियों तथा आचार्यों के अतिरिक्त किसी अर्वाचीन सम्प्रदाय प्रवर्तक या दार्शनिक सिद्धान्त स्थापक का निर्देश नहीं है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार--

क्रम कर्तानाम	भाष्यनाम	मत
१ शंकर (७८८-८२०)	शारीरकभाष्य	निर्विशेषाद्वैत
२ भास्कर (१०००)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३ रामानुज (११४०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४ आनन्द तीर्थ (मध्व) (१२३८)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५ निम्बार्क (१२५०)	वेदान्तपारिजातभाष्य	द्वैताद्वैत
६ श्रीकण्ठ (१२७०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
७ श्रीपति (१४००)	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशिष्टाद्वैत
८ वल्लभ (१४७९)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९ विज्ञानभिक्षु (१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१० बलदेव (१७१५)	गोबिन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

उक्त भाष्यों में सिद्धान्तों का ही अन्तर नहीं है, अपितु सूत्रों और अधिकरणों की संख्या में भी बडा अन्तर है। शंकर के अनुसार सूत्रों की संख्या ५५५ है और अधिकरणों की संख्या १९१ है। रामानुजमत में सूत्र ५७५ और अधिकरण १६०। माध्वमत में सूत्र ५६४ और अधिकरण २२३ है। निम्बार्क मत में सूत्र ५४९, अधिकरण १६१ हैं। श्रीकण्ठ के अनुसार सूत्र ५४४ और अधिकरण १८१ हैं। वल्लभमत में सूत्र ५५४ और अधिकरण १७१ हैं।

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है, जिसमें समग्र वेदान्त वाक्यों का साक्षात् या परंपरया प्रत्यगभिन्न-अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य दिखलाया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट ब्रह्मलिंगयुक्त वाक्यों का विचार किया गया है। इस पाद के प्रथम चार सूत्र विषय दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली हैं। इन्हें "चतुःसूत्री" कहते हैं। द्वितीय पाद में अस्पष्ट ब्रह्मलिंगयुक्त उपास्य ब्रह्म विषयक वाक्यों का तथा तृतीय पाद में स्पष्ट ब्रह्मलिंग प्रायः ज्ञेय ब्रह्मविषयक वाक्यों का, चतुर्थ पाद में अज,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अव्यक्तादि उपनिषद् गत पदों के अर्थ का विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय का नाम अविरोधाध्याय है जिसमें स्मृति, तर्कादि के सम्भावित विरोध का परिहार कर ब्रह्म में अविरोध प्रदर्शित किया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में सांख्यादि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। द्वितीय (तर्क) पाद में सांख्य, वैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, पाशुपत और पाञ्चरात्र मतों का प्रबल युक्तियों से क्रमशः खण्डन कर वेदान्तमत की प्रतिष्ठा की गई है। दोनों पादों में बादरायण ने अपनी तर्क युक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता के बल पर प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों की जैसी मार्मिक समीक्षा की है वह विद्वानों के विस्मय तथा आदर का विषय है। तृतीय तथा चतुर्थ पादों में महाभूतसृष्टि, जीव तथा इन्द्रिय विषयक श्रुतियों के विरोध का परिहार किया है। तृतीय अध्याय का नाम साधनाध्याय है जो वेदान्त सम्मत साधनों का विधान करता है, परलोक गमन, तत्त्वंपदार्थपरिशोधन, सगुण विद्या निरूपण तथा निर्गुण ब्रह्मविद्या के बहिरंग साधन तथा अन्तरग साधन (श्रवण मनन निदिध्यासनादि) का निरूपण प्रत्येक पाद में क्रमशः किया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम फलाध्याय है जिसमें सगुण निर्गुण विद्याओं के फलों का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

———o———

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गौडपादाचार्य (अष्टम शतक)

आचार्य गौडपाद का समय ७८० ई० इतिहासकारों ने माना है। कुछ विद्वान् इनका समय ७५० ई० मानते हैं। श्री उदयवीर शास्त्री ने सांख्यदर्शन इतिहास में गौडपाद का समय षष्ठशतक का अन्त भाग है, ऐसा सिद्ध किया है।

गौडपाद का देश--

आचार्य गौडपाद गौड़देशीय ब्राह्मण थे। इन के पूर्वाश्रम के नामादि तथ्यतः ज्ञात नहीं है, इनके गुरु शुकब्रह्म थे। बालकृष्णानन्द सरस्वती लिखते हैं– "गौडचरणाः कुरुक्षेत्रगतहीरावतीनदीतीरभव गौडजातिश्रेष्ठाः देशविशेषभवजातिनाम्नैव प्रसिद्धाः" जिस प्रकार दक्षिण भारत में द्रविणाचार्य प्रसिद्ध थे, उसी प्रकार उत्तर भारत में गौडपादाचार्य प्रसिद्ध हुए।

आचार्य का संन्यास ग्रहण तथा बदरिकाश्रम में निवास--

गौडपाद संन्यास ग्रहण कर बदरिकाश्रम में वास करते थे। श्री गोविन्दभगवत्पादाचार्य श्री गौडपादाचार्य के शिष्य थे। श्री शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य (ब्र. सू. २।१।६) में "अनादिमायया" (सं० का० १।१६) श्लोक का परामर्श करके लिखा है—"अत्रोक्तवेदान्त सम्प्रदायविद्भिराचार्यैः" ये आचार्य गौडपाद ही हैं। मायावाद का विशेष प्रकाश इन्हीं से माना जाता है। माण्डूक्यकारिका गौडपाद की गौरवमयी रचना है। 'अजातवाद' मुख्य अद्वैत सिद्धान्त गौडपाद की ही देन है।

आचार्य गौडपाद की रचनाएं--

१-ईश्वर कृष्ण रचित सांख्यकारिका पर गौडपादीय भाष्य, २-शक्तिसूत्र, ३-सुभगोदय, ४-नृसिंहोत्तरतापनी उपनिषद् की व्याख्या,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

५-दुर्गासप्तशती की व्याख्या, ६-उत्तरगीताभाष्य, ७-माण्डूक्यकारिका आदि प्रसिद्ध इन्हीं की रचनाएं हैं।

गौडपादीयकारिका—(माण्डूक्यकारिका)—

गौडपादीयकारिकाओं में प्रणवोपासना का प्रकार लयचिन्तन की पद्धति से मन्दाधिकारियों के कल्याणार्थं वर्णित हुआ है। प्रथम जीव के तीन भेद–(विश्व, तैजस. प्राज्ञ) एवं ईश्वर के तीन भेद – (विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर) किए गये हैं। फिर प्रणव के अकार, उकार, एवं मकार अक्षरों के साथ अभेद मानकर उत्तरोत्तर लय बताया गया है। – विश्वाभिन्न विराट्स्वरूप अकार प्रथम पाद है। तैजसाभिन्न हिरण्यगर्भ-स्वरूप उकार द्वितीय पाद है। प्राज्ञाभिन्न ईश्वररूप मकार तृतीय पाद है। तुर्याभिन्न मायातीत ब्रह्म चतुर्थ पाद है। प्रथम पाद का द्वितीय पाद में, द्वितीय पाद का तृतीय पाद में, एवं तृतीय पाद का चतुर्थ पाद में लय किया है। अवशिष्ट तुर्याभिन्न ब्रह्म 'मैं हूँ' ऐसा लयचिन्तन प्रणवोपासना की संक्षिप्त प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि चतुर्विध जीव और चतुर्विध ईश्वर का संकलन करने पर आठ प्रकार का चेतन का भेद है। इसी का संक्षिप्त निरूपण वेदान्त सूक्ति मञ्जरी में किया गया है—

"विराट्सूत्राण्यादौ विभज्य प्रणवाक्षरैः।
विलाप्य गोडपादीये तुर्यात्माऽवशेषितः॥"

गौडपाद विरचित कारिकाओं के चार प्रकरण हैं–१-आगमप्र करण, २-वैतथ्यप्रकरण, ३-अद्वैतप्रकरण, ४-अलातशान्तिप्रकरण। आगमप्रकरण में मूलमाण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या विस्तार रूप से की गई है। जिस में परमात्मतत्त्व अ. उ. म. के द्वारा प्रतिपाद्य वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर से तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से पृथक् परन्तु इनमें अनुगत अधिष्ठान तथा साक्षी रूप से तथा ओंकार के चतुर्थपाद अमात्र तुरीय नाम से वर्णित किया गया है। वैतथ्य (मिथ्यात्व) प्रकरण में प्रपंच का मायामयत्व युक्तियों के सहारे बड़ी कुशलता से सिद्ध किया गया है। तत्समानता के कारण जाग्रत् जगत् भी स्वप्न के अनुरूप ही

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मिथ्या है। आत्मा ही एक नित्य पदार्थ है, परन्तु उसी में अनेक प्रकार के भावों की कल्पना होकर इस प्रपंच का उदय होता है, इस विकल्प की मूल माया है। यह समस्त माया-कल्पित जगत् स्वप्न तथा गन्धर्वनगर के समान असत्य है। तथा परमार्थका लक्षण किया है :—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

उस एक अखण्ड आत्मतत्त्व को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता नहीं है। अद्वैत प्रकरण में अद्वैत की सिद्धि अनेक दृढ़ युक्तियों के आधार पर आचार्य ने की है। आत्मा में सुख दुःख की भावना करना नितान्त असंगत है। बालक धूलि तथा धूम के संसर्ग से आकाश को मलिन बतलाते हैं, परन्तु आकाश वास्तव में कभी मलिन नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा को भी सुख दुःखादि भावों के संसर्ग से सुखी दुःखी मानना दुर्बुद्धि का विलास है। आत्मा स्वतः असंग है। द्वैतकल्पना का आधार माया है। आत्मा की उत्पत्ति जाति नहीं होती। आत्मा की उत्पत्ति मानने से उसमें मर्त्यत्व धर्म का दोष आवेगा। यही गौडपाद का 'अजातवाद' का सिद्धान्त है।

चतुर्थ प्रकरण का नाम अलात शान्ति है, अलात मशाल को कहते हैं, मशाल के घुमाये जाने पर वह गोलाकार प्रतीत होता है। गोलाकृति की उत्पत्ति भ्रमणजन्य व्यापार से होती है, उसी प्रकार जगत् का यह रूप माया कल्पित है। मन के व्यापार होने से ही उनकी सत्ता है, तथा मन के निरोध होते ही उनका अभाव सिद्ध हो जाता है। अतः मन के अमनीभाव होते ही प्रपंच का विलय हो जाता है। प्रपंच की उत्पत्ति तथा विलय प्रतीति तथा अप्रतीति दोनों भ्रान्ति-जन्य हैं, वस्तुतः एक ही परमात्मतत्त्व की पारमार्थिक सत्ता है।

इस प्रकार की भाषा, पारिभाषिक शब्द (विज्ञप्ति आदि) तथा सिद्धान्त के अनुशीलन से अनेक आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि गौडपाद ने बुद्ध धर्म के तत्त्वों का ही प्रतिपादन वेदान्त रूप में किया है, परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है। बहुत सम्भव है कि ये पारिभाषिक

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शब्द अध्यात्म शास्त्र के सर्वजनमान्य साधारण थे, जिनका प्रयोग करना बौद्धदार्शनिकों के समान गौडपाद केलिए भी मान्य था। शब्दादि-साम्य के आधार पर महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की उद्भावना करना उचित नहीं है। बौद्धदर्शन के ग्रन्थों से गौडपाद के परिचित होने का हम निषेध नहीं करते, परन्तु वेदान्त के व्याज से बौद्ध धर्म के तत्त्वों का प्रचार करने का दोष आचार्य के ऊपर लगाना सर्वथा अनुचित है।

गोविन्दपादाचार्य (अष्टम शतक)

आचार्य गोविन्दपाद का समय ७८० ई० माना जाता है। गौडपादाचार्य के शिष्य एवं शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद नर्मदातट पर निवास करते थे, ये एक महान् योगी थे। कहते हैं कि इस महायोगी का स्थूल शरीर एक हजार वर्ष तक इस संसार में रहते हुए भी दिव्य था। परन्तु एक हजार वर्ष तक शरीर का रहना कहां तक सत्य है कुछ कहना कठिन है, योग का प्रभाव भी समय-समय पर शास्त्रों में अलौकिक सुना जाता है। परन्तु आज के युग में प्रत्यक्ष एवं विज्ञानवादी संभवत: स्वीकार करने को तैयार न होंगे।

शंकर दिग्विजय के अनुसार राजवाड़ेकथा के अनुसार जिनसेन, गुणभद्र तथा शकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद समसामयिक थे। राजवाड़े कथा के अनुसार जिनसेन गोविन्दपाद के परम गुरु थे, जैसा कि उक्त कथा ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है। गुणभद्र जिनसेन के शिष्य थे और गोविन्दपाद गुणभद्र के शिष्य थे। भट्टारक गोविन्द पुत्र हस्तिमल्ल

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ने भी स्वरचित विक्रान्त कौरव नामक नाटक के अन्त में कवि - प्रशस्ति में लिखा है कि गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्द गुणभद्र की शिष्य परम्परा में अन्यतम था। यह मत असंदिग्ध है कि जिनसेन ने ७०५ शकाब्द में अर्थात् ७८३ ई० में हरिवंश की रचना की थी। इस ग्रन्थ में यह उल्लेख मिलता हैं कि जिनसेन, गुणभद्र एवं गोविन्द ये तीनों आचार्य धाराधिप भोज के सभा पडित थे। परन्तु उक्त ग्रन्थ का यह कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि धाराधिप राजा भोज का काल ११वीं शताब्दी है। ११वीं शताब्दी में होने वाले राजा भोज की चर्चा ७८३ ई० के ग्रन्थ में सर्वथा अप्रामाणिक ही कही जायेगी। अत: हरिवंश का मत तर्कप्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी विद्वान् का यह मत भी है कि हरिवंश में उल्लिखित भोज धारापति, भोज न होकर कोई कान्यकुब्ज के गुप्तवंशीय राजा है।

प्रभावकचरित के अनुसार वाप्पभट्टि एवं गोविन्द समकालीन थे। ८३९ ई० में वाप्पभट्टि के मरण के पश्चात् गोविन्द को राजा भोज ने अपनी सभा में बुलाया था। वाप्पभट्टि का जन्मकाल ७४४ ई० है।

गोविन्दपाद की रचनाएं—

'अद्वैतानुभूति' वेदान्त का ग्रन्थ उपलब्ध है। और दूसरा 'रसहृदय' नामक ग्रन्थ गोविन्दपाद रचित मिलता है, परन्तु रसहृदय ग्रंथ का विषय रसायन शास्त्र है। माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह के रसेश्वर दर्शन-प्रकरण में उक्त ग्रन्थ का प्रामाण्य भी स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार गोविन्दभगवत्पाद का ऐतिहासिकविवरण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि गोविन्दभगवत्पाद आचार्य शंकर के गुरु थे। अत: शंकर के समकालिक भी मानना होगा।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्री शंकराचार्य (अष्टम शतक)

भगवान् शंकराचार्य के जन्मसमय के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के मतानुसार आचार्य का आविर्भाव ईशापूर्व चतुर्थशतक माना गया है। परन्तु अधिकतर इतिहासकारों ने इनका समय ७८८-८२० ई० माना है। आचार्य केरल प्रदेश के पूर्णानदी के तटवर्ती [1]कालटी नामक ग्राम में प्रौढ विद्वान् और धर्मनिष्ठब्राह्मण श्री शिवगुरु की धर्मपत्नी श्रीमती सुभद्रा माता के गर्भ से वैशाखशुक्ल [2]पंचमी तिथि के दिन प्रादुर्भूत हुए।

इनके जन्म के पूर्व वृद्धावस्था निकट आजाने पर भी इनके माता पिता सन्तानहीन ही थे। अतः उन्होंने बड़ी श्रद्धाभक्ति से भगवान् शंकर की आराधना की। उनकी सच्ची और आन्तरिक आराधना से प्रसन्न होकर आशुतोष देवाधिदेव भगवान् शंकर प्रकट हुए, और उन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्ररत्न होने का वर दिया। इसी के फलस्वरूप इन के सर्वगुणसम्पन्न पुत्र ही नहीं बल्कि भगवान् शंकर को ही इन्होंने पुत्र रूप में प्राप्त किया। बालक का नाम भी शंकर ही रखा गया, बालक शंकर के रूप में कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इस का प्रमाण बचपन से ही मिलने लगा। एक वर्ष की अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषा में अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्ष की अवस्था में माता से पुराणादि की कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्ष की अवस्था में उन का चूड़ाकर्म करके उनके पिता स्वर्गवासी हो गये।

शंकर का गुरुकुलगमन और विद्याध्ययन—

पांचवें वर्ष में यज्ञोपवीत करके बालक को गुरु के घर पढ़ने के

१- कालटी को ही कालन्दी, कालडी आदि नामों से कहते हैं।

२- किसी के मतानुसार दशमी तिथि भी है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लिए भेज दिया गया, और केवल सात वर्ष की अवस्था में ही वेदवेदान्त और वेदाङ्गों का पूर्ण अध्ययन करके वे घर वापस आगये। उन में असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन आश्चर्य चकित रह गये। विद्याध्ययन समाप्त कर शंकर ने संन्यास लेना चाहा, परन्तु जब उन्होंने माता से आज्ञा मांगी तब माता ने मना कर दिया। शंकर माता के बड़े भक्त थे, माता को कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माता के साथ वे नदी में स्नान करने गये, शंकर को एक मगर ने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्र को संकट में देख कर माता के होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार करने लगी। शंकर ने मातासे कहा—यदि मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा, माता ने तुरन्त आज्ञा देदी और मगर ने शंकर को छोड़ दिया।

शंकर का गृह त्याग और संन्यास ग्रहण--

आचार्य शंकर ने माता की आज्ञा पाकर वे आठ वर्ष की अवस्था में घर से निकल पड़े, जाते समय माता की इच्छानुसार यह वचन देते गए कि तुम्हारी मृत्यु के समय मैं घर पर उपस्थित रहूँगा। शंकर घर से चल कर नर्मदा तट पर आये और वहां स्वामी गोविन्दभगवत्पाद से दीक्षा ली। गुरु ने इनका नाम 'भगवत्पूज्यपादाचार्य' रखा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्ग से साधन आरम्भ कर दी, और अल्पकाल में ही बहुत उच्चकोटि के योगसिद्ध महापुरुष बन गये।

आचार्य का काशी प्रस्थान--

शंकर की प्रतिभा और साधना देखकर, प्रसन्न होकर गुरु ने इन्हें काशी जाकर वेदान्त सूत्र का भाष्य लिखने की आज्ञा दी और तदनुसार शंकर काशी चले गये। काशी आने पर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इनके सर्व प्रथम शिष्य सनन्दन हुए, जो पीछे पद्मपादाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। काशी में शिष्यों को पढ़ाने के साथ-साथ ये ग्रन्थ भी लिखते थे। कहते हैं एक दिन भगवान [illegible] में इन्हें दर्शन दिये

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और इन के पहचानकर प्रणाम करने पर, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने और धर्म के प्रचार करने का आदेश दिया। इनके जीवन के विषय में स्वयंप्रकाशमुनि ने लिखा है–

'अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान्भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

अर्थात् आठ वर्ष की अवस्था में चारों वेदवेदाङ्गों का अध्ययन कर लिया और बारह वर्ष की अवस्था में सभी शास्त्रों के वेत्ता हो गए। सोलह वर्ष की अवस्था में प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद्) का भाष्य आदि लिखे। और ३२ वर्ष की अवस्था पूरी होते ही उत्तराखण्ड केदारनाथ में पंचभौतिक कलेवर को त्याग कर ब्रह्मलीन हो गये"।

आचार्य काशी से चलकर कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदि की विभिन्न मतावलम्बियों को परास्त किया और बहुत से ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्ट से उनके अन्तिम समय में भेंट की और उनकी सलाह से महिष्मति में मण्डनमिश्र के साथ शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ में मण्डन की पत्नी भारती मध्यस्था थीं। अन्त में मण्डन ने शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया, और मण्डन का नाम सुरेश्वराचार्य रखा गया।

शंकराचार्य की प्रधान रचनाएं–

१-ब्रह्मसूत्रभाष्य, २-उपनिषद्भाष्य, ३-गीताभाष्य, ४-विष्णुसहस्रनामभाष्य, ५-सनत्सुजातीयभाष्य, ६-विवेकचूड़ामणि, ७-ललितात्रिशतीभाष्य, ८-हस्तामलकभाष्य, ९-प्रबोधसुधाकर, १०-उपदेशसहस्री, ११-सौन्दर्यलहरी, १२-पंचीकरण, १३-प्रपंचसार, १४-आत्मबोध, १५-अपरोक्षानुभूति, १६-वाक्यवृत्ति, १७-दशश्लोकी, १८-सर्ववेदान्तसार संग्रह, १९-मनीषापंचक, २०-आनन्दलहरी, तथा विविध स्तोत्र संभवतः इन्होंने २७२ ग्रन्थों की रचना की है। ये रचनाएं इन्होंने काशी-बदरिकाश्रम आदि स्थानों में की है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मसूत्र भाष्य–

शंकराचार्य की महत्वपूर्ण रचना ब्रह्मसूत्र भाष्य है। शंकर ने ब्रह्म सूत्रभाष्य की रचना कर अद्वैत वेदान्त की स्थापना की है। ब्रह्मसूत्र के स्पष्टीकरण के लिए एक सरल शैलीयुक्त स्पष्ट भाष्य की आवश्यकता थी। यही कार्य शंकर ने किया है। 'भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं' इस उक्ति को आचार्य ने चरितार्थ किया।

"सूत्रार्थोवर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"

उक्त भाष्य के लक्षण के अनुसार ही शंकर का भाष्य हुआ है। शंकर के भाष्य का अनुमोदन प्रौढदार्शनिकविद्वान् वाचस्पतिमिश्र ने भी अपने मंगल श्लोक से किया है–

नत्वा विशुद्ध विज्ञानं शंकरं करुणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते॥

इनका भाष्य प्रसादगुण से ओतप्रोत है, जो कि भाष्य का प्रधान अंग है। ये भाष्य सूत्र की रचना कर के पुनः उसकी व्याख्या करते हैं. जैसे "पश्वादिभिश्चाविशेषात्" इत्यादि।

गीताभाष्य–

शंकराचार्य ने गीताभाष्य का आरम्भ दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक से किया है। गीताभाष्य में शंकर ने गीता की ज्ञान परक व्याख्या की है। आचार्य ने गीता के अनुसार केवल तत्त्वज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति सिद्ध की है। यहां ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मोक्ष प्राप्ति का शंकराचार्य ने निषेध किया है–"गीतासु केवलादेव तत्त्वज्ञानान् मोक्ष-प्राप्तिः न कर्मसमुच्चितात् इति निश्चितोऽर्थः" (उपोद्घातगीताभाष्य)।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपनिषद् भाष्य–

शंकराचार्य ने १२ उपनिषदों पर भाष्य किया है और यह भी सिद्ध किया है कि सारे उपनिषदों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में ही है । केन उपनिषद् के 'पद्भाष्य' तथा 'वाक्यभाष्य' दो भाष्य उपलब्ध होते हैं । दोनों की प्रणाली तथा शैली एकदम भिन्न है । इसके अतिरिक्त दोनों के विषय प्रतिपादन में भी भेद है । यहाँ पर विस्तार की आवश्यकता नहीं है, तात्पर्य है कि पद भाष्य तथा वाक्य भाष्य में नितान्त भेद है । भाव यह है कि पदभाष्य ही शंकर रचित है । और वाक्य-भाष्य शृंगेरी मठ के आचार्य विद्याशंकर की रचना है ।

आचार्य द्वारा मठस्थापना–

आचार्य ने वैदिक धर्म प्रचार के लिए चारों दिशाओं में शृंगेरी, शारदा, गोवर्धन, तथा ज्योतिर्मठों की स्थापना की । पूर्व में गोवर्धनमठ, पश्चिम में शारदामठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ और उत्तर दिशा में ज्योतिर्मठ की स्थापना कर उन चारों मठों की व्यवस्था के लिए अपने चार शिष्यों को क्रमशः पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य, हस्तामलकाचार्य, तोटकाचार्य को नियुक्त किया ।

शंकराचार्य की मौलिकता—

शंकर के अद्वैत सिद्धान्त में मौलिकता की खोज आलोचकों ने की है । आचार्य शंकर से पूर्व अनेक अद्वैतवाद का प्रचार भारत में था । माध्यमिकों का शून्याद्वैत, योगाचारों का विज्ञानाद्वैत, शाक्तों का शक्त्यद्वैत, भर्तृहरि तथा मण्डनमिश्र का शब्दाद्वैत, शंकर से प्राचीन हैं । शंकर स्फोटवाद तथा बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन किया है । अतः शंकर अपने मत के लिए किसी के ऋणी नहीं हैं । परन्तु कतिपय आधुनिक आलोचक भाव तथा शब्द-साम्य के आधार पर ब्रह्मवाद को शून्यवाद का औपनिषद संस्करण मानते हैं । प्राचीन आलोचकों ने भी "मायावादमच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत्" कह कर शंकर को प्रच्छन्न

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

 CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्ध कहा है। परन्तु बौद्धदर्शन तथा शांकरदर्शन के तारतम्य - परीक्षण से निश्चित हो जाता है कि दोनों का पार्थक्य दृढ़ आधारों पर है।

शान्तरक्षित ने तत्त्व संग्रह में अद्वैतदर्शनावलम्बी औपनिषद् मत का खण्डन किया है। यदि अद्वैतमत में बौद्धमत की किञ्चिद् भी झलक होती तो शान्त रक्षित तथा कमलशील जैसे बौद्धदार्शनिक इसका उल्लेख किये बिना कैसे रहते। बौद्धों का विज्ञान अनित्य तथा नाना है, शांकरमत में विज्ञान नित्य तथा एक है। विज्ञानवाद में जगत् स्वप्नावभास है, शांकर मत में ऐसा नहीं। शांकरमत में ब्रह्म सद्रूप है। ये अनेक मौलिक धारणायें भिन्न-भिन्न हैं। अतः शंकर को अद्वैत-कल्पना के लिए बौद्धों का ऋणी कहना सर्वथा असंगत है।

शंकर का मायावाद—

दर्शन के क्षेत्र में आचार्य शंकर के महत्वपूर्ण मायावाद का सिद्धान्त है। मायावाद के स्थापना के द्वारा आचार्य ने अद्वैतदर्शन को शून्यवादी होने से बचाया, माया के सम्बन्ध में अनिर्वचनीय ख्यातिवाद की प्रतिष्ठा करके माया को शशशृंगवत् न मानकर उसे व्यवहारिक रूप दिया। इस प्रकार माया के व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर व्यावहारिक सत्ता की स्थापना करके शंकराचार्य ने लोक की कर्म-धर्म-मर्यादा की रक्षा के लिए मायावाद की स्थापना की थी।

माया के उक्त स्वरूप की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय दर्शन में कर्मवाद और आचारवाद के आदर्शसिद्धान्त की स्थापना हुई।

o———o

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

५. श्री सुरेश्वराचार्य (अष्टम शतक)

शांकरवेदान्त में आचार्य सुरेश्वर का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इनका स्थितिकाल ८०० ई० था। इनके अन्य नाम विश्वरूप तथा देवेश्वर थे। माधवकृत शंकरदिग्विजय के आधार पर मण्डनमिश्र और सुरेश्वराचार्य दोनों अभिन्न व्यक्ति हैं। गृहस्थाश्रम में मण्डनमिश्र कुमारिलभट्ट के शिष्य थे। कुछ विद्वान् मण्डनमिश्र और सुरेष्वराचार्य की अभिन्नता में सन्देह प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्मसिद्धि के रचयिता श्री म०डनमिश्र और श्रीमण्डन विश्वस्वरूप मिश्र, जो संन्यास आश्रम लेकर सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए थे, जिन्हें वार्तिककार भी कहा जाता है, वे दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे। प्रथमोक्त मण्डनमिश्र एक विद्वान् गृहस्थ थे और आजीवन गृहस्थ ही रहे। दूसरे मण्डन विश्वरूप ने संन्यास आश्रम के बाद नैष्कर्म्यसिद्धि की रचना की और श्री विश्वरूप गौड ब्राह्मण थे।

मण्डन मिश्र स्फोटवाद मानते हैं और भर्तृहरि का शब्दाद्वैतवाद, जैसा कि उनकी स्फोट सिद्धि और ब्रह्मसिद्धि से स्फुटित है। किन्तु शंकराचार्य ने भर्तृहरि के शब्दाद्वैत की आलोचना की है। सुरेश्वराचार्य ने स्फोटवाद का स्पर्श तक नहीं किया। मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि पृष्ठ १३६-१५० पर भट्टपाद की अन्यथा-ख्याति को मान दिया है, बहुत सम्भव है कि ब्रह्मसिद्धि की 'व्याख्या 'तत्त्वसमीक्षा' में वाचस्पति मिश्र ने अन्यथा ख्याति का प्रबल शब्दों में समर्थन किया है, तभी वे अन्यथा ख्यातिवादी माने जाते हैं। इसी लिए तो विमुक्तात्मा ने अपनी इष्टसिद्धि में वाचस्पति मिश्र को कितने भद्र शब्दों में स्मरण किया है —"वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी शास्त्रार्थानभिज्ञः" अमलानन्द स्वामी ने कल्पतरु (पृष्ठ २४) में वाचस्पति को अन्यथा ख्यातिवादी बताने वालों को भ्रान्त-सा कहा है —

"स्वरूपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पतेर्मतम्।
अन्यथाख्यातिरिष्टस्येत्यन्यथा जगृहुर्जनाः॥"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्री सुरेश्वराचार्य ने मण्डनमिश्र से विपरीत अन्यथा ख्याति का वार्तिक में खण्डन किया है। मृण्डन मिश्र ने 'अग्रहण' और 'अन्यथा-ग्रहण' रूप से दो प्रकार की अविद्या मानी है। किन्तु सुरेश्वराचार्य ने अविद्या के उक्त दोनों प्रकारों का निराकरण किया है। मण्डनमिश्र अविद्या का आश्रय जीव तथा विषय ब्रह्म मानते हैं। वाचस्पति ने यही दृष्टिकोण अपनाया था, जो वाचस्पति के नाम से ही प्रख्यात है। किन्तु सुरेश्वराचार्य ने अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म को ही माना है। संक्षेपशारीरककार और विवरणकार ने भी इसी मत को अपनाया है।

तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से मण्डनमिश्र परोक्ष बोध ही मानते हैं और समाधि में मानस साक्षात्कार। वाचस्पति का यह मत प्रसिद्ध ही है, इसी के पोषण में 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' यह वाक्य ब्रह्मसिद्धि में रखा गया है। किन्तु सुरेश्वराचार्य ने अपनी 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में और वृहदारण्यक-वार्तिक में उक्त मत का निराकरण किया है। इनकी परम्परा ने महा-वाक्य से अपरोक्षबोध ही माना है। कल्पतरु में स्पष्ट कहा है—अपि संरा-धने सूत्राच्छास्त्रार्थव्यानजा प्रमा। शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परम्। इतना ही नहीं, वृहदारण्यक वार्तिक में मण्डन के मत का उल्लेख किया गया है। आनन्दगिरि ने वहीं वार्तिक व्याख्या में कहा है—'मण्डनादीनां व्याख्यामुत्थाप्यति" इस स्थल पर वर्तिककार श्रीसुरेश्वरा-चार्य ने 'पण्डितम्मन्याः' की उपाधि मण्डन को दी है। कोई अपने पूर्वाश्रम के नाम को इस प्रकार कैसे कह सकता है।

आचार्य सुरेश्वर की रचनाएं—

१-ब्रह्मसिद्धि, २-स्फोटसिद्धि, ३-विधिविवेक, ४-भावनाविवेक, ५-विभ्रमविवेक, ६-मीमांसासूत्रानुक्रमणी, ७-वृहदारण्यकभाष्यवार्तिक ८-तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, ९-तन्त्रवार्तिकव्याख्या, १०-नैष्कर्म्य-सिद्धि, ११-दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक, १२-मानसोल्लास, १३-पंचीकरण-वार्तिक, १४-आपस्तम्बीयमण्डनकारिका, १५-काशीमोक्षनिर्णय, १६-स्व-राज्यसिद्धि १७-ब्रह्मसूत्रभाष्यवार्तिक, १८-लघुवार्तिक, १९-वार्तिकसार, २०-वार्तिकसारसंग्रह।

Prof. Amodvardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सुरेश्वर की मौलिकता—

सुरेश्वराचार्य के वृहदारण्यकभाष्यवार्तिक ने जो विशालकाय, गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण वार्तिक-प्रस्थान की रचना है, इनको विद्वत्-समाज में मुकुट से सुशोभित किया है। अतः ये वार्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हुए। सुरेश्वराचार्य अपने गुरु शंकराचार्य के समर्थक थे। परन्तु कहीं-कहीं इन्होंने अपनी प्रतिभा शक्ति के द्वारा नवीन उद्भावनाएं की थीं। शंकराचार्य ने जिस सिद्धान्त की स्थापना की थी, उसकी व्याख्या सुरेश्वराचार्य ने सम्पन्न की।

आचार्य सुरेश्वर का आभासवाद—

सुरेश्वराचार्य की प्रमुख दार्शनिक देन आभासवाद का सिद्धान्त है। सुरेश्वराचार्य जगत् को न प्रतिबिम्ब स्वीकार करने के पक्ष में हैं और न अवच्छेद स्वीकार करने के पक्ष में हैं। प्रतिबिम्ब एवं अवच्छेद के विपरीत वे जगत् को आभास मात्र मानते हैं। सुरेश्वराचार्य के मतानुसार व्यावहारिक सत्यों से पूर्ण जगत् सत्ता उसी प्रकार आभासमात्र होने के कारण मिथ्या है। दोनों में इतना ही अन्तर है कि व्यावहारिक जगत् के सत्य, जगत् में अविद्या के कारण सत्य दिखाई पड़ते हैं और मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषयों का मिथ्यात्व व्यावहारिक जगत् में ही होता है। परन्तु व्यावहारिक की सत्यता भी तभी तक कही जा सकती है जब तक कि सिद्ध अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार मूर्छित अवस्था में किसी व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं की सत्यता प्रतीत है जो उस व्यक्ति के सम्मुख नहीं उपस्थित होती और मूर्च्छा हटने पर उस व्यक्ति के मूर्छाकाल की वस्तुएं मिथ्या प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार अज्ञान के कारण जिस व्यक्ति को जगत् के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं उसी को परमार्थ बोध होने पर अविद्यानिवृति के कारण—अविद्याकालिक जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या प्रतीत होते हैं।

Prof. Ameeyavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार आचार्य सुरेश्वर के मतानुसार जगत् की सत्यता आभास मात्र है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार परमार्थ सत्य ब्रह्म के अनेक जागतिक रूपों में आभासनकारण अविद्या है।

आचार्य सुरेश्वर का आभासवाद का सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छेदवाद से अनेक रूपों में भिन्न है। जहां तक प्रतिबिम्बवाद का प्रश्न है, बिम्ब (मूल तत्त्व) एवं प्रतिबिम्ब में अभिन्नत्व है, परन्तु इसके विपरीत आभासवाद सिद्धान्त के अनुसार मूलतत्त्व (ब्रह्म) एवं आभास-मात्र द्वैतरूप जगत् में अभिन्नत्व नहीं है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अविद्या में परमार्थ सत्यरूप ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण सत्य है, परन्तु सुरेश्वराचार्य के आभास-वाद के अनुरूप अविद्या के कारण मूल सत्य ब्रह्म में जिस व्यावहारिक जगत् की प्रतीति होती है वह आभास मात्र होने के कारण सत्य नहीं है प्रतिबिम्बवाद की दृष्टि से प्रतिबिम्ब सर्वदा सत्य होता है। अज्ञान के कारण प्रतिबिम्ब असत्य दिखाई पड़ता है। प्रतिबिम्बवादी की दृष्टि में यह अज्ञान बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की भेद दृष्टि है। बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के भेद दर्शन के कारण ही द्रष्टा को प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है, अभेद दर्शन के द्वारा नहीं। इसके विपरीत व्यावहारिक जगत् की जो सत्यता आभासित होती है वह किसी काल में भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं होती।

आचार्य सुरेश्वर के आभासवाद एवं अवच्छेदवाद में भी भेद द्रष्टव्य है। अवच्छेदवादी की दृष्टि में सर्वव्यापी एवं असीम ब्रह्म ही जीव की अविद्या को अनन्त उपाधियों के कारण अवच्छिन्न एवं असीमरूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवच्छेदवाद के अनुसार अवच्छेद (ब्रह्म का अवच्छिन्न रूप में दर्शन) तो मानसिक धारणामात्र होने के कारण मिथ्या है परन्तु जो अवच्छिन्न (ब्रह्म) दिखाई पड़ता है वह तो सर्वथा-अवच्छिन्न एवं सत्य ही है। इसके विपरीत आभासवाद के अनुसार जगत् की सत्यता का आभास किसी प्रकार भी सत्य नहीं है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सुरेश्वराचार्य ने उपर्युक्त आभासवाद सिद्धान्त के आधार पर ही अपने संन्यास-गुरु शंकराचार्य के अद्वैतवाद का समर्थन किया था। आभासवाद के आधार पर सुरेश्वराचार्य ने व्यावहारिक जगत् को आभासमात्र कह कर जगत् की व्यावहारिक सत्यता का निराकरण कर के अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। परन्तु सुरेश्वराचार्य के अनुयायियों ने उनके आभासवाद में व्यावहारिक सत्यता का मिश्रण करके सुरेश्वराचार्य को प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ताओं का समर्थक सिद्ध किया।

o———o

६. पद्मपादाचार्य (अष्टमशतक)

कुछ इतिहासकारों के मतानुसार पद्मपादाचार्य का जीवनकाल ८५५ ई० तथा ८२० ई० माना जाता। परन्तु इनके विषय में विचारणीय यह है कि स्वामी शंकराचार्य का जीवनकाल ७८८ से ८२० ई० था अर्थात् वे नवमशतक में केवल २० वर्ष वर्तमान थे और स्वामी शंकराचार्य के जीवनकाल में ही श्री पद्मपादाचार्य ने 'पंचपादिका' का निर्माण किया और इन्होंने आचार्य की कापालिक का वध कर के रक्षा की, एवं तीर्थ भ्रमणादि किया, अतः उस समय श्री पद्मपादाचार्य की आयु सम्भवतः २० से ३० वर्ष की अवश्य रही होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि श्री पद्मपाद का जन्म अष्टम शतक के अन्त में ही हुआ होगा।

ये श्री शंकराचार्य के प्रथम शिष्य थे, इनका दूसरा नाम सनन्दन था। इनका जन्म दक्षिण भारत के चोल (मैसूर) वर्तमान कर्नाटक प्रदेश में हुआ था। इनकी गुरुभक्ति असाधारण थी। प्रज्ञावल के साथ-साथ शारीरिक बल भी पर्याप्त था। समाधिस्थ शंकराचार्य पर उग्र-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भैरव नाम का कापालिक खड्ग-प्रहार करना ही चाहता था कि तुरन्त पद्मपाद पहुंचे और कापालिक को वध कर यमलोक का पथिक बना दिया।

शृंगेरीमठ में रहते समय पद्मपादाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य पर एक सुन्दर व्याख्या का निर्माण किया था। आचार्य की आज्ञा लेकर तीर्थ भ्रमण करने के लिए निकले। यह ग्रन्थ साथ लेते गये। पद्मपाद के मातुल प्रभाकर मतावलम्बी थे, मातुल के घर अपना ग्रन्थ रखकर आप रामेश्वर की यात्रा को चले गये। मातुल ने गृहदाह का बहाना बनाकर आपके सभी ग्रंथ नष्ट कर डाले। यात्रा से लौट कर आपने यह काण्ड सुना और बहुत दुःखी हुए और वैसा ही दूसरा ग्रंथ-निर्माण करने का निश्चय किया। यह विदित होते ही नीच मामा (मातुल) ने विष प्रयोग से पद्मपाद को पागलसा बना दिया। अत्यन्त दुःखी होकर पद्मपाद आचार्य के चरणों में पहुँचे। पद्मपाद ने अपना सारा वृतान्त आचार्य जी को कह सुनाया। आचार्य जी ने कहा कि हमने कुछ भाग सुना था, वह हमें स्मरण हैं। हम बोलते जाते हैं और तुम लिखते जाओ। पद्मपाद ने वैसा ही किया। यही ग्रन्थ आज 'पंचपादिका' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त प्रपंचसार की टीका विज्ञान-दीपिका आत्मानात्म विवेक भी इन्हीं की रचनाएं हैं।

पंचपादिका–

कुछ विद्वानों की धारणा है कि श्री शंकराचार्य ने पांच पाद की व्याख्या पद्मपादाचार्य के मुख से सुनी थी, वह उनको कण्ठस्थ थी, अतः उन्होंने उतना भाग फिरसे पद्मपादाचार्य को लिखवा दिया। शेष भाष्य की व्याख्या फिर से नहीं लिखी गई। अतएव इस ग्रन्थ का नाम पंच-पादिका है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में वे शंकर दिग्विजय के इस वाक्य को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं – "तथापि पंचपादाः प्रसिद्ध्येयुः" अर्थात् भले ही चाहे सम्पूर्ण ग्रन्थ की व्याख्या मिले, परन्तु पांचपाद ही संसार में प्रसिद्ध होगा। आचार्य ने भविष्य की ग्रन्थदाह-घटना को

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ध्यान में रखकर पूर्व ही ऐसा कह दिया होगा। आजकल के नवीन गवेषकों की धारणा है कि पंचपादिका संज्ञा का कारण वेदान्त दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य पादपंचक है—१-अध्यास, २-ब्रह्मविचार, ३-लक्षण, ४-प्रमाण, ५-समन्वय। इनका प्रतिपादन चतुःसूत्री से ही हो जाता है। शेष वेदान्त दर्शन इन्हीं का विस्तार मात्र है। अतः आचार्य ने पद्मपादाचार्य को आवश्यक समझ कर चतुःसूत्री भाष्य की व्याख्या करने के लिए आज्ञा दी होगी, और उन्होंने भी उतने ही भाग पर व्याख्या की होगी। यद्यपि पंचपादिका के आरम्भ में – "भाष्यं प्रसन्नगम्भीरम् तद्व्याख्यां श्रद्धयाऽऽरभे" इस वाक्य से सम्पूर्ण भाष्य की व्याख्या करना प्रतिज्ञात प्रतीत होता है; तथापि श्लोक के पूर्वार्द्ध से चतुःसूत्री की व्याख्या का ही प्रबल प्रमाण मिलता है। श्लोक का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—"पदादिवृन्तभारेण गरिमाणं विभर्ति यत्" अर्थात् जो भाष्य पदादि वृन्त के भार से गुरुता को धारण करता है, उस प्रसन्न गम्भीर भाष्य की श्रद्धा से व्याख्या आरम्भ करता हूँ। भाष्यान्तर की व्यावृत्ति प्रसन्न गम्भीर पद से ही हो जाती है। पदादि शब्द का यदि पदच्छेदादि अर्थ किया जाय, तो वह समस्त भाष्यों में होता ही है। इसके द्वारा विशेष भाष्य की विशिष्टता प्रमाणित नहीं होती। अतः पद शब्द का अर्थ पाद मान लेना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है। अथवा पादादि ही पाठ रहा होगा। ऐसी स्थिति में अध्यासादिलक्षणं पादादिवृन्तभारं भाष्यम् की गुरुता का सूचक हो सकता है, क्योंकि अध्यासादि लोकोत्तर पादवृन्त का अद्भुत वर्णन शांकरभाष्य को छोड़ कर किसी भी भाष्यान्तर में नहीं है। भाष्यपाद से कृत्स्न भाष्य की तरह चतुःसूत्रीभाष्य का भी ग्रहण हो सकता है। एक देश में भाष्य शब्द का प्रयोग करना अति प्राचीन शैली है, जैसे स्वयं पंचपादिकाकार ने युष्मदस्मद्प्रत्यय गोचरयोरित्यादि नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार इत्यन्तं 'भाष्यम्' यहाँ पर एक देश में भाष्य शब्द का प्रयोग किया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

७. वाचस्पति मिश्र (नवमशतक)

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री वाचस्पति मिश्र नवम शताब्दी में मिथिला को सुशोभित करते थे। इन्होंने अपने न्याय-सूची-निबन्ध में उसका रचना-काल दिया है—

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे ।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे ॥

८९८ सम्वत् अर्थात् ८४२ ई० में न्याय-सूची-निबन्ध की रचना हुई थी। ब्रह्म सूत्र की टीका भामती के अन्त में भी इन्होंने अपने समय के राजा का निर्देश किया है—

नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम् ।
कार्तस्वरासारसपूरितार्थं सार्थस्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ।

नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति ।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ॥

अर्थात् नृगराज महाराज के शासनकाल में भामती लिखी गई। भामती (२।१।३३) में भी लिखा है—"न चाद्यापि न दृश्यन्ते लीलामात्र विनिर्मितानि महाप्रसादप्रमोदवचनानि श्रीमन्नृगनरेन्द्राणामन्येषां मनसापि दुष्कराणि नरेश्वराणाम्" यहां नृग का धर्मपाल आदि अर्थ करना संगत नहीं बैठता। एक नृग महाराज पुराण प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंशीय हैं। उनका समय तो बहुत प्राचीन है। उस समय आचार्य वाचस्पति का होना तो सम्भव नहीं। बौद्ध दार्शनिकों में से धर्मकीर्ति का उल्लेख भामती में तथा तात्पर्य परिशुद्धि में भी किया गया है। धर्मकीर्ति षष्ठ शतक में वर्तमान थे, अतः उसके उत्तरकाल की किसी शताब्दी में ही वाचस्पति की स्थिति मानी जा सकती है। इसलिए इनके नृग महाराज कोई दूसरे ही होंगे। ऐतिहासिक विद्वान अभी तक निश्चित नहीं कर पाये हैं कि ये नृग महाराज कहाँ के थे और कब हुए थे?

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आचार्य वाचस्पति ने बहुत गरीब ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। इनके जन्म समय की एक विचित्र घटना है – जिस समय आचार्य का जन्म हुआ तो नाल काटने वाली भङ्गिन को इनकी माता ने यह कहा कि यह जो प्रथम उपार्जन करेगा वह तुझे ही दिया जायेगा, इसके बाद बाल्यावस्था में ही इनका किसी राजपण्डित से राजा के समक्ष ही शास्त्रार्थ हुआ। उसमें इन्होंने राजपण्डित को परास्त कर दिया और राजा से इन्हें बहुत पुरस्कार मिला, वह सब पुरस्कार इन्होंने उस भङ्गिन को दे दिया।

जिस समय ये शांकरभाष्य पर टीका कर रहे थे, उस समय एक दिन की घटना है कि इनके लेखनकाल में दीपक की बत्ती बुझने वाली थी, आचार्य ने मन में यह सोचा कि इस पंक्ति को लिखने के बाद बत्ती को संभालूँगा क्योंकि सोचा हुआ पदार्थ विस्मृत हो जायेगा। वह सब नाटक उनकी पत्नी देख रही थी। धर्मपत्नी ने आकर बत्ती को ठीक कर दिया इतने में पंक्ति पूरी कर जब आचार्य ने ऊपर देखा तो अपनी धर्मपत्नी से पूछते हैं देवि ! तुम कौन हो – उत्तर मिला कि मैं आपकी धर्म पत्नी हूँ। आचार्य ने पत्नी को कहा कि तुमने हमारा बड़ा भारी उपकार किया है, अतः इसके बदले में मैं तुम्हारा नाम जगत् में अजर-अमर बना दूंगा। इसी लिए उन्होंने उस समय उस लिखी जाने वाली टीका का नाम 'भामती' रखा। आचार्य की पत्नी का नाम भामती था।

आचार्य वाचस्पति की रचनाएं–

१-ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, २-न्यायकणिका, ३-सांख्यतत्त्व कौमुदी, ४-तत्त्व वैशारदी, ५-न्यायवार्तिक, ६-भामती आदि टीकायें, ६-न्यायसूची-निबन्ध ८-तत्त्वबिन्दु ये दो ग्रन्थ स्वतन्त्र हैं।

इन में विशेषता यह है कि प्रत्येक दार्शनिक वाचस्पति को अपना सच्चा व्याख्याकार समझता है। पण्डित मण्डली की अपेक्षा से व्या-

Pref-Amodavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वार्तिक का गूढार्थ समझना कठिन पड़ गया था। उद्योतकर की अति-जरती वाणी के मर्म की समालोचना के लिए वाचस्पति ने तात्पर्यटीका का प्रणयन किया। इन के न्यायसूची निबन्ध की रचना ८४२ ई० में हुई थी। वाचस्पति अपने अलौकिक पाण्डित्य के कारण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहे जाते थे। वैशेषिक दर्शन को छोड़कर षड्दर्शनों पर इन की विरचित टीकाएं प्रामाणिक, प्रौढ तथा पाण्डित्यपूर्ण हैं। तात्पर्यटीका ने वास्तव में न्याय के प्रेमियों को तथा वार्तिक के रहस्यों को समझाने में इतनी सफलता पाई कि ये तात्पर्य के नाम से न्याय जगत् में विख्यात हुए।

इन्होंने अद्वैत वेदान्त में कुछ अपने मौलिक सिद्धान्तों का बड़े ऊहा-पोह ढंग से प्रतिपादन किया है, जैसे श्रवणादि में विधि नहीं है, जीवाश्रित अविद्या का विषय ब्रह्म जगत् का कारण है। ये अवच्छेदवाद को स्वीकार करते हैं। इनके मत में अविद्या का विषय ब्रह्म है और आश्रय जीव है तथा मन इन्द्रिय है। श्रवणादि द्वारा सस्कृत मन से आत्मा का साक्षात्कार होता है। अविद्याएं अनेक हैं तथा जीव भी अनेक हैं। इसी प्रकार वाचस्पति ईश्वर को भी अनेक तथा कल्पित मानते हैं। यागादि विविदिषा के साधन हैं। संन्यास में ज्ञान की अंगता अदृष्ट के द्वारा है।

इस प्रकार आचार्य वाचस्पति सभी दर्शनों की सूक्ष्म से सूक्ष्म ग्रन्थियों को सुलझाने में सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली एवं अग्रगण्य माने जाते हैं।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

८. सर्वज्ञात्म मुनि (९वां शतक)

श्री सर्वज्ञात्ममुनि का दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। शृंगेरीमठ के प्राचीन लेख से ज्ञात होता है कि ये नवम पीठाधीश थे। संक्षेपशारीरक के अन्त में इन्होंने स्वयं अपने समय का परिचय दिया है–

"श्री देवेश्वरपादपङ्कजरजः संपर्कपूताशयः।
सर्वज्ञात्मगिरङ्कितो मुनिवरः संक्षेपशारीरकम्।

चक्रे सज्जनबुद्धिवर्धनमिदं राजन्यवंशे नृपे।
श्रीमत्यक्षतशासने मनुकुलादित्ये भुवं शासति"॥

अर्थात् श्रीदेवेश्वर के चरणकमलों के रजःस्पर्श से शुद्धान्तःकरण होकर सर्वज्ञात्ममुनि ने क्षत्रियवंश के नृप अक्षतशासन मनुकुलादित्य के शासन-काल में सज्जनों की बुद्धि को बढ़ाने केलिए संक्षेपशारीरक ग्रन्थ बनाया।

यह विचारणीय है कि जिस राजा के समय में संक्षेपशारीरक बना, उसका नाम श्रीमान् था? या अक्षतशासन, या मनुकुलादित्य? स्वामी ब्रह्मानन्दसरस्वती बंगला भाषा के अपने 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' में श्रीमान् नाम मानते हैं और उसका अर्थ करते हैं–"श्रीशब्देलक्ष्मी, लक्ष्मीरपति यिनितिनिई श्रीमत् अर्थात् नारायण वा श्रीकृष्ण"। इस प्रकार निष्कर्ष निकला कि राष्ट्रकूटवंशीय श्रीकृष्ण नामक राजा का वह समय था। किन्तु गोपीनाथ कविराज अपनी ब्रह्मसूत्र भूमिका में लिखते हैं–"डाक्टर भण्डारकर ने अपने अर्ली हिस्टरी ऑफ डेकन" में लिखा है–यह मानववंश का राजा आदित्य चालुक्य था, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इस वंश में तीन राजे आदित्य नाम से प्रसिद्ध थे। उन से प्राचीन आदित्य प्रथम परान्तक के पिता थे, जिनका काल प्रायः दशम शताब्दी के प्रथमार्ध में माना जाता है। इससे यह सिद्धान्त होता है कि सर्वज्ञात्म मुनि नवम शताब्दी के प्रथमांश में ही जीवित थे"।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वज्ञात्ममुनि-विरचित संक्षेपशारीरक पर नृसिंहाश्रम ने तत्त्व-बोधिनी, पुरुषोत्तमदीक्षित ने सुबोधिनी, राघवानन्द ने विद्यामृतवर्षिणी, विश्वदेव ने सिद्धान्तदीप, रामतीर्थ ने अन्वयार्थप्रकाशिका, मधुसूदन ने सारसंग्रह, वेदानन्द ने संक्षेपशारीरकसम्बन्धोक्ति नामक व्याख्याएं लिखी हैं।

संक्षेपशारीरक ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पर लिखा गया है। ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है —"शारीरकार्थविषयावगति प्रधानं संक्षेपतः प्रकरणं कर-वाणि हृष्यन्" । शारीरकभाष्य के समान ही समन्वय, अविरोध, साधन और फलरूप चार अध्यायों में यह ग्रन्थ विभक्त है। प्रथमाध्याय में ५६३, द्वितीयाध्याय में २४८, तृतीयाध्याय में ३६६ और चतुर्थाध्याय में ६३ श्लोक हैं।

आचार्यशंकर से प्रचारित अद्वैतवाद का परिपोषण एवं परिवर्धन इस ग्रन्थ का परम प्रयोजन है। आरम्भ के चार श्लोकों में पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का निर्देश कर दिया गया है। वेदान्तदर्शन के प्रथम सूत्र में 'त्वं' पदार्थरूप अधिकारी का निरूपण है। द्वितीयसूत्र में ईश्वर की जगत्-कारणता के प्रतिपादन के व्याज से तत्पदार्थ का निरूपण हुआ है। तृतीयसूत्र में प्रमाण का उपन्यास है। चतुर्थसूत्र में जीव तथा ब्रह्म की ऐकान्तिक एकता प्रतिपादित है। इन सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय को दो भागों में बांटा जा सकता है—प्रमाण और प्रमेय, प्रमेय के भी तीन भेद हैं—त्वं पदार्थ, तत्पदार्थ और अखण्डार्थ। इन चारों तत्त्वों का प्रतिपादन संक्षेपशारीरक के आरम्भिक चार श्लोकों में किया गया है। त्वं पदार्थ और तत्पदार्थ ही इस ग्रन्थ के विषय हैं, क्योंकि त्वं पदार्थ अन्यथाज्ञात और तत्पदार्थ विशेषतः अज्ञात है।

अधिकारी के निरूपणप्रसंग में शमदमादि साधन-चतुष्टय का समर्थन किया गया है। इन की यम नियम की व्याख्या विलक्षण है–"यमा स्वरूपा सकलानिवृत्तिस्तथा प्रवृत्तिर्नियमस्वरूपा । निवर्तकादत्र यमप्रवृत्तिः प्रवर्तकात्स्यान्नियमप्रवृत्तिः" ॥ निवृत्ति दो प्रकार की है–सर्वेन्द्रियसंयम बाह्य और सर्वदा कूटस्थ चैतन्य में अवस्थान आन्तरिक निवृत्ति है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस ग्रन्थ में परिणामवाद का निराकरण किया गया है और विवर्तवाद की स्थापना की गई है तथा प्रतिबिम्बवाद एवं एक जीव एक अज्ञानवाद, को स्वीकार किया गया है। सर्वज्ञात्ममुनि का एक ही यह अपूर्व ग्रन्थरत्न "एकश्चन्द्रस्तमोहन्ति" की उक्ति को चरितार्थ करता है।

सर्वज्ञात्ममुनि के मतानुसार अविद्या में शुद्धचित् का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अन्तःकरण में शुद्धचित् का प्रतिबिम्ब जीव है। इन के मत में ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। जगत् के कारण के विषय में विवरणकार तथा वाचस्पति एवं सर्वज्ञात्ममुनि इन तीनों के मत प्रसिद्ध हैं, परन्तु इन तीनों में सर्वज्ञात्ममुनि का मत प्रमुख है। विवरणकार प्रकाशात्मयति के मत में शुद्धचित् ही जगत् का कारण है। वाचस्पतिपति मिश्र जीव को जगत् का उपादान कारण स्वीकार किया है। अतः उक्त दोनों मतों से सर्वज्ञात्ममुनि का मत भिन्न है।

अप्पयदीक्षित ने अपने सिद्धान्तलेश-संग्रह में उक्त तीनों मतों का समन्वय इस प्रकार किया है—"सर्वज्ञात्ममुनि का अभिप्राय है कि माया क कारण ब्रह्म जगत् का कारण है। जगत् की सृष्टि के कार्य में माया-का साहाय्य द्वारत्वेन ग्राह्य है। विवरणकार का तात्पर्य है कि माया-विशिष्ट ब्रह्म जो कि सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी होकर ईश्वर संज्ञा को प्राप्त होता है, वही ईश्वर जगत् का कारण है। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार ब्रह्म जब अविद्या का विषय बनता है तो वह ईश्वरता को प्राप्त होता है और वही ब्रह्म अविद्या के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुरूप जीव को जब अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है तो जगत् का कारण बन जाता है"।

सर्वज्ञात्ममुनि ने एक विलक्षणमत की स्थापना करते हुए आधार एवं अधिष्ठान के बीच भेद की व्यवस्था की है। इन का कहना है कि साक्षी या शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म, जिसकी अविद्या जगत् की स्थिति एवं उसके दृश्यत्व के लिए हेतु है, वही शुद्ध ब्रह्म ही अधिष्ठान है। जब वह ब्रह्म उस अविद्या से विशिष्ट प्रतीत होता है जो अविद्या ब्रह्म की उपस्थिति मात्र से ही अविच्छिन्नरूप से व्यावहारिक जगत् के रूपमें परिणत होती है और इस परिस्थिति में जब वह ब्रह्म अविद्या के आश्रयदाता के

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूप में स्थित होता है तो वह अधिष्ठान न होकर आधार होता है। उदाहरण के लिए 'इदं रजतम्' इस वाक्य में इदं रूप से वर्तमान चित् का वह रूप जो अविद्या का आश्रय प्रतीत होता है अधिष्ठान न होकर आधार है। शुक्ति एवं रजत और ब्रह्म एवं अविद्या से उत्पन्न जगत् के सम्बन्ध में शुक्ति और ब्रह्म का आधाररूप मिथ्या है। ब्रह्म और जगत् के बीच जिस आधार-आधेयभाव की कल्पना की जाती है वह मिथ्या है, क्योंकि जिस जगत् की उत्पत्ति अविद्या से हुई है उसे ब्रह्म का आधेय और ब्रह्म को उसका आधार नहीं कहा जा सकता। शुक्ति एवं ब्रह्म को अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत एवं ब्रह्म में जगत् की बुद्धि उत्पन्न होती है। परन्तु अधिष्ठान रूप शुक्ति एवं ब्रह्म, रजत एवं जगत् से असम्बद्ध है। दोनों में सम्बन्ध हो भी कैसे सकता है, क्योंकि एक सत् है और दूसरा असत् और सत् एवं असत् का सम्बन्ध अनिश्चित है। सर्वज्ञात्ममुनि का कहना है, कि अधिष्ठान रूप ही सत् है आधार रूप नहीं।

०———०

६. गंगापुरी भट्टारक (भट्टाचार्य) (दशम शतक)

आचार्य गंगापुरी भट्टारक का स्थिति-काल दशम शतक का अन्तिम भाग इतिहासकारों ने निश्चित किया है। इन्होंने 'पदार्थतत्त्वनिर्णय' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में दो अध्याय हैं—प्रथम अध्याय का नाम तर्कविवेक है, इस अध्याय में वैशेषिक दर्शन का संक्षिप्त विवरण है। द्वितीय अध्याय का नाम सिद्धान्तविवेक है, इस अध्याय में वेदान्त-दर्शन का संक्षिप्त परिचय है।

Prof. Amodvardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गंगापुरी भट्टारक ब्रह्म एवं माया को जगत् का कारण मानते हैं। ये ब्रह्म को विवर्त कारण मानते हैं तथा माया को परिणाम कारण स्वीकार करते हैं।

विबर्त का लक्षण है कि रज्जु में सर्प-भ्रम-स्थल में रज्जु ही सर्परूप से विवर्तित (कार्यभाव को प्राप्त) हो जाता है। परन्तु विवर्त कारण के कार्यभाव को प्राप्त होने पर भी निर्विकार ही रहता है। परिणामी कारण उस को कहते हैं—जैसे दही के प्रति दूध तथा घट के प्रति मिट्टी। दोनों में अन्तर इतना है कि उपादान समसत्ताक परिणाम (कार्य) होता है और उपादान विषमसत्ताक विवर्त (कार्य) होता है।

गंगापुरी भट्टारक वैशेषिकदर्शन तथा वेदान्तदर्शन दोनों दर्शनों के पूर्ण विद्वान् थे। यह इनके रचित 'पदार्थ तत्त्वनिर्णय' ग्रन्थ से ही ज्ञात होता है। इनके पदार्थतत्त्वनिर्णय पर आनन्दज्ञान ने व्याख्या लिखी है।

---

१०. प्रकाशात्मयति (११वाँ शतक)

पद्मपादाचार्य की पंचपादिका पर प्रकाशात्मयति ने 'विवरण' नामक ऐसी उत्कृष्ट व्याख्या लिखी कि जिसके नाम से अद्वैतवेदान्त में विवरण-प्रस्थान पृथक् ही गिना जाने लगा। प्रकाशात्मयति ने विवरण में भास्कराचार्य (१०म शतक) के भेदाभेद का विशेषरूप से निरास किया है। आनन्दबोध भट्टारक (१२वां शतक) ने अपने 'न्यायमकरन्द' में विवरणकार के मत का अनुवाद किया है। अत: प्रकाशात्मयति को १०म शतक का परवर्ती और १२वीं शताब्दी का पूर्ववर्ती मानना होगा। इस प्रकार इनका समय एकादश शतक निश्चित होता है। अपने

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रन्थ में इन्होंने अपना कोई देशकाल नहीं बताया है । इनके गुरु का नाम 'अनन्यानुभव' था । इन्होंने स्वयं लिखा है–

"वन्दे तमात्मसम्बद्धस्फुरद्ब्रह्मात्मभावतः ।
अर्थतोऽपि नाम्नैव योऽनन्यानुभवो गुरुः" ॥

इस समय इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध तथा मुद्रित हैं— १-पंचपादिका-विवरण, २-शाब्दनिर्णय । विवरण के समान ही 'शाब्दनिर्णय' भी महत्त्व का ग्रन्थ है । ७२० श्लोकों के इस छोटे से ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने आत्मा के शाब्दप्रत्यक्ष का ही ऊहापोह के साथ समर्थन किया है । इस ग्रन्थ-कार की सोपज्ञवृत्ति के साथ यह ग्रन्थ १९१७ ई० में त्रिवेन्द्रम् ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है । विवरण की दो टीकाएँ हैं–अखण्डानन्दमुनिकृत 'तत्त्वदीपन' और विद्यारण्यमुनिकृत 'विवरणप्रमेय संग्रह' ।

अद्वैत-सिद्धान्त में मुख्य तीन निबन्ध माने जाते हैं– १-भामती-निबन्ध, २-पंचपादिका-निबन्ध, ३-वार्तिक-निबन्ध । पंचपादिका-निबन्ध का ही नामान्तर विवरण-निबन्ध है । इसका कारण यह है कि वेदान्त के विशाल व्योम-मण्डल में भामती की प्रोज्वल ज्योत्स्ना के समक्ष पंच-पादिका की गौरवतारिका तब तक चमकने न पाई, जब तक प्रकाशा-त्मयति ने अपने 'विवरण' के प्रकृष्टप्रकाश से 'पंचपादिका' को प्रकाशित नहीं किया । अतः पंचपादिका का सिद्धान्त 'विवरण निबन्ध' के नाम से पुकारा जाने लगा ।

विवरणकार और भामतीकार के कुछ सिद्धान्तों में निम्न प्रकार से मतभेद है—विवरणकार श्रवण में नियम-विधि मानते हैं और इन के अनुसार ईश्वर जगत् का कारण है । विवरणकार प्रतिबिम्बवादी हैं और इनके मत में अविद्या का आश्रय एवं विषय ब्रह्म है । मन इन्द्रिय नहीं है, अविद्या एक है तथा जीव भी एक ही है । बिम्बस्वरूप ईश्वर एक है तथा ईश्वर का स्वरूप पारमार्थिक है । यागादि ज्ञान के साधन हैं तथा संन्यास में ज्ञान की अंगता अदृष्ट द्वारा है ।

भामतीकार इसके विपरीत मानते हैं कि श्रवणादि में कोई विधि नहीं है । ब्रह्म जगत् का कारण है । ये अवच्छेदवाद को मानते हैं । इन के

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मत में अविद्या का विषय ब्रह्म और आश्रय जीव है, मन इन्द्रिय है। श्रवणादि से संस्कृत मन से आत्मा का साक्षात्कार होता है। अविद्यायें अनेक हैं तथा जीव भी अनेक हैं और ईश्वर भी अनेक हैं एवं ईश्वर कल्पित है। यागादि विविदिषा के साधन हैं।

प्रकाशात्मयति ने अपने पंचपादिका-विवरण के अन्तर्गत व्यवहार-भेद से माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद स्थापित करते हुए कहा है कि विक्षेप-प्राधान्य से जो माया है वही आवरण की प्रधानता से अविद्या है—"एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्राधान्येन माया आच्छादन-प्राधान्येनाविद्येति व्यवहारभेदः" (पंचपादिकाविवरण)। इस प्रकार विवरणकार ने आवरणशक्ति-सम्पन्न को अविद्या एवं विक्षेप-शक्ति-सम्पन्न को माया कहा है।

---

११. श्री हर्ष (द्वादश शतक)

स्वामी शंकराचार्य तथा श्री सुरेश्वराचार्य के बाद अद्वैतवेदान्त जगत् में इस कोटि के दार्शनिक श्री हर्ष हुए। इनके पिता का नाम महाकवि हीर और माता का नाम मामल्लदेवी था। नैषधीयचरित सर्ग १ श्लोक १४५ में लिखा है —

श्री हर्षकविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतम्।
श्री हीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥

श्री हर्ष का देश

श्री हर्ष को कुछ लोग बंगाल के, कुछ मिथिला के और कुछ लोग उत्तरप्रदेश के निवासी बताते हैं। परन्तु इन की अपनी ही उक्तियों से निश्चित होता है कि ये उत्तरप्रदेश के कन्नौज के थे।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन्होंने स्वयं खण्डन के अन्त में लिखा है कि कन्नौज नरेश से सम्मान प्राप्त किए थे –

"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्,
यः साक्षात् कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः,
श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥

श्री हर्ष का समय

कन्नौज के महाराज विजयचन्द्र के पुत्र महाराज जयचन्द्र थे। इनके एवं दानपात्र का समय १२४३ शतक है। इस से महाराज विजयचन्द्र का समय उक्त समय से कुछ पूर्व सिद्ध होता है। श्री हर्ष ने जो 'विजयप्रशस्ति' नाम का ग्रन्थ लिखा है, वह इसी महाराज विजयचन्द्र का प्रशंसापरक है। इस प्रकार श्री हर्ष का, महाराज विजयचन्द्र का समकालीन होना सिद्ध होता है। यदि इन्हें महाराज जयचन्द्र का आश्रित माना जाय, तो इनका समय इन दोनों के बीच अर्थात् महाराज विजयचन्द्र की वृद्धावस्था और महाराज जयचन्द्र की युवावस्था के बीच होगा। यह समय १२वीं शताब्दी के निकट होगा। श्री चण्डू पण्डित ने १३५३ शताब्दी में श्री हर्ष के 'नैषधीयचरित' की व्याख्या लिखी है। इससे भी श्री हर्ष का १२वीं शताब्दी के निकटवर्ती होना सिद्ध होता है। वाचस्पतिमिश्र की न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका के ऊपर उदयनाचार्य ने 'परिशुद्धि' नाम की टीका लिखी है। इन्होंने अपने 'लक्षणावली' ग्रन्थ का रचनाकाल इस प्रकार बताया है—

तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः ।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥

इससे लक्षणावली के निर्माण का समय ९०६ शकाब्द (९८४ ई०) होता है। इस प्रकार उदयनाचार्य का समय दशम शतक सिद्ध होता है। श्री हर्ष ने लक्षणावली के लक्षणों का 'खण्डनखण्डखाद्य' में प्रधानरूप से खण्डन किया है। इस कारण श्री हर्ष उदयनाचार्य के परवर्ती सिद्ध

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होते हैं। गंगेशोपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि में 'खण्डनखण्डखाद्य' से कारिका का उद्धरण देकर कहा है— 'एतेन खण्डनकारमतमप्यपास्तम्' (अर्थात् इससे खण्डनकार श्री हर्ष का मत भी खण्डित हो गया) इनका समय १३वां शतक है। अतः श्री हर्ष को इनसे पूर्ववर्ती ही मानना होगा। इस विवेचन से भी यही सिद्ध होता है कि श्री हर्ष १२वीं शताब्दी के निकटवर्ती हैं।

उदयनाचार्य का श्री हर्ष के पिता महाकवि हीर के साथ शास्त्रार्थ होना, हीर का उन से पराजित होना तथा श्री हर्ष का अपने पिता की आज्ञा से उनके अपमान के प्रतिशोधरूप में उदयनाचार्य के मत का खण्डन करना आदि बातें तर्क संगत प्रतीत नहीं होती। क्योंकि दोनों के समय में बहुत अन्तर है। हो सकता है, वे उदयन कोई दूसरे हों।

श्री हर्ष की रचनाएं—

१- खण्डनखण्डखाद्यम्. २- नैषधीयचरितम्, ३- अर्णववर्णनम्, ४- शिवशक्तिसिद्धिः, ५- नवसाहसाङ्कचम्पू, ६- छिन्दप्रशस्ति, ७-विजय प्रशस्ति, ८- गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, ९- ईश्वरसिद्धि, १०- स्थैर्यविचारण-प्रकरण। श्री हर्ष ने खण्डन में नैषध का और नैषध में खण्डन का उल्लेख किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इन दोनों ग्रन्थों की रचना एक ही काल में हुई है।

श्री हर्ष की जिस प्रकार काव्य में लोकोत्तर प्रतिभा व्यक्त हुई है, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी। पदलालित्य में नैषध महाकाव्य सब काव्यों में श्रेष्ठ माना जाता है। इसके सम्बन्ध में—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः" यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। 'खण्डनखण्ड-खाद्य' यह नाम भी बड़ा रोचक है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है — खण्डनस्य आकाशादिपदार्थखण्डनरूपस्य, खण्डस्य खण्डशर्करायाः, खाद्यम् भक्ष्यम्, स्वाद्यं भवति यस्य ग्रन्थस्याध्ययनाध्यापनेन तत्। अर्थात् जिस ग्रन्थ के अध्ययन एवं अध्यापन करने वाले को पदार्थादि [illegible]

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है अथवा—खण्डनेन पदार्थादिखण्डनरूपेण, खण्डाः खण्डिताः, खम् आकाशम्, आद्यम् येषां ते खाद्याः गगनादयः पदार्थाः येन यस्मिन् वा तत् खण्डनखण्डखाद्यम्' अर्थात् पदार्थादि खण्डनरूप से जिस में आकाशादि पदार्थों का खण्डन किया गया हो वह 'खण्डनखण्डखाद्य (ग्रन्थ) है। अथवा—"खण्डनरूपं तत् खण्डनखण्डखाद्यम् नाम ग्रन्थः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जैसे आयुर्वेदशास्त्र में 'खण्डखाद्य' पाक विशेष का नाम है। यह पाक जिस प्रकार रोगों को दूर करके रोगी में स्वास्थ्य का हेतु होता है, वैसे ही यह 'खण्डन' ग्रन्थ वादियों के मतों का अक्षरशः खण्डन कर के अद्वैत ब्रह्मज्ञान के प्रति श्रद्धा की उत्पत्ति में हेतु होते हुए परमानन्द के स्वाद (अनुभव) प्राप्त करने की योग्यता उत्पन्न करता है।

खण्डन की १३ मुख्य टीकाएँ संस्कृत में हुई हैं—१- परमानन्द की 'खण्डनमण्डन', २- भवनाथ की 'खण्डनमण्डन', ३-रघुनाथशिरोमणि की 'दीधिति' ४- वर्धमान की 'प्रकाश', ५- वलभद्र मिश्रात्मज पद्मनाभ की 'खण्डनटीका' ६-शंकरमिश्र की 'आनन्दवर्धनी (शांकरी), ७- चरित्रसिंह की 'खण्डनमहातर्क' ८-विद्याभरण की 'विद्याभरणी' ९- विद्यासागर की 'विद्यासागरी', १०- शुभशंकर मिश्र की 'दर्पण' ११-प्रगल्भमिश्र की 'खण्डनखण्डन', १२- पद्मनाभ की 'शिष्यहितैषिणी', १३- चित्सुखाचार्य की 'व्याख्या'।

श्री हर्ष का पाण्डित्य

अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में वेदान्त की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है—एक विधिरूप से जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" आदि। दूसरा निषेध रूप से जैसे - "अस्थूलमनणु" 'नेतिनेति' आदि श्रुतियों के द्वारा इतर का निषेध करके ब्रह्म का प्रतिपादन। खण्डनकार श्रीहर्ष की खण्डनपद्धति में यही दूसरा प्रकार मुख्य है। इनके पहले माध्यमिकमत के सबसे प्रधान आचार्य नागार्जुन ने अपने मत की स्थापना में इस पद्धति को अपनाया। बाद में मीमांसकों ने परमत खण्डन में इस का उपयोग किया। आगे चलकर लगभग १२वीं शताब्दी में श्रीहर्ष ने पूरे

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिमार्जित तथा परिवर्धित रूप में संसार के सामने एक नई-सी चमत्कारी वस्तु प्रस्तुत की, जो कि 'खण्डनखण्डखाद्य' के नाम से प्रसिद्ध है। दर्शन-शास्त्र में यह ग्रन्थ श्रीहर्ष के पाण्डित्य की कसौटी है। इसमें इन्होंने जो सूक्ष्मतम और गहनतम दार्शनिक तत्वों की विवेचना की, यह संसार की पण्डित-मण्डली को मुग्ध कर रही है। दर्शनशास्त्र में विशेषत: वितण्डावाद में यह ग्रन्थ बेजोड़ है। श्री हर्ष ने स्वय इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा है "जिन व्यक्तियों ने अपने आचार्य की मन, शरीर एव वाणी के द्वारा श्रद्धापूर्वक अच्छी प्रकार सेवाकरके उनसे विधिवत् अध्ययन किया है, वे ही इसका रसास्वादन कर सकते हैं"। परन्तु गुरु से अध्ययन किये विना अपने को पण्डित मानने वाले व्यक्ति इसके रसानुभव के कभी भी अधिकारी नहीं हैं। इन्होंने जानबूझ कर इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर ऐसी गांठें लगा दी हैं कि उनका भेदन करना असाध्य है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना इस प्रकार का आलौकिक पाण्डित्य प्राप्त करना अत्यन्त असम्भव है।

इन्होंने 'चिन्तामणि' मन्त्र के जप एवं देवी की निरन्तर आराधना से उनका अनुग्रह प्राप्त कर 'नैषधचरित' जैसे महा काव्य और 'खण्डन' जैसे अद्वितीय दार्शनिक ग्रन्थों की रचना कर संसार में अमर कीर्ति प्राप्त की है।

o———o

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१२ आनन्दबोध भट्टारक (१२वां शतक)

आचार्य आनन्दबोधभट्टारक का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी है। इन्होंने अपने 'न्यायमकरन्द' ग्रन्थ में आचार्य वाचस्पति मिश्र का उल्लेख किया है, जिनका समय नवमशतक मानागया है और स्वयं भट्टारक ने विवरणकार प्रकाशात्मयति के शाब्दनिर्णय' पर 'दीपिका' नाम की व्याख्या लिखी है जिनका अस्तित्वकाल ११वीं शताब्दी रही है। श्री चित्सुखाचार्य ने 'न्यायमकरन्द' पर व्याख्या लिखी है और चित्सुखाचार्य का समय १३वीं शताब्दी है। अतः आनन्दबोध भट्टारक का वर्तमान समय १२वां शतक ही निश्चित होता है। कुछ इतिहासकार इनका वर्तमान समय १२०१ ई० मानते हैं।

इनके गुरु का नाम 'आत्मवास' था। प्रकाशात्मयति के 'शाब्दनिर्णय' की व्याख्या 'न्यायदीपिका' के अन्त में आनन्दबोध स्वयं लिखते हैं–

> **"नमो निखिलवेदान्तकमलाकरभानवे,**
> **आत्मवासाभिधानाय गुरवे गुणवेश्मने।**
> **दुस्तर्कध्वान्तपटलप्रपाटनपटीयसी,**
> **इयमानन्दबोधेन रचिता न्यायदीपिका"॥**

यद्यपि इन्होंने अपनी 'प्रमाणमाला' में लिखा हैं— "एतदेवोक्तम् गुरुभिः–नान्यत्र कारणात्कार्यं न चेत्तत्र क्व तद्भवेत्" यह श्लोक इष्टसिद्धि में उपलब्ध है। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि 'इष्टसिद्धि' कार विमुक्तात्मा ही इनके गुरु थे। किन्तु इस सामान्य लेख की अपेक्षा न्यायदीपिका के अन्त का विशेष लेख यह सिद्ध करता है कि इन के साक्षाद् गुरु आत्मवास ही थे।

इनके 'न्यायमकरन्द' ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वशास्त्रनिष्णात श्री स्वामी बालराम उदासीन ने सन् १९०१ में चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी से कराया था। इनके 'प्रमाणमाला' तथा 'न्यायदीपावली' नाम के दो

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

छोटे-छोटे ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशात्मयति के 'शाब्दनिर्णय' पर इनकी न्यायदीपिका' व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। यह व्याख्या सम्भवतः अभी प्रकाशित नहीं हुई है इसकी पाण्डुलिपि मद्रास में सुरक्षित है। इनके 'प्रमाणमाला' नामक छोटे से ग्रन्थ में मोक्ष का निरूपण बड़ी सफलता से किया गया है और यह ग्रन्थ चौखम्बा सं० सी० वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। 'न्यायदीपावली' ग्रन्थ में प्रपंचमिथ्यात्व का निरूपण अति संक्षिप्त शब्दों में मार्मिक ढंग से किया गया है। यह निबन्ध देखने योग्य है। यह भी चौखम्बा सं०सी०वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। 'न्यायमकरन्द' इनका सग्रहात्मक एक छोटा सा ग्रन्थ है, किन्तु बहुत व्युत्पादक ग्रन्थ है। स्वयं आनन्दबोध लिखते हैं—

"निबन्धपुष्पजालानि समालोड्य प्रयत्नतः।
सन्न्यायमकरन्दानां संग्रहः क्रियते मया"॥

यह एक ही ग्रन्थ आनन्दबोध की कीर्ति स्थायी बनाये रखने में पर्याप्त है। 'तत्त्वदीपिका' की रचना में सब से अधिक इस ग्रन्थ की सहायता ली गई है। 'न्यायमकरन्द' पर चित्सुखाचार्य ने व्याख्या लिखी है। उस व्याख्या के महत्त्व का अंश भी तत्त्वदीपिका के मूल में समाविष्ट कर लिया गया है। कहीं-कहीं आनन्दबोधाचार्य का समाधान नहीं जँचा है, उसका तत्त्वदीपिका में खण्डन भी किया गया है।

आनन्दबोध की लेखन-शैली विशद एवं मनोरम है। इन्हें स्वयं अपने लेख पर पूरा विश्वास है, ये लिखते हैं—

"सेवन्तां मतिमन्तः सरस्वतीं चन्द्रिकां विशदाम्।
आनन्दबोधकृतिनः शमयन्तीमान्तरं तिमिरम्॥
आनन्दबोध – सुकवेः सूक्तिं के नाभिनन्दन्ति।
नो चेदरुचिनिदानं मत्सरसंज्ञकं मलोपित्तम्॥

'न्यायमकरन्द' पर चित्सुख ने टीका लिखी, एवं चित्सुख के शिष्य सुखप्रकाश ने 'न्यायमकरन्द विवेचनी' नामक भाष्य लिखा था। अनुभूति स्वरूप (१३वाँ शतक) ने भी आनन्दबोध के तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आनन्दबोध ने संवेदन के स्वप्रकाशत्व में तर्क दिये हैं। उनका कथन है-" यदि संवेदन अपने विषय को प्रकट करके भी अपने आपको प्रकट (प्रकाशित) नहीं करेगा। तो ज्ञाता को संदेह हो जायेगा कि उसने उस काल में कोई ज्ञान प्राप्त किया है या नहीं ? यदि यह माना जाय कि एक संवेदन दूसरे संवेदन द्वारा प्रकाशित होता है, तो अनवस्था दोष होगा। ऐसा तो माना नहीं जा सकता कि एक ही मनःसन्निकर्ष से एक साथ दो संवेदनों की उत्पत्ति हो सकती है। अतः संवेदन को स्वप्रकाश मानना ही युक्त संगत है"।

१३. अद्वैतानन्द बोधेन्द्र (१२वाँ शतक)

अद्वैतानन्दबोधेन्द्र का समय ११४९ ई० है। ये कांची के शारदामठ (कामकोटिपीठ) के पीठाधीश थे और भूमानन्द सरस्वती या चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती के शिष्य थे। वेदान्त विद्या का अध्ययन इन्होंने रामानन्द सरस्वती से किया था। ये चिद्विलास एवं आनन्दबोध के नाम से भी प्रख्यात थे। इनकी जन्मभूमि दक्षिण भारत का कावेरी तट है। इनके पिता का नाम प्रेमनाथ और माता का नाम पार्वतीदेवी था। अद्वैतानन्द का पूर्वाश्रमीय नाम सीतापति था। इन्होंने स्वयं अपना परिचय अपने ग्रन्थ में दिया है।

जप्येशस्य कृपाभरात् समुद्भूद् यः पार्वतीगर्भतः ।
प्रेमेशस्य सुतः श्रुतिप्रवचने धीरः स सीतापतिः ॥
आदेशाद् गुरुचन्द्रचूडयमिनः सर्वज्ञपीठाद् विभो-
राधन्ते किल शान्तिवाकनवकव्याख्यां सुखख्यातये ॥

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन्होंने १७ वर्ष की अवस्था में ही संन्यास ग्रहण किया था। ये श्रीहर्ष के समसामयिक थे। कहते हैं कि इन्होंने शास्त्रार्थ में श्रीहर्ष को पराजित कर दिया था।

इनकी रचनाएं

१–ब्रह्म–विद्याभरण, २– शान्तिविवरण, ३–गुरुप्रदीपिका, आदि। आचार्य अद्वैतानन्द का ब्रह्मविद्याभरण शांकरभाष्य की वृत्ति माना जाता है। भामती के समझने में भी यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इनका 'ब्रह्मविद्याभरण' कुम्भकोणम् की अद्वैतमंजरी–ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। उसका मंगल श्लोक यह है–

"वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युः तं नमामि गजाननम्॥"

दास गुप्त के मतानुसार प्रकाशानन्द 'ब्रह्मविद्याभरण' के लेखक अद्वैतानन्द के शिष्य थे और अद्वैतानन्द अन्वयप्रकाशिका (संक्षेप शारीरक की टीका) के लेखक रामतीर्थ के शिष्य थे। परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रकाशानन्द का स्थिति-काल १५वीं शताब्दी है और अद्वैतानन्द का ११४६ ई० है।

०———०

१४. चित्सुखाचार्य (१३ वाँ शतक)

आचार्य चित्सुख शांकरवेदान्त को नई दिशा प्रदान करने वाले आचार्यों में प्रथम हैं। यद्यपि नव्यवेदान्त का आरम्भ स्वामी शंकराचार्य से ही आरम्भ हो चुका था, तथापि चित्सुखाचार्य ने नव्य वेदान्त को परिमार्जित स्वरूप प्रदान किया।

Prof. Amodavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चित्सुखाचार्य ने तत्वदीपिका में श्रीहर्ष का उल्लेख किया है और 'खण्डनखण्डखाद्य' पर व्याख्या भी लिखी है। श्रीहर्ष का समय १२ वीं शताब्दी मानी जाती है। १४वीं शताब्दी के श्री विद्यारण्य (माधवाचार्य) ने अपने सर्वदर्शन-संग्रह में चित्सुखाचार्य का उल्लेख किया है। आनन्द बोध भट्टारक के 'न्यायमकरन्द' आदि ग्रन्थों पर चित्सुखाचार्य ने व्याख्याएं लिखीं हैं और भट्टारक का समय १२८८ ई० माना जाता है। इस प्रकार चित्सुखाचार्य का समय १३ वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

बंगलाभाषा के वेदान्तदर्शनेर इतिहास' में लिखा है कि चित्सुखाचार्य का जन्म-स्थान उत्तर भारत था। योगेन्द्रनाथ तर्कतीर्थ ने अद्वैत-सिद्धि के अपने बंगलानुवाद की भूमिका में लिखा है कि श्री चित्सुखमुनि ने दक्षिण भारत में काम-कोटिमठ के अध्यक्ष के रूप में शेष जीवन अतिवाहित किया। कुछ विद्वानों का मत है कि ये दक्षिण भारत के थे। इनके गुरु का नाम गौड़ेश्वराचार्य ज्ञानोत्तम था। इनके 'विज्ञानात्मभगवान्' नाम के गुरुभाई भी थे। विज्ञानात्म ने भी श्वेताश्वतर एवं तैत्तिरीयादि उपनिषदों पर व्याख्यायें लिखीं थीं। चित्सुखाचार्य के प्रधान शिष्य 'सुखप्रकाश' थे। सुखप्रकाश ने तत्व दीपिका पर 'भावद्योतनिका' नामक व्याख्या तथा 'तत्वप्रक्रियाव्याख्या' 'न्यायदीपावलीतात्पर्यटीका' न्याय मकरन्दविवेचनी' एवं वेदान्तसिद्धान्तकारिकावली आदि ग्रन्थ बनाये थे।

चित्सुखाचार्य की रचनाएँ

१—न्यायमकरन्द की व्याख्या, २—खण्डनखण्डखाद्य की व्याख्या, ३—शारीरकभाष्य की 'भावप्रकाशिका' टीका, ४—शंकरदिग्विजय, ५—ब्रह्म सिद्धि की अभिप्राय—प्रकाशिका टीका, ६— नैष्कर्म्य सिद्धि पर 'भावतत्वप्रकाशिका' टीका, ७—प्रमाणरत्नमाला की व्याख्या, ८—विवरण पर व्याख्या, ९—विष्णु पुराण पर व्याख्या, १०—ब्रह्मसूत्र पर 'अधिकरण संगति' नामक निबन्ध, ११—अधिकरण मञ्जरी, १२—भागवत की टीका, १३-षडदर्शन संग्रहवृत्ति, १४-ब्रह्मस्तुति, १५-तत्वदीपिका (चित्सुखी)।

Prof. Amodavardhana Kaundinhyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तत्त्वदीपिका

यह एक ही ग्रन्थ रत्न चित्सुखमुनि की विश्व में स्थायी कीर्ति स्थापित करने के लिए पर्याप्त है। तत्वोपप्लव, खण्डनखण्डखाद्य तथा न्यायमकरन्द की शैली पर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। ब्रह्मसूत्र के समन्वय, अविरोध, साधन और फल नाम के चार अध्यायों की शैली पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है, अतः इसके चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में १३ वादों पर विचार किया गया है— १–विज्ञान की स्वप्रकाशता, २–आत्मा की ज्ञानरूपता, ३–अन्धकार की भावरूपता, ४–प्रपञ्च का मिथ्यात्व, ५–भ्रम-सिद्धि, ६–अज्ञान की अनादिता एवं भावरूपता, ७–अध्यास सिद्धि, ८–वेद में सिद्धार्थविषयक प्रमा की जनकता, ९–अखण्डार्थता, १०– स्वतःप्रमात्व, ११– अतिरिक्तशक्तिकल्पना, १२–अभिहितान्वयवाद, १३–वेदों की अपौरुषेयता आदि। द्वितीयपरिच्छेद में विशेष रूप से नैयायिकों के १६ और वैशेषिकों के ७पदार्थों का निराकरण करते हुए अभेद तत्व में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध निरस्त किया गया है। तृतीय परिच्छेद में मुख्यतः तीन विषयों का निर्देश किया है— १–शब्द में अपरोक्ष ज्ञान की हेतुता, २–ज्ञान में मुक्ति की साधनता, ३–ज्ञान-कर्म-समुच्चय वाद का खण्डन। चतुर्थ परिच्छेद में प्रधानतया ६ विषयों का निरूपण किया गया है। १–बौद्धों की विज्ञान-सन्तति की अत्यन्त उपरम रूप मुक्ति का खण्डन, २–तार्किक अभिमत मुक्ति का खण्डन, ३–सांख्य मुक्ति का खण्डन, ४–एक अविद्या तथा उसके विषय का निरूपण, ५–अविद्यानिवृत्ति का स्वरूप, ६–जीवन्मुक्तिसाधन।

'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ पर आये आघातों (आक्षेपों) का उपचार करने के लिये चित्सुखी का निर्माण हुआ। शांकर-वेदान्तजगत् के लिए खण्डन, अद्वैत-सिद्धि और चित्सुखी ये तीनों आधार स्तम्भ माने जाते हैं। 'खण्डन' को नैयायिकगण वितण्डा कहकर निरादर की दृष्टि से देखने लगे थे। अद्वैतवाद पर विविध आपत्तियाँ करते थे। उनका मुंहतोड़ उत्तर देने तथा खण्डन की कीर्त्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए 'तत्व प्रदीपिका' की रचना हुई।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वप्रथम वेदान्त का प्रबल संघर्ष बौद्धों से था। बौद्धों को परास्त करने के लिए नैयायिकदल को सुदृढ़ बनाया गया। वह नैयायिक दल बौद्धों को परास्त कर वेदान्त पर टूट पड़ा। उससे लोहा लेने के लिए महापण्डित श्रीहर्ष ने चिन्तामणि-महामन्त्र की कृपा से नैयायिक और वैशेषिकों के एक-एक तत्व का गिन–गिनकर खण्डन किया। इसलिए नैयायिकों ने खण्डन का भरपूर खण्डन किया, जिसका उद्धार श्रीचित्सुख ने किया।

चित्सुखाचार्य की शैली नितान्त उत्तम तथा ग्राह्य है, किसी वाद पर जितने आक्षेप हुए या हो सकते हैं, सभी विकल्पों को उठाकर सिद्धान्त के आरम्भ में एक श्लोक में कहते जाते हैं। जैसे मिथ्यात्व-निरूपण प्रसंग में दश विकल्प उठाकर सिद्धान्त श्लोक कहा गया है—

सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन सम्मते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता॥

परिमार्जित नव्यशांकरवेदान्त के जन्मदाता श्री चित्सुखाचार्य थे, यह बात अक्षरशः सत्य है। इन्होंने विरोधी दार्शनिकों का खण्डन और अपने मत की स्थापना बड़ी अलौकिक प्रतिभा एवं युक्तियों से की है।

चित्सुखाचार्य ने अद्वैत मत का विश्लेषण अपने तीन ग्रन्थों-चित्सुखी न्यायमकरन्द टीका और खण्डनखण्डखाद्य की टीका में किया है। आचार्य चित्सुख ने साक्षी एवं प्रमाता में भेद का समर्थन किया है। ये साक्षी को स्वतन्त्र एवं द्रष्टा मात्र मानते हैं। इसके विपरीत इनके मत में प्रमाता ज्ञाता है तथा ज्ञान के साधनों के कार्य के अधीन है। आचार्य चित्सुख दुःख को सुख का विरोधी मानते हैं। अतः इनके मतानुसार दुःख का विनाश स्वतः पुरुषार्थ न होकर केवल सुख ही स्वतः पुरुषार्थ है। इनका अभिप्राय है कि दुःखाभाव स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ नहीं है, प्रत्युत सुखाभिव्यक्ति का अंग मात्र है। सुख को दुःखाभाव का अंग मानने पर न उसे दुःखाभाव का उत्पादक माना जा सकता है और न उसका अभिव्यञ्जक।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१५. विमुक्तात्मा (१३वाँ शतक)

दासगुप्त ने विमुक्तात्मा का समय १२०० ई० माना है और स्वामी योगीन्द्रानन्द ने संक्षेपशारीरक की भूमिका में इनका समय १०म शतक स्वीकार किया है। विमुक्तात्मा के देश तथा इनके माता-पिता के विषय में कुछ भी पता नहीं है। इन्होंने इस विषय में अपने ग्रन्थ में कुछ भी नहीं लिखा।

विमुक्तात्मा ने अपना 'इष्टसिद्धि' ग्रन्थ संभवतः त्रयोदश शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखा। चतुर्दश शताब्दीकालीन मधुसूदन द्वारा अद्वैतसिद्धि' एवं रामाद्वय द्वारा वेदान्त-कौमुदी में वह उद्धृत किया गया है। 'इष्ट-सिद्धि' पर ज्ञानोत्तम ने टीका लिखी है और उस टीका का नाम 'इष्ट-सिद्धि व्याख्या' अथवा 'इष्टसिद्धि विवरण' है। ज्ञानोत्तम का वर्तमान काल १३वीं शताब्दी है। विमुक्तात्मा ने 'प्रमाणवृत्ति-निर्णय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका वे अपने 'इष्टसिद्धि' में उल्लेख करते है। 'इष्टसिद्धि' संभवतः अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। यह ग्रन्थ ८ अध्यायों में विभक्त है और इसका अधिकांश वेदान्त-दर्शन एवं अन्य दर्शनों में भ्रमों के विश्लेषण से सम्बद्ध चर्चाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रन्थ को मण्डनकृत 'ब्रह्मसिद्धि', सुरेश्वरकृत 'नैष्कर्म्यसिद्धि' तथा मधुसूदनकृत 'अद्वैतसिद्धि' के साथ चार सिद्धियों में एक माना जाता है। अब तक नैष्कर्म्यसिद्धि तथा अद्वैतसिद्धि तो प्रकाशित हुए ही हैं, मद्रास से ब्रह्मसिद्धि का प्रकाशन दो टीकाओं के साथ हुआ है।

विमुक्तात्मा ने अपने 'इष्टसिद्धि' नामक ग्रन्थ में अद्वैतसिद्धान्त की अज्ञानादि प्रमुख विचार-ग्रन्थियों का स्पष्टीकरण आलोचनात्मक पद्धति से किया है।

विमुक्तात्मा ने आत्मा एवं जगत् के विषयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न का समाधान खोजने की चेष्टा की है। इनका कहना है कि दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत् रूपविषय) न एक दूसरे से भिन्न कहे जा सकते हैं, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न। भिन्न इस लिए नहीं है कि दृक् (आत्मा) दृश्य नहीं है। दृश्य का अदृश्य या अदृश्य का दृश्य से भेद

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी ने अरुण नामक व्यक्ति को नहीं देखा है तो वह उसे श्याम नामक व्यक्ति से भिन्न नहीं बता सकता। इसी प्रकार जब दृक् (आत्मा) दृश्य नहीं है तो उसे दृश्य से भिन्न कैसे कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि विज्ञानवादी बौद्ध कहता है कि दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत्) के बीच अभेद सम्बन्ध भी नहीं स्थापित किया जा सकता। अभेदवादी का कहना है कि दृक् एवं दृश्य का साथ-साथ बोध होता है। दृक् एवं दृश्य का समकालिक बोध ही उनके भेद का सूचक है, क्योंकि दोनों के अभिन्न होने पर उनके पृथक् बोध का प्रश्न ही नहीं होता। विमुक्तात्मा का कहना है कि भेद, अभेद सम्बन्ध के अतिरिक्त दृक् एवं दृश्य के बीज भेदाभेद सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता।

भेदाभेदवाद के समर्थक का कहना है कि यद्यपि दृक् एवं दृश्य में भेद है, परन्तु ब्रह्मात्मता की दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, इसलिए दृक्-दृश्य में भेदाभेद मानना चाहिए। उक्त तर्क का अनौचित्य स्पष्ट करते हुए विमुक्तात्मा का कहना है कि यदि दृक् एवं दृश्य ब्रह्म से अभिन्न हुए होते तो दोनों के भेद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अतः भेदाभेद सम्बन्ध की स्थापना भी अनुचित है।

अतः दृक् एवं ब्रह्म में तो अभेद है, परन्तु दृक् एवं मायोत्पन्न जगत् का सम्बन्ध अनिर्वाच्य है। मायिक जगत् का अधिष्ठान विमुक्तात्मा ने आत्मानुभूति को माना है। इसीलिए विमुक्तात्मा ने 'इष्टसिद्धि' के आरम्भ में अज, अभेद, अनन्त एवं आनन्दस्वरूप आत्मानुभूति को महदादि जगत् के मायाचित्र की भित्ति कहा है —

"याऽनुभूतिरजामेयानन्तात्मानन्दविग्रहा।
महदादिजगन्माया चित्रभित्तिं नमामि ताम्॥"

अज्ञान के सम्बन्ध में विमुक्तात्मा ने एक विलक्षण मत को जन्म दिया है। वे अज्ञान की अनेकरूपता स्वीकार करते हैं। विमुक्तात्मा का विचार है कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में उतने ही अज्ञान हो सकते हैं जितने रूपों में उस विषय का प्रत्यक्ष सम्भव है। इस सम्बन्ध में विमु-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्तात्मा का कथन है कि यदि किसी वस्तु के विषय में उत्पन्न हुआ किसी व्यक्ति का अज्ञान नष्ट हो जाता है, तो इससे मूल अविद्या का उच्छेद नहीं होता, अपितु उसके अंश का ही उच्छेद होता है। यही कारण है कि एक वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए रस्सी (रज्जु) में उत्पन्न किसी व्यक्ति का सर्परूप अज्ञान नष्ट होने पर भी किसी दूसरे व्यक्ति को उसी रस्सी में दण्ड, धारा आदि रूप अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार विमुक्तात्मा अज्ञान की अनेकरूपता के पक्षपाती हैं। इस प्रकार विमुक्तात्मा ने अद्वैतवेदान्त के अनेक दुरूह विषयों का स्पष्टीकरण तर्कपूर्ण ढंग से किया है।

o——o

१६. आचार्य अमलानन्द (१३वाँ शतक)

आचार्य अमलानन्द का स्थितिकाल त्रयोदश शतक माना जाता है। इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। इनके गुरु का नाम अनुभवानन्द था। इन्होंने स्वयं भामती की टीका 'वेदान्त कल्पतरु' के अन्त में अपने गुरु का स्मरण किया है —"गुरुमनुभवानन्दं नौम्यपारकृपाम्बुधिम्।" ये यादववंशीय राजा महादेव और राजा रामचन्द्र के समसामयिक माने जाते हैं। देवगिरि के राजा महादेव ने १२६० ई० से १२७१ ई० तक राज्य किया था। उसके अनन्तर उसके भ्राता रामचन्द्र शासनारूढ हुए। १२९४ ई० में अलाउद्दीन का दक्षिण भारत पर आक्रमण हुआ। उस समय राजा रामचन्द्र ने आत्मसमर्पण कर दिया था।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आचार्य अमलानन्द ने आचार्य वाचस्पति की भामतीव्याख्या पर 'वेदान्त कल्पतरु' नाम की सुन्दर टीका लिखी, जिसका रचनाकाल बताया गया है —

"कीर्त्या यादववंशमुन्नयति श्रीजैत्रदेवात्मजे,
कृष्णक्ष्माभृतिभूतलं सह महादेवेन संबिभ्रति ।
भोगीन्द्रे परिभुञ्चति शितिभरप्रोदभूतदीर्घश्रमम्,
वेदान्तोपवनस्य मण्डनकरं प्रस्तौति कल्पद्रुमम् ।।"

इस श्लोक में पूर्वोक्त राजा रामचन्द्र को ही 'कृष्ण' पद से स्मरण किया गया है । उन्होंने 'वेदान्त कल्पतरु' के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों की व्याख्या 'शास्त्रदर्पण' तथा 'पंचपादिका' की व्याख्या 'पंचपादिका दर्पण' की रचना की है । ये तीनों ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में प्रामाणिकता की दृष्टि से सम्मान्य हैं ।

श्री अमलानन्द जी दृष्टिसृष्टिवाद के समर्थक हैं । दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार समस्त प्रपंच ब्रह्म की अवगति के उपाय के रूप में श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का विवेचन स्वीकार किया गया है । वस्तुतः श्रुतियों में सृष्टि का प्रतिपादन पारमार्थिक रूप से नहीं किया गया है । जहाँ आरोप न्याय के द्वारा सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ अपवाद-न्याय के द्वारा उसका निराकरण भी कर दिया गया है । उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अमलानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य में ही होने से सृष्टि के प्रतिपादन में उनका अभिप्राय कदापि नहीं है –

"श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम् ।
ब्रह्मात्मैक्यपरत्वात्तु तासां तन्नैव विद्यते ।।शास्त्रदर्पण १/४/४

इसलिए दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार सृष्टि तात्विक न होकर दृष्टि (ज्ञान) कालिक है–"दृष्टिसमसमया विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवादः ।" इनका कहना है कि जाग्रत्कालिक घटादि के ज्ञानों की गति भी स्वप्नकालिक पदर्थों की गति के समान ही है, क्योंकि अर्थदृष्टि के पूर्व अर्थों में [illegible] नहीं है । [illegible] सिद्ध

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करते हुए समस्त प्रपंच रूप जगत्-सृष्टि को दृष्टि के समकालिक नहीं मानते हैं। इसलिए इस सिद्धान्त का नाम 'दृष्टिसृष्टिवाद' पड़ा है। दृष्टिसृष्टिवादियों का कहना है कि जो पदार्थ कल्पित है, उसकी अज्ञात सत्ता हो ही नहीं सकती। अतः समस्त जाग्रत् प्रपंच को दृष्टिसमकालिक सृष्टि मानने पर घटादि दृष्टि में चक्षु के सन्निकर्ष का अनुविधान प्रत्यय, दृष्टि के पूर्व में घटादि का अभाव होने से नहीं हो सकता। इस लिए स्वप्न के समान जाग्रत्कालीन घटादि सांसारिक पदार्थों का अनुभव भी चाक्षुष नहीं है।

इस प्रकार आचार्य अमलानन्द दृष्टिसृष्टिवाद के मार्गदर्शक के रूप में आविर्भूत हुए। शांकरवेदान्त में इनका उच्च स्थान है। इनकी भाषा, शैली एवं पाण्डित्य भी अपूर्व है।

०——०

१७. आचार्य आनन्दगिरि (आनन्दज्ञान)
(१३वाँ शतक)

ब्रह्मसूत्रादिशांकर भाष्य के ऊपर ऐसी कोई टीका नहीं लिखी गई थी कि संक्षेप में कहे गए आचार्य शंकर के हर एक विषय का सरल एवं विस्तार रूप से स्पष्टीकरण भाष्य के अनुसार हो सके। इस समस्या की पूर्ति करने में आचार्य आनन्दगिरि सफल हुए हैं।

आचार्य आनन्दगिरि का स्थितिकाल १३वीं शताब्दी का मध्यभाग था। इनका दूसरा नाम आनन्दज्ञान था। आनन्दगिरि गुजरात प्रदेश के निवासी थे, इनके गृहस्थाश्रम का नाम जनार्दन था। इन्होंने ब्रह्मसूत्र के अन्त में इस अपने आनन्दज्ञान नाम का उल्लेख स्वयं किया है—

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"शुद्धानन्दांघ्रियुग्मस्मृतिभरनिभृतप्रौढगाढोक्तिरूढा-ऽऽ
नन्दज्ञानप्रणीता जगति मुदमियं सद्धियां संविधत्ताम् ।।"

आचार्य आनन्दगिरि के गुरु का नाम शुद्धानन्द था, जैसा कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र के आरम्भ के मंगल श्लोक में अपने गुरु के नाम का उल्लेख किया है—"शुद्धानन्दमुनीश्वराय गुरवे तस्मै परस्मै नमः ।"

आनन्दगिरि की रचनायें १-दशोपनिषद्शांकरभाष्य पर 'न्याय निर्णय' नामक व्याख्या, २-गीताभाष्य पर व्याख्या, ३-ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर व्याख्या, ४-बृहदारण्यक-वार्तिक की व्याख्या, ५-वेदान्तशतश्लोकी की व्याख्या, ६-उपदेश-साहस्रीदृग्दर्शन विवेक की व्याख्या, ७-तैत्तिरीयोपनिषद् पर सुरेश्वराचार्य कृत वार्तिक की व्याख्या, ८-शंकरदिग्विजय, (स्वतन्त्र ग्रन्थ), ९-शंकराचार्य कृत 'पंचीकरण' पर 'पंचीकरणविवरण' नामक व्याख्या, १०-तत्त्वालोक (स्वतन्त्र ग्रन्थ), ११-गंगापुरी भट्टारक कृत 'पदार्थतत्वनिर्णय' पर व्याख्या, १२-शंकराचार्य कृत 'वाक्यवृत्ति' पर व्याख्या, १३-तर्क-संग्रह (स्वतन्त्र ग्रन्थ) । तर्कसंग्रह का उल्लेख भेद-धिक्कार में किया गया है । आनन्दज्ञानकृत तर्कसंग्रह के आमुख में श्री त्रिपाठी यह लिखते हैं कि—आनन्दज्ञान द्वारिकापीठ के मठाधीश थे । पंचपादिक-विवरण की तत्त्वदीपन टीका के लेखक अखण्डानन्द आनन्दगिरि के पटशिष्यों में से एक थे, क्योंकि तत्त्वदीपन के चतुर्थ श्लोक में वे आनन्दगिरि का "शैलाह्वपंचास्यं सततं भजे" इन शब्दों में उल्लेख किया है ।

आनन्दगिरि कृत 'तर्कसंग्रह' में वैशेषिक दर्शन का विस्तार से खण्डन किया गया है । यह ग्रन्थ तीन अध्यायों में विभक्त है । प्रथमाध्याय में द्रव्य की आलोचना करते हुए द्वैत तत्त्व, सत्त्व, असत्त्व, भाव, अभाव के प्रत्ययों का खण्डन किया गया हैं तथा जल, अग्नि और वायु के द्रव्यों और सर्ग एवं प्रलय, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है । द्वितीयाध्याय में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों की तथा पीलुपाक अथवा पिठरपाक द्वारा इन्द्रिय-अर्थों के परिवर्तन पर ताप के प्रभाव, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ज्ञान

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के स्वभाव, माया और स्वप्न, प्रमाण तथा प्रमा, प्रत्यक्ष, अनुमान, व्याप्ति हेतु, हेत्वाभास, दृष्टान्त, वाद, वितण्डा, जल्प, आगम, उपमान, स्मृति, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रव्यत्व, पाप, पुण्य, आदि की आलोचना की गई है। तृतीयाध्याय में कर्म, जाति, समवाय एवं विभिन्न प्रकार के अभावों के प्रत्ययों का खण्डन किया गया है। इन सब खण्डनों में आचार्य का प्रतिपाद्य विषय वही है, जो श्री हर्ष अथवा चित्सुख का है अर्थात् वैशेषिक जिस किसी भी प्रकार से जगत् प्रपंचों के विभाग, वर्गीकरण अथवा परिभाषा आदि का प्रतिपादन करने का प्रयत्न करें तो वे उसमें सफल किसी भी प्रकार से न हो सके।

यद्यपि आनन्दज्ञान ने अपना तत्त्वालोक प्रकटार्थ के अनुसार लिखा, फिर भी आनन्दज्ञान के सामान्य सिद्धान्त उसके (प्रकटार्थ के) लेखक के अनुरूप नहीं है। आनन्द की स्थिति प्राय: सर्वज्ञात्ममुनि जैसी ही थी, जैसा कि उन्होंने न तो कई अज्ञानों को स्वीकार किया है और न माया एवं अविद्या में कोई भेद माना है। परन्तु जहाँ तक सिद्धान्तलेश में प्रकटार्थ लेखक के बारे में आये उल्लेखों के विवरणों से पता चलता है, प्रकटार्थ के लेखक ने व्यक्तियों के अन्त:करणों को पृथक् स्थान प्रदान किया है और सोचा है कि जिस प्रकार जीव अन्त:करण की अवस्थाओं में शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब द्वारा ज्ञाता रूप हो सकता है, उसी प्रकार ईश्वर भी मायाविकार के द्वारा सब कुछ जान लेने के कारण सर्वज्ञ है। विधि के स्वरूप के बारे में प्रकटार्थ के मतानुसार अपूर्वविधि स्वीकार की गई है।

परन्तु जिस ढंग से आनन्दज्ञान ने 'मुण्डक' एवं 'केन' उपनिषद् में प्रकटार्थ का उल्लेख किया है, वह इस बात का द्योतक है कि या तो वह प्रकटार्थ के लेखक थे और या उन्होंने उस पर कोई टीका लिखी होगी। परन्तु वह इस ग्रन्थ के लेखक नही हो सकते, क्योंकि उन्होंने उसे 'तत्त्वालोक,के लेखन में आदर्श रूप मानने का उल्लेख किया है। अत: यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि उन्होंने उस पर भाष्य लिखा होगा। परन्तु यह आश्चर्यजनक है कि शंकर के कई महत्त्वपूर्ण भाष्यों पर

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

टीका लिखने वाले आनन्दज्ञान ने प्रकटार्थ पर एक अन्य टीका लिखने का कष्ट किया, जो स्वयं शंकरभाष्य पर एक टीका ही है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका इतना सम्मान करने के कुछ विशिष्ट कारण थे और यह उसके किसी विख्यात आचार्य की अथवा उनकी पैतृक श्रृंखला में किसी एक की कृति हो। फिर भी यह नितान्त असंभव है कि यह ग्रन्थ (प्रकटार्थ) द्वादश शतक के मध्य के अनन्तर लिखा गया होगा।

आचार्य आनन्दगिरि (आनन्दज्ञान) का शांकरवेदान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये शांकरभाष्य में वर्णित सूक्ष्मसंक्षिप्त विषयों को सरल प्रक्रियापद्धति से विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं, जिससे शांकरभाष्य को समझने में बहुत सहायता मिलती है। शांकरभाष्य के गूढ एवं अप्रसिद्ध शब्दों के व्युत्पत्तिपूर्वक पर्यायवाची शब्दों को लिखते हैं। अपने मौलिक ग्रन्थों के विषयों की अभिव्यक्ति करने की उतनी महत्ता नहीं है, जितनी कि अन्य आचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थों के सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति करने में है। यह गुण आचार्य आनन्दगिरि में विद्यमान था।

—०—०—

१८. आनन्दपूर्ण (विद्यासागर) (१४ वाँ शतक)

ये पूर्णानन्द सरस्वती, आनन्दपूर्ण तथा विद्यासागर इन तीनों नामों से प्रसिद्ध थे। विद्यासागर इनके पूर्वाश्रम का नाम था। इनके विद्यागुरु का श्वेतगिरि तथा संन्यासदीक्षागुरु का नाम श्री अभयानन्द था। खण्डन की टीका के मंगलश्लोक में इन्होंने श्री श्वेतगिरि को स्मरण किया है—"वन्दे मुनीन्द्रान् मुनिवृन्दवन्द्यान् श्रीमद्गुरून् श्वेतगिरीन् वरिष्ठान् ॥" खण्डन के प्रथम, द्वितीय, तृतीय परिच्छेद के अन्त में

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"इति श्रीमत्परंहसपरिव्राजकाचार्याऽभयानन्दपूज्यपादशिष्येणानन्दपूर्णेन विरचिते खण्डनफक्किकाविभजने" इस प्रकार दीक्षागुरु अभयानन्द का स्मरण किया गया है। इन्होंने प्रायः अधिकतर पुस्तकों की रचना संन्यास-ग्रहण से पूर्व की थी।

आचार्य आनन्दपूर्ण गौडदेशीय गौडब्राह्मण कुल में अवतरित हुए थे। इनका समय १४ वें शतक का प्रथम चरण था। श्रीदीक्षितेन्द्र ने प्रबोधचन्द्रोदय की टीका में न्यायचन्द्रिका का तथा बृहदारण्यकवार्तिक टीका का उल्लेख किया है। श्रीदीक्षितेन्द्र का वर्तमान – समय १५२० ई० माना गया है। अतः इससे पूर्व ही विद्यासागर का समय होना चाहिए। वाराणसी राजकीय पुस्तकालय में न्यायचन्द्रिकाकार के समन्वयसूत्रविवृत्ति की प्रतिलिपि करने की तिथि १४०५ ई० लिखी गयी है, इसलिए इससे पूर्व ही विद्यासागर का समय होना चाहिए। चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वप्रदीपिका में कहीं भी विद्यासागर के किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं हुआ है, चित्सुख का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना गया है। अतः विद्यासागर का समय चतुर्दश शतक का पूर्वार्द्ध ही निश्चित होता है।

रचनाएँ

१-महाविद्याविडम्बना टीका, २-खण्डनखण्डखाद्य की टीका (विद्यासागरी), ३-ब्रह्मसिद्धिव्याख्या (भावशुद्धि), ४- पञ्चपादिका टीका (टीकारत्नम्), ५-पञ्चपादिका विवरण टीका, ६-बृहदरण्यकवार्तिक टीका (न्यायकल्पलतिका), ७-काशिका वृत्ति व्याख्या, (प्रक्रियामञ्जरी), ८-न्यायसार व्याख्या (व्याख्यारत्नम्), ९-मोक्षधर्मव्याख्या, १०-न्यायचन्द्रिका ११-समन्वय विवृत्ति (विवरण टीका)।

विद्यासागर की सभी टीकाएं तथा ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण हैं, परन्तु 'न्यायचन्द्रिका' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इसमें ४ परिच्छेद हैं—समन्वयपरिचच्छेद, अविरोधपरिच्छेद, साधनपरिच्छेद तथा फलपरिच्छेद। प्रथम परिच्छेद में १२ विषयों पर विचार किया गया है—१-स्वतः-प्रामाण्यवाद, २-शक्तिवाद, ३-वेदापौरुषेयत्ववाद, ४-अन्विताभिधानवाद,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

५-सिद्धार्थे वेदप्रामाण्यवाद, ६-स्फोटनिरासवाद, ७-आगमप्रामाण्यवाद, ८-उपमानप्रेमाणान्तरत्वसमर्थन, ९-अर्थापत्ति–प्रमान्तरत्व, १०-अभाव-स्वतन्त्रप्रमाणत्ववाद, ११-प्रमाणलक्षण, १२-अखण्डार्थवाद। द्वितीय-परिच्छेद में ८ विषयों का विचार किया गया है— १-अख्यात्यादि-निराकरण, २-अनिर्वचनीयत्व-निरुक्ति, ३-अविद्याका भावरूपत्व-निरूपण, ४-ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वसाधन, ५-भेददुर्निरूपणत्व, ६-आत्मस्वप्रकाशत्व, ७-तमोऽतिरिक्तपदार्थत्व, ८-परमाणुवादनिराकरण। तृतीयपरिच्छेद में– १-मुक्ति के साधन का विचार, २-भास्करीय-ज्ञानकर्म समुच्चय आदि का निराकरण इन दो विषयों का विचार हुआ है। चतुर्थ परिच्छेद में मुक्ति के स्वरूप का विचार किया गया है।

आचार्य चित्सुख की 'तत्त्वदीपिका' तथा आनन्दपूर्ण की 'न्यायचन्द्रिका' के प्रतिपाद्य विषयों में बहुत समानता है। जिस समय द्वैतवादी मध्वाचार्य ने 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य करके द्वैतसिद्धान्त की स्थापना की थी, उस समय अद्वैतवादी चित्सुखाचार्य ने अपने तत्त्वप्रदीपिका में द्वैतमत का खण्डन करके अद्वैतवाद की स्थापना की। पुनः द्वैतवादी जयतीर्थ ने तत्त्वप्रदीपिका के खण्डनात्मक 'प्रमाणपद्धति,' न्यायसुधादि ग्रन्थों की रचना की। इसके अनन्तर अद्वैतमत की स्थापना में संलग्न आचार्य आनन्दपूर्ण की 'न्यायचन्द्रिका' का उदय हुआ, जो स्पष्टतः 'न्यायसुधा' का खण्डनात्मक रूप है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१६. रामाद्वयाचार्य (१४ वीं शताब्दी)

'रामाद्वयाचार्य' की गणना उन उच्चकोटि के विद्वानों में की जाती है, जिन्होंने अपनी कीर्त्ति द्वारा शांकर-वेदान्त को पल्लवित किया है।

रामाद्वयाचार्य के गुरु का नाम अद्वयाश्रम था। इनके देश तथा माता-पिता के विषय में कुछ भी पता नहीं है। इन्होंने इस विषय में अपने ग्रन्थ में कुछ भी नहीं लिखा। इन्होंने 'वेदान्तकौमुदी' नामक ग्रंथ की रचना की, जो एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में ४ अध्याय हैं। इसमें इन्होंने ब्रह्म-सूत्र के प्रथम चार विषयों पर शांकर भाष्य के विषय वस्तु का विवेचन करते हुए कई वेदान्ती समस्याओं का बड़ सुन्दर ढंग से समाधान किया है। रामाद्वय ने 'वेदान्त कौमुदी' पर 'वेदान्तकौमुदी-व्याख्या' नामक भाष्य भी लिखा है।

शेषनृसिंह ने वेदान्तकौमुदीव्याख्यान की प्रतिलिपि की थी, जिसमें प्रतिलिपि करने की तिथि प्रतिलिपिकार ने १५१२ ई० दी है। अतः यह निश्चित है कि ग्रंथ की रचना इससे पूर्व ही हुई होगी। रामाद्वय ने अपने ग्रन्थ में न्याय एवं वेदान्तके कई प्रमुख लेखकों का उल्लेख किया है जिनमें से एक भी त्रयोदश शतक से परकालीन नहीं हैं। रामाद्वयाचार्य ने 'इष्टसिद्धि' कार मुक्तात्मा का मान्य रूप से उल्लेख किया है विमुक्तात्मा का समय त्रयोदश शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। रामाद्वय ने अपने ग्रंथ में (वेदान्तकौमुदीव्याख्यान में) जनार्दन का उल्लेख किया है, परन्तु जनार्दन आनन्दज्ञान का गृहस्थ आश्रम का नाम था, परन्तु जनार्दन का काल मध्य त्रयोदश शताब्दी है। अतः यह निश्चित होता है कि रामाद्वय का काल चतुर्दश शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही है।

रामाद्वय के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञानप्रक्रिया के क्षणों का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अदृष्ट अन्तःकरण को क्षुब्ध करने का अवसर प्राप्त करता है तथा उसके परिणाम–स्वरूप अन्तःकरण वृत्तिसंज्ञक एक विशिष्ट अवस्था में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण के मूल में स्थित शुद्ध चैतन्य मानो मलिन एवं आवृत

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अवस्था में था, तथा अन्तःकरण के वृत्ति में परिणत होते ही चैतन्य उज्ज्वल होकर अपने आवश्यक आवरण को क्षण भर के लिए भेद डालता है। अतः वृत्ति मूलगत चैतन्य को और अधिक आवृत्त नहीं रख पाती, अपितु जिस विषय पर वृत्ति का अभ्यास है उस विषय पर वह चैतन्य के प्रकाश के पारदर्शक वाहक का कार्य करती है, और उसके परिणामस्वरूप विषय की विषयपरक अभिव्यक्ति होती है जो वृत्ति की परिणति के प्रथम क्षण में चैतन्य की उज्ज्वलता (प्रकाशता) से पृथक् होती है।

रामाद्वय की प्रमा की परिभाषा भी धर्मराजाध्वीन्द्र की परिभाषा से भिन्न है। रामाद्वय प्रमा की परिभाषा ऐसे अनुभव के रूप में करते हैं, जो अपने विषय को मिथ्या रूप से प्रस्तुत नहीं करता है (यथार्थानुभवः प्रमा) और प्रमाण उसे बताते हैं जो प्रमा को प्राप्त कराता है। शाब्दिक दृष्टि से यह परिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र की परिभाषा से बिल्कुल भिन्न है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार प्रमा के लिए दो आवश्यक अवस्थाएं ये हैं (१) यह पहले से ज्ञान न हो (अनधिगत) तथा (२) यह व्याघात (बाध) रहित हो।

कुछ विद्वानों का मत है कि 'वेदान्तकौमुदी' की मान्यताओं को किसी भी अर्थ में मौलिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे पद्मपाद कृत पंचपादिका तथा प्रकाशात्मा कृत पंचपादिका-विवरण में वर्णित विषयों की व्याख्या मात्र है। प्रत्यक्षादि के संपूर्ण सिद्धान्त के विकास का श्रेय पञ्चपादिकाविवरण को दिया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षादि सिद्धान्त के समस्त सारभूत विषयों का अवलोकन उस कृति में किया जा सकता है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२०. आचार्य शंकरानन्द (१४वाँ शतक)

चतुर्दश शतक के विद्वानों में आचार्य शंकरानन्द का उच्च स्थान हैं। इन्होने जो टीकाएँ लिखीं हैं वे विद्वत्ता पूर्ण एवं महत्व की हैं।

आचार्य शंकरानन्द के माता-पिता एवं देशादि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हैं। ये आचार्य विद्यारण्य के शिक्षा गुरु थे। विद्यारण्य ने पञ्चदशी के मंगल श्लोक में आचार्य शंकरानन्द का गुरु रूप से स्मरण किया हैं—

"नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने ।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥"

इसी प्रकार 'विवरणप्रमेय-संग्रह' के मगल श्लोक में विद्यारण्य ने आचार्य शंकरानन्द का बड़े आदर एवं श्रद्धा से स्मरण किया है—

"स्वमात्रयाऽऽनन्दयदत्र जन्तून् सर्वात्मभावेन तथा परत्र ।
यच्छंकरानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति ॥"

आचार्य शंकरानन्द की रचनाएँ

१- भगवद्गीता पर विद्वत्तापूर्ण 'शंकरानन्दी' नामक व्याख्या, २-उपनिषदों के आधार पर लिखा गया विशाल काय 'आत्मपुराण' नामक ग्रन्थ, ३-ब्रह्मसूत्र पर 'ब्रह्मसूत्रदीपिका' नामक टीका, तथा ४-१०८ उपनिषदों पर उपनिषद्दीपिका नामक विशद व्याख्या।

इनके गुरु का नाम आनन्दात्म सरस्वती था। शंकरानन्दी गीता व्याख्या के आरम्भ में इन्होंने गुरु का स्मरण किया है—

"भक्त्या प्रणम्य स्वगुरुमानन्दात्मसरस्वतीम् ।
क्रियते श्रीमद्भगवद्गीता---तात्पर्यबोधिनी ॥"

—०—

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२१. आचार्य भारतीतीर्थ (१३ वाँ शतक)

आचार्य भारतीतीर्थ माधवाचार्य के गुरुगणों में से थे। इनका समय इतिहासकारों ने चतुर्दश शतक निश्चित किया है और इनको दक्षिणात्य भी माना है। इनके गुरु का नाम विद्यातीर्थ था। इन्होंने स्वयं वैयासक-न्यायमाला के मंगल श्लोक में अपने गुरु का स्मरण किया है।

"प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम्।
वैयासकन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्॥"

इनके द्वारा विरचित 'वैयासकन्यायमाला' एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है। भारतीतीर्थ के दो अन्य शिष्य थे—परमात्मानन्दतीर्थ और रामानन्दतीर्थ परमात्मानन्दतीर्थ ने 'अवधूतगीता' नामक ग्रन्थ की रचना की है। रामानन्दतीर्थ ने विष्णुभट्ट के 'ऋजुविवरण' पर 'अत्यन्तभावदीपिका' नाम की टीका लिखी है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अनुष्ठान द्वारा विद्या की प्राप्ति होती है, यह सब श्रुति और स्मृतियों से निश्चित है। इस सम्बन्ध में आचार्य भारतीतीर्थ का कहना है कि जिस प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन से युक्त पुरुष करता है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना से भी कर सकता है। "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते" इत्यादि अनेक श्रुति और स्मृतियों के पर्यवलोचन से यह ज्ञात होता है कि जैसे श्रवण नामकसांख्य शब्द से कहलाने वाला मनन आदि सहकृत वेदान्त-विचार ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति में हेतु है, वैसे ही योग शब्द से कहलाने वाली निर्गुण ब्रह्मोपासना भी ब्रह्म विद्या में उपयोगी (साधन) है। यदि शंका हो कि जो निर्गुण पदार्थ है, उसकी उपासना ही नहीं हो सकती; तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रश्नोपनिषद् में शैब्य के प्रश्न में—"यः पुनरेतम्" अर्थात् जो इस प्रकार अकार, उकार और मकरात्मक तीन मात्राओं से युक्त ओंकार से सूर्यान्तर्गत परमपुरुष का ध्यान करता है, इस श्रुति से निर्गुण ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किया है और ध्यान वाक्य के अनन्तर, इस जीवघन से उत्कृष्ट बुद्धि के साक्षी रूप से हृदयाकाश में वर्तमान निरुपाधिक पुरुष का वह ध्याता पुरुष साक्षात्कार करता है, इस प्रकार के उपासना के फलबोधक वाक्य में 'ईक्षति के कर्मरूप से निर्दिष्ट जो निर्गुण ब्रह्म है, वही उपासना वाक्य में ध्यान का कर्म (विषय)है, अन्य नहीं, क्योंकि 'कार्यकारणात्मक जो ईक्षति और ध्यान है, उनका एक विषय होता है, यह नियम है। इस प्रकार से उक्त ही अर्थ का ईक्षतिकर्माधिकरण में भगवान् भाष्यकार ने भी स्वीकार किया है। तापनीय, कठबल्ली आदि अन्य श्रुतियों में भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना को अंगीकार किया गया है, सूत्रकार ने भी उपास्य गुणों का निश्चय करने के लिए आरब्ध गुणोपसंहार पाद में "आनन्दादय: प्रधानस्य" इस सूत्र से निर्गुण ब्रह्म में ज्ञान, आनन्द आदि भावरूप गुणों का और "अक्षरधियां त्वविरोध:" इत्यादि सूत्र से अस्थूलत्व आदि अभाव रूप धर्मो का उपसंहार दिखाया है।

यदि शंका हो कि यदि आनन्दादि गुणों का उक्त सूत्रों से ब्रह्म में उपसंहार किया गया है, तो फिर इसी से उपास्य ब्रह्म निर्गुण नहीं हो सकता, तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि आनन्द आदि अस्थूलत्व आदि गुणों से उपलक्षित अखण्डैकरस "मैं" ही ब्रह्म हूं इस प्रकार निर्गुणत्व के अनुपमर्द से उपासना हो सकती हैं।

इस प्रकार आचार्य भारतीतीर्थ निर्गुण ब्रह्मोपासना को विद्या-प्राप्ति का साधन मानते हैं और निर्गुणब्रह्म की उपासना का समर्थन भी करते हैं।

o——o

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२२. आचार्य विद्यारण्य (१४वाँ शतक)

विवरण-प्रमेय-संग्रह तथा पञ्चदशी आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रणेता श्री स्वामी विद्यारण्य मुनि उन महान् धुरन्धर विद्वानों में थे, जिनका नाम आज भी विद्वत्समाज में बड़े आदर से लिया जाता है। ये १३३५–३६ ई० में दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रदेश में तुंगभद्रा नदी के तीर पम्पासुर के पास श्री बीरबुक्क राजा का विजयनगर साम्राज्य की स्थापना कर माधवाचार्य मुख्यमन्त्रीपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। इन्हीं के पुरुषार्थ से दक्षिण भारत में यवन शासक परास्त हुए। १२९५-१३८५ ई० माधवाचार्य का जीवन काल है, ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं और कुछ लोग कहते हैं कि श्री माधवाचार्य सौ वर्ष से अधिक जीवित थे। इनके पिता का नाम मायण तथा माता का नाम श्रीमती था। वेदभाष्यकार सायण तथा भोगनाथ इनके दो सहोदर भाई थे। जहां कहीं इनके नाम के साथ 'सायण' विशेषण दिया गया है वह कुल की रीति के अनुसार इन्हीं के नाम का विशेषण समझना चाहिये। भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था। इनका सूत्र बोधायन तथा वेद यजुर्वेद था।

माधवाचार्य ही संन्यास लेकर विद्यारण्य नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने शेष जीवन शृंगरीमठ के अधिष्ठाता के रूप में बिताया। इनके गुरु के विषय में विचारणीय है। इन्होंने विवरण प्रमेय संग्रह नामक ग्रन्थ के आरम्भ में—"श्रीशंकरानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद् यतयो विशन्ति' तथा पञ्चदशी ग्रन्थ के आरम्भ में "नमः श्री शंकरानन्द गुरुपादाम्बुजन्मने" कहकर श्री शंकरानन्द जी को नमस्कार किया है, जबकि विद्यातीर्थ के लिए ग्रन्थ का समर्पण किया है तथा सायणाचार्य ने वेदभाष्य के आरम्भ में विद्यातीर्थ को नमस्कार किया है। अतः विद्यातीर्थ दोनों के कुल गुरु रहे होंगे। 'जैमिनीयन्यायमाला' के आरम्भ में भारती तीर्थ को नमस्कार किया गया है। अतः माधवाचार्य के गुरु भारतीतीर्थ प्रतीत होते हैं और परमगुरु विद्यातीर्थ तथा शंकरानन्द दीक्षागुरु। पराशरमाधव ग्रन्थ के आरम्भ में [illegible] स्वयं दिया है

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता ।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ ॥
यस्य बोधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी ।
भारद्वाजं कुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः ॥"

विद्यारण्य स्वामी के ग्रन्थ १-विवरणप्रमेयसंग्रह, २-बृहदारण्यकवार्तिकसार, ३-अनुभूति प्रकाश, ४-पञ्चदशी, ५-जीवन्मुक्तिविवेक, ५-ब्रह्मगीता, ७-माधवीयधातुवृत्ति, ८-पराशरमाधव, ९-कालमाधव, १०-सर्वदर्शनसग्रह, ११-शंकरदिग्विजय, १२-स्कन्द पुराणान्तर्गत सूतसंहिता की अद्वैततत्त्वप्रकटनपटीयसा विशद् टीका, १३-अपरोक्षानुभूति टीका, १४-ऐतरेयोपनिषद्दीपिका, १५-तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका, १६-छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, १७-वैयासकन्यायमाला, १८-सेश्वरमीमांसा १९-शातातपस्मृति टीका, २०-दुर्वासनाप्रतीकारः । विद्यारण्य स्वामी के शिष्य रामकृष्ण ने पञ्चदशी पर संक्षिप्त टीका लिखी है ।

विद्यारण्य स्वामी अत्यन्त गम्भीर भावों को सरल भाषा में अभिव्यक्त करने के लिए समग्र सस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं । वेदान्तजगत् के लिए विद्यारण्य स्यामी के दो प्रमेय ग्रन्थ बहुत महत्त्व के हैं, एक विवरणप्रमेयसंग्रह और दूसरी पञ्चदशी। विवरणप्रमेयसंग्रह ग्रन्थ में कुल ९ वर्णक हैं । प्रथम वर्णक में 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' की नियम विधिता का प्रतिपादन करते हुए जीव और ब्रह्म के ऐक्यरूप विषयादि अनुबन्धों का दिग्दर्शन कराकर अध्यास तथा जीवब्रह्म भेद, प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृत्व आदि की व्यवस्था एवं अहंकार तथा अविद्या का परिचयादि मुख्य-मुख्य प्रारम्भिक विषयों का विवेचन किया गया है । द्वितीय वर्णक में वेदान्तशास्त्र की सार्थकता दिखलाते हुए पूर्वमीमांसा से गतार्थत्व का निराकरण किया गया है । तृतीय वर्णक में वेदान्तशास्त्र के आरम्भ की उपयोगिता को पुष्ट करने के लिए "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र के पदों की विस्तृत व्याख्या करते हुए ज्ञानकर्मसमुच्चय के मुक्तिसाधनत्व का निराकरण किया गया है। प्रथमं वर्णक में संक्षेपतः सूचित अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध रूप अनुबन्ध चतुष्टय का चतुर्थं

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वर्णक में विस्तृत रूप से प्रदर्शन किया गया है। पञ्चम वर्णक में ब्रह्म के स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण दिखलाए गए हैं। छठे वर्णक में लक्षणों का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करने की आवश्यकता दिखलायी गयी है। सातवें वर्णक में "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र का ब्रह्म के अस्तित्व में प्रमाण दिखलाने के तात्पर्य में व्याख्यान किया गया है। आठवें वर्णक में सिद्धस्वरूप वस्तु का बोध कराने में शब्द का सामर्थ्य प्रतिपादित किया गया है तथा सातवें वर्णक में दिये गये प्रमाणों का तात्पर्य ब्रह्म में नहीं हो सकता, इस आशंका का उत्थानपूर्वक खण्डन किया गया है। नवम वर्णक में उन वादियों के मत का खण्डन किया गया है, जिनका यह कहना है कि शब्दमात्र की कार्यान्विति में शक्ति होती है: अतः ब्रह्म भी कर्मकाण्ड का ही अंग है।

विद्यारण्य की विशेषता यह है कि उन्होंने श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के अतिरिक्त शुद्धिकर्त्री उपासना को भी मोक्षसाधन के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु आगे चल कर उपासना को भी ये भ्रम ही मानते हैं। अन्तर इतना है कि निर्गुणोपासना संवादीभ्रम है तथा सगुणोपासना विसम्वादीभ्रम है। जो भ्रम, भ्रम होते हुए भी परिणाम में इष्टवस्तु की उपलब्धि कराता है, उसे सम्वादी भ्रम कहते हैं। अन्य सगुणोपासनाएं विसम्वादी भ्रम के अन्तर्गत आती हैं। निर्गुण ब्रह्म की उपासना सम्वादी-भ्रम होने पर ब्रह्मसाक्षात्कार में सहायक है। उक्त क्रम मध्यम कोटि के अधिकारियों के लिए ही है। उत्तम कोटि के अधिकारियों के लिए तो श्रवणादि की ही व्यवस्था है।

शांकरवेदान्त के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य का आभासवाद, पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्मा का प्रतिबिम्बवाद एवं वाचस्पतिमिश्र का अवच्छेदवाद सिद्धान्त प्रचलित है। विद्यारण्य प्रतिबिम्बवाद के अनुयायी प्रतीत होते हैं। विद्यारण्य के अनुसार माया में प्रतिबिम्बित चेतन को ईश्वर एवं अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन को जीव कहते हैं। विद्यारण्य के अनुसार माया एवं अविद्या में यही भेद है कि माया शुद्ध सत्त्वमयी है एवं अविद्या मलिनसत्त्वमयी।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२३. आचार्य अखण्डानन्द (१५वाँ शतक)

आचार्य अखण्डानन्द उच्च कोटि के उन विद्वानों में थे, जिन्होंने शांकर-वेदान्त को नई दिशा प्रदान की है। अतः इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य का जन्मस्थान एवं इनके माता-पिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। इनके गुरु का नाम अखण्डानुभूति था। दासगुप्त के मतानुसार अखण्डानन्द के गुरु आनन्दगिरि थे। स्वामी अखण्डानन्द विद्यारण्य के परवर्ती थे, क्योंकि 'तत्त्वदीपन' में विवरणप्रमेय-संग्रह का इन्होंने उल्लेख किया है। नृसिंहाश्रम कृत विवरण-भाव-प्रकाशिका-व्याख्या में तत्त्वदीपन का उल्लेख हुआ है। नृसिंहाश्रम का समय सोलहवीं शताब्दी मानी जाती है। अतः अखण्डानन्द का समय १५वीं शताब्दी सिद्ध होती है।

पद्मपादाचार्य कृत 'पञ्चपादिका' पर प्रकाशात्मयति ने 'पञ्चपादिका विवरण' नामक व्याख्या लिखी थी, उस पञ्चपादिका विवरण पर इन्होंने 'तत्त्वदीपन' नामक व्याख्या लिखी है तथा वाचस्पतिकृत भामती पर अखण्डानन्द ने 'ऋजुप्रकाशिका' नामक टीका लिखी है और मुक्ति-सोपान एवं अद्वैतरत्नकोश भी इनकी रचनाएं हैं।

आचार्य अखण्डानन्द का मत सिद्धान्तलेश-सग्रह पृ० १७५ पर उल्लिखित है, वहाँ पर "अनुमेयादौ सुषुप्तिव्यावृत्तिः" इस विवरण वाक्य का तत्त्वदीपन में यह अर्थ किया गया है कि अनुमेयादि विषय में अनुमिति आदि परोक्ष-ज्ञान से (पुरुषगत) अज्ञान की निवृत्ति होती है। इनके मत में विषय को आवरण करने वाले अज्ञान दो प्रकार के होते हैं—एक तो विषय में रहने वाला रज्जु आदि क विक्षेप का (सर्पादिरूप विवर्तका) उपादान-कारणभूत कार्य द्वारा कल्पित अज्ञान और दूसरा 'मैं इसे नहीं जानता हूँ (इदमहं न जानामि)' इस प्रकार से अनुभूयमान पुरुष में रहने वाला अज्ञान। जो पुरुष में रहने वाला अज्ञान है, वह अधिष्ठानभूत रज्जु आदि विषय के साथ तादात्म्यापन्न सर्पादि विशेष का उपादान नहीं हो सकता और जो विषय में रहने वाला अज्ञान है, उसका

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'मैं इसे नहीं जानता हूं' "(इदमहं न जानामि)" इस प्रकार साक्षी रूप प्रकाश के साथ सम्बन्ध नहीं है इसलिए अज्ञान के दो भेद मानना अत्यन्त आवश्यक है।

दो प्रकार के अज्ञान होने पर और परोक्षस्थल में वृत्ति का निर्गम न होने से दूर देश में स्थित वृक्ष में शिष्ट के वाक्य से परिमाण विशेष का अवगम होने पर भी उस परिमाण से विपरीत परिमाणरूप (अल्पपरिमाणरूप) विक्षेप देखा जाता है, अतः विषयगत अज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी पुरुषगत अज्ञान की निवृत्ति होती ही है। क्योंकि 'मैं शास्त्रोक्त अर्थ को नहीं जानता हूं' (शास्त्रार्थं न जानामि) इस प्रकार अनुभूत शास्त्रार्थ के अज्ञान की शास्त्र के अर्थ के उपदेश के अनन्तर निवृत्ति होती है, ऐसा अनुभव होता है। इसी अभिप्राय से उक्त विवरण-वाक्य कहा गया है।

o———o

२४. आचार्य प्रकाशानन्द (१५वाँ शतक)

आचार्य प्रकाशानन्द का समय १५वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि अप्पयदीक्षित ने अपने सिद्धान्तलेश-संग्रह में इनके मत का उल्लेख किया है। अप्पयदीक्षित का समय १५५० ई० है, अतः इनसे पूर्ववर्ती ही प्रकाशानन्द को मानना होगा। कुछ इतिहासकार प्रकाशानन्द का समय १५५०–१६०० ई० मानते हैं परन्तु उपर्युक्त आधार पर यह मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इनके देश तथा माता-पिता आदि के विषय में कुछ तथ्यतः ज्ञात नहीं होता, क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थ में इस विषय में कुछ भी नहीं लिखा। आचार्य प्रकाशानन्द

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के गुरु का नाम आचार्य ज्ञानानन्द था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि प्रकाशानन्द अद्वैतानन्द के शिष्य थे, परन्तु यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि 'अद्वैतानन्द' १२वीं शताब्दी में थे और प्रकाशानन्द का समय १५वीं शताब्दी था। दोनों के मध्य में दो शताब्दी का अन्तर है, अतः प्रकाशानन्द के गुरु अद्वैतानन्द थे, यह सर्वथा असंभव प्रतीत होता है:—

आचार्य प्रकाशानन्द विरचित 'वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली' नामक ग्रन्थ दृष्टिसृष्टिवाद पर ही आधारित है। इन्होंने स्वयं इसी बात को ध्वनित किया है।

"अद्वैतानन्दसन्दोहा सत्यज्ञानादिलक्षणा।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥"

अज्ञान के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए आचार्य प्रकाशानन्द ने उसे वेद से सिद्ध एवं लौकिक प्रत्यक्षादि से सिद्ध न मानकर काल्पनिक माना है। अपने मत की पुष्टि करते हुए प्रकाशानन्द का कहना है कि अज्ञान को वेद-सिद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि वेद के कर्मकाण्ड का विषय कर्म मात्र है, एवं वेदान्त का विषय एवं फल ब्रह्म है। किन्तु अज्ञान के सम्बन्ध में उक्तस्थिति का अभाव होने के कारण अज्ञान को वेद-सिद्ध नहीं माना जा सकता। अज्ञान के लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने का निराकरण करते हुए प्रकाशानन्द का तर्क है कि अज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हुआ होता तो इस प्रकार के विवाद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अज्ञान को कल्प्य मानने के लिए प्रकाशानन्द का कहना है कि जो ईश्वर, असंग, उदासीन एवं स्वानन्दतृप्त है, उसके द्वारा असत्य एवं अनेकविध सुखदुःखादिमय प्रपञ्चरूप जगत् की सृष्टि अनुपपन्न है। अतः विना अज्ञान के प्रपञ्चमय जगत् की रचना अनुपपन्न होने के कारण अज्ञान की कल्पना करना अपेक्षित ही है। इसीलिए अज्ञान वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावलीकार की दृष्टि से कल्प्य है।

प्रकाशानन्द ने अविद्या को जीवाश्रया एवं ब्रह्म-विषयणी कहा है। शुद्धमुक्त-स्वभाववाला भी ईश्वर अज्ञानोपहित होकर जीवभाव को प्राप्त

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होता है तथा देव, तिर्यक् एवं मनुष्यादि की देह का निर्माण करके उन्हीं के उपकरण ब्रह्माण्डादि चतुर्दश भुवनों की सृष्टि करता है। अतः ईश्वर का स्रष्टृत्व अज्ञान के कारण ही सिद्ध होता है।

दृष्टिसृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण प्रकाशानन्द जगत् की सत्ता को दृष्टिमात्र ही मानते हैं, तात्त्विक नहीं। वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली पर प्रकाशानन्द के शिष्य नानादीक्षित ने 'सिद्धान्त-दीपिका' नामक टीका लिखी है।

२५. शंकरमिश्र (१५वाँ शतक)

श्री शंकर मिश्र मिथिला के उन विद्वानों में से एक हैं, जिनका नाम दर्शनशास्त्र के इतिहास में सूर्य के समान प्रकाशमान है।

इनका जन्म १५वें शतक में दरभंगा जिला के सिद्धविद्यापीठ 'सरिसव' नामक ग्राम में श्रोत्रिय ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम 'भवनाथ' मिश्र था। भवनाथ मिश्र व्याकरण, न्याय, वेदान्त, मीमांसा आदि दर्शनों के पारंगत विद्वान् थे। मिथिला में अयाची मिश्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। शंकरमिश्र के माता का नाम भवानी था। इनके पितृव्य जीवनाथ मिश्र भी दर्शन के महापण्डित थे। शंकरमिश्र के पाण्डित्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रसिद्ध उक्ति ही पर्याप्त है—

"बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्॥"

आगे भी इनके कुल में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् हुए, आज तक यह परम्परा कुछ अंश में जीवित है। इनके द्वारा स्थापित सिद्धेश्वरी का मन्दिर आज भी विद्यमान है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इनकी रचनाएं

१-उपस्कार (कणाद सूत्रों की टीका), २-कणादरहस्य (प्रशस्तपाद भाष्य की व्याख्या माने जाने पर भी स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ), ३-आमोद (कुसुमाञ्जलि की व्याख्या), ४-कल्पलता (आत्मतत्त्व-विवेक की व्याख्या), ५-आनन्द वर्धन, (शाङ्करी) खण्डनखण्डखाद्य की प्रसिद्ध व्याख्या, ६-कण्ठाभरण की टीका न्यायलीलावती की व्याख्या, ७-मयूख (तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्या) ८-वादिविनोद (वाद विषय पर मौलिक ग्रन्थ), ९-भेदरत्न प्रकाश (न्यायवैशेषिक सिद्धान्त का प्रतिपादक और हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन करने वाला मौलिक ग्रन्थ)।

खण्डनखण्डखाद्य पर इनकी शांकरी व्याख्या श्री हर्ष के खण्डन की अत्यन्त प्रसिद्ध टीका है। खण्डन के गूढार्थों को सरल बनाने में यह टीका सर्वथा सफल है। इसके विना खण्डन की पंक्तियों और भावों को समझना अत्यन्त कठिन था। इस की व्याख्या की शैली अत्यन्त प्रौढ है। ये प्रतीक के अवतरण में ही वहां के भावों को अत्यन्त सूक्ष्म और स्पष्ट सुवोध शैली में व्यक्त कर देते हैं। इनकी शास्त्रीय प्रतिभा व्यापक एवं विलक्षण है। शंकरमिश्र ने स्थल-स्थल पर आलोचना भी की है, परन्तु इससे खण्डन की महत्ता और भी वढ गयी है।

शंकरमिश्र का भी मत वाचस्पति मिश्र की तरह है अर्थात् जिस शास्त्र या दर्शन पर टीका या स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखते हैं, वही इनका निजी सिद्धान्त प्रतीत होने लगता है। अतः इनको किसी शास्त्र या र्शन के किसी विशेष सिद्धान्त का अनुयायी कहना संभव नहीं है॥

o———o

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२६. प्रत्यक्स्वरूप भगवान् (१५वाँ शतक)

चित्सुखी ऐसे उच्चकोटि के महत्वपूर्ण ग्रन्थ के व्याख्याता से ही ज्ञात होता है कि प्रत्यकस्वरूप भगवान् की गणना धुरन्धर विद्वानों में थी। प्रत्यग्रूप भगवान् तथा प्रत्यक्स्वरूपभगवान् दोनों नामों से तत्त्वदीपिका के व्याख्याता 'नयनप्रसादिनी' कार का उल्लेख पाया जाता है। इनके गुरु का नाम 'प्रत्यक्प्रकाश' था। परमगुरु का नाम 'सत्यप्रकाश' तथा विद्यागुरु का नाम 'मानसतीर्थ' था। १९३७ ई० में निर्णयसागर से प्रकाशित 'प्रमाणमञ्जरी' की प्रस्तावना में म० रा० तैलङ्ग महाशय लिखते हैं—"श्री प्रत्यग्रूपभगवतः समयस्तु ख्रिस्ताब्दीयपञ्चदशशतक (१५०० ई०) इति केचिदाधुनिका इतिहासज्ञाः।" अर्थात् आधुनिक इतिहासकारों ने प्रत्यग्रूप भगवान् का समय १५०० ई० बताया है। किन्तु दूसरे विद्वानों का कहना है कि प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने चित्सुखाचार्य के परवर्ती किसी ग्रन्थकार का उल्लेख नहीं किया, अतः इनका समय १४ वीं शताब्दी मानना चाहिये।

नयनप्रसादिनी की एक हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस में सं० १५४६ (१४९० ई०) की लिखी हुई मिलती है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अनन्तर प्रत्यक्स्वरूप भगवान् कभी भी नहीं हो सकते है, प्रत्यक्स्वरूप भगवान् अपनी व्याख्या में उद्योतकर, वाचस्पति, भासर्वज्ञ, उदयनाचार्य, वल्लभाचार्य, श्रीहर्ष, शालिकनाथ, भवनाथ आदि का उल्लेख करते हैं। वे सभी तत्त्वप्रदीपिका में भी साक्षात् या परम्परया उल्लिखित ही हैं। उससे अधिक पार्थसारथिमिश्र,वादीन्द्र, भट्टशम्भु आदि का निर्देश किया है। सुखप्रकाशादि का नामतः उल्लेख तो नयनप्रसादिनीकार ने नहीं किया, किन्तु यत्र- तत्र केचित् पद से चित्सुखी के किसी दूसरे व्याख्याता की ओर संकेत अवश्य किया है। बहुत सम्भव है कि वे केचित् सुखप्रकाश ही हों।

सरस्वती भवन बनारस की हस्तलिखित प्रतियों में नयनप्रसादिनी व्याख्या के नाम 'नयनमोदिनी' 'मानसनयन प्रसादिनी'

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'भावप्रदीपिका' भी मिलते हैं। नयनप्रसादिनी जैसी सफल एवं प्रौढ व्याख्यायें बहुत कम हैं। इस नयन-प्रसादिनी टीका का प्रकाशन सर्व प्रथम १९१५ ई० में हुआ था।

---

२७. आचार्य नृसिंहाश्रम (१६ वां शतक)

आचार्य नृसिंहाश्रम का शांकरवेदान्त में उच्चतम स्थान है। ये उच्चकोटि के दार्शनिक एव प्रौढ विद्वान् थे। इतिहासकारों ने इनका समय सोलहवीं शताब्दी निश्चित किया है। ये दक्षिण भारत में रेवातट के निवासी थे, इनके गुरु का नाम जगन्नाथाश्रम था। वेनिस के मत में प्रकाशानुभव, प्रकाशात्मन्, और नृसिंहाश्रम में कोई अन्तर नहीं है।

रचनाएँ

१-वेदान्ततत्त्वविवेक, २-अद्वैतदीपिका, ३-भेदधिक्कार, ४-वेदान्त-रत्नकोश, ५-पञ्चपादिका-विवरण पर 'भावप्रकाशिका' टीका, ६-संक्षेपशारीरक पर 'तत्त्वबोधिनी' व्याख्या, ७-नृसिंह विज्ञान, ८-वैदिक सिद्धान्त संग्रह, ९-अद्वैतपञ्चरत्न, १०-अद्वैतबोधदीपिका, ११- अद्वैतवाद १२-वाचारम्भण। वेदान्ततत्त्व विवेक पर तत्त्वविवेकदीपन तथा भट्टोजिकृत 'तत्त्व विवेकदीपन' नामक दो महत्वपूर्ण टीकाएं हैं।

भट्टोजिदीक्षित के घर में प्रायः सभी इन्हीं के शिष्य थे। भट्टोजिदीक्षित नृसिंहाश्रम से प्रभावित होकर ही अद्वैतमतावलम्बी बने थे। नृसिंहाश्रम अपने समकालीनों के मध्य अत्यधिक सुविख्यात थे। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि इन्होंने अद्वैतवेदान्त में किन्हीं नवीन विचारों

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को प्रचलित किया हो। माया के स्वरूप का एवं उसकी रचना का तथा जिस प्रकार से माया को जगत्-प्रपञ्च का उपादान माना जा सकता है, उसका अन्वेषण करने की अपेक्षा इनकी रुचि ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्य तथा जगत्-प्रतीति के मिथ्या स्वरूप पर बल देने में अधिक है। जगत्-प्रतीति के मिथ्यात्व की परिभाषा उसके प्रकट होने के आश्रय में उसके अभाव के रूप में ही करते हैं (प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतितोगित्वं मिथ्यात्वम् वे० त०वि०)। जब शुक्ति रजतवत् प्रतीत होती है तो रजत् सत् प्रतीत होता है, परन्तु सत्–रजत्–स्वरूप नहीं हो सकता, इसी प्रकार जब-जब हम जगत् प्रतीति को सत् मान लेते हैं तो जगत् प्रतीति भी सत् स्वरूप नहीं हो सकती, उनके साथ उसका ऐक्य अवश्य ही मिथ्या है। उसी प्रकार स्वप्रकाश आत्मा में विषयी–परकता अथवा अहंकारी धर्मों की प्रतीति भी मिथ्या है, क्योंकि दोनों विल्कुल भिन्न हैं तथा उनका ऐक्य नहीं हो सकता है। तथापि नृसिंहाश्रम नैयायिक तर्कों अथवा अनुभव के उल्लेख के द्वारा यह प्रदर्शित नहीं कर सकते कि विषयपरकता अथवा अहंकार (जिसे वे अन्तःकरण भी कहते हैं) आत्मा से भिन्न है, इस महत्वपूर्ण विषय को सिद्ध करने के लिए वे मूलभूत उपनिषद् वचनों का आश्रय लेते हैं।

प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप के स्पष्टीकरण में वे वैसा प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि उनके शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अपनी वेदान्त परिभाषा में प्रस्तुत किया है। वे आत्मा को सुख रूप मानते हैं और सुख तथा आत्मा में भेद नहीं मानते। नृसिंह की अज्ञान की परिभाषा चित्सुख की अज्ञान की इस परिभाषा के समान ही है कि अज्ञान अनादि एवं प्रपञ्च का उपादान कारण है, जिसकी निवृत्ति यथार्थज्ञान द्वारा संभव है। इस प्रकार व्यवहारतः वेदान्त को प्रस्तुत करने में उनकी कोई नवीन तर्क–पद्धति नहीं है। इनके भेद-धिक्कार में भेदखण्डन के उनके प्रयासों में उनके महान् पूर्वज श्रीहर्ष और चित्सुख उनके पूर्वगामी थे।

शांकरमतानुसार प्रपञ्च में मिथ्यात्व स्वीकार किया गया है। इस विषय में पूर्वपक्ष होता है कि प्रपञ्च में रहने वाला मिथ्यात्व यदि

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्य है तो अद्वैत ब्रह्म की क्षति होगी अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध नहीं होगा, द्वैतापत्ति होगी, इसलिये वेदान्ती को उसे (मिथ्यात्व को) मिथ्या ही कहना होगा। इस परिस्थिति में प्रपंच की सत्यता का निरास कैसे होगा ? क्योंकि ब्रह्म का मिथ्याभूत प्रपञ्चतादात्म्य प्रपञ्चशून्यता का विरोधी नहीं है, अतः वेदान्त के अनुसार ही मिथ्याभूत मिथ्यात्व सत्यत्व का विरोधी नहीं हो सकता। उक्त शंका का समाधान करते हुए अद्वैतदीपिकारकार नृसिंहाश्रम का कहना है कि मिथ्यात्व का स्वभाव आकाशादि प्रपञ्च के साथ समान है अर्थात् आकाशादि पदार्थों की जैसी सत्ता है, वैसे ही सत्ता मिथ्यात्व की भी है और यह मिथ्यात्व धर्मी के सत्यत्व का विरोधी (विघातक) है, अपने विरुद्ध धर्म का विरोध करने में धर्म का धर्मी से समानसत्ताकत्ववादी और प्रतिवादी दोनों के मत में प्रयोजक है, धर्म की पारमार्थिकता प्रयोजक नहीं है, क्योंकि अघटत्व के प्रतिक्षेपक घटत्व आदि में हमारे (वेदान्ती के) मत से पारमार्थिकत्व निश्चित नहीं है। ब्रह्म का प्रपञ्चतादात्म्य धर्मिसमानसत्ताक नहीं है, अतः निष्प्रपञ्चत्व का प्रतिक्षेपक (विरोधी) नहीं है।

यदि शंका की जाय कि मिथ्यात्व व्यावहारिक हो, तो उसका विरोधी अप्रातिभासिक प्रपञ्चसत्यत्व पारमार्थिक होगा, क्योंकि धर्मी के समान सत्ता वाले मिथ्यात्व के व्यावहारिक होने पर धर्मी भी व्यावहारिक ही होता है, ऐसा नियम है। अथवा जिसका जो धर्म अपने विषय के साक्षात्कार से निवृत्त न होता हो, वह धर्म उस धर्मी में अपने विरुद्ध धर्म का प्रतिक्षेपक होता है अर्थात् अपने विरुद्ध धर्म की स्थिति नहीं होने देता है। शुक्ति में रहने वाला शुक्तितादात्म्य शुक्तिविषयक साक्षात्कार से निवृत्त नहीं होता है, इसलिए वह अशुक्तित्व (रजतत्व) का विरोधी है, और इसी स्थल में जो रजततादात्म्य है, वह शुक्ति के साक्षात्कार से निवृत्त होता है, अतः शुक्तित्व का विरोधी नहीं हो सकता है। ऐसा होने पर यद्यपि प्रपञ्च का मिथ्यात्व कल्पित है, तथापि प्रपञ्च साक्षात्कार से निवृत्त नहीं होता है, अतः उक्त प्रमाणों से स्वाश्रय साक्षात्कार से अनिवर्त्य धर्म स्वाश्रय में अपने से विरुद्ध की स्थिति में विरोधी है,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऐसा निश्चित होने पर सत्यत्व का विरोधी है, ब्रह्म का प्रपञ्चतादात्म्य ब्रह्म के साक्षात्कार से निवृत्त होता है, इससे प्रपञ्चतादात्म्य निष्प्रपञ्च त्व का विरोधी नहीं है ।

---

२८. आचार्य अप्पयदीक्षित (१६ वाँ शतक)

सिद्धान्तलेशसंग्रह के प्रणेता पण्डित अप्पयदीक्षित उन महान् पण्डितों में से थे, जिनका नाम आज भी विद्वत्समुदाय में बड़े गौरव और श्रद्धा से लिया जाता है । इन्होंने अपनी लेखनी से गहन और महत्वपूर्ण अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । इतिहासज्ञों ने इनका जीवन-काल १५२० से १५९३ ई० तक निश्चित किया है । कुछ विद्वान् इनका जीवन-काल ई० १५५० से १६२२ तक मानते हैं ।

पण्डित अप्पयदीक्षित का जन्म तमिलनाडु प्रदेश के काञ्ची (कांजीवरम्) के समीप अडपप्पल गाँव में हुआ था । अभी तक उनके कुछ वंशज उस प्रान्त में विद्यमान हैं । अप्पयदीक्षित के पितामह का नाम आचार्य दीक्षित था । अप्पयदीक्षित के पिता का नाम रङ्गराजाध्वरी था । ये अनेक शास्त्रों के अप्रतिम पण्डित थे । अप्पयदीक्षित ने इन्हीं से सब शास्त्र पढ़े थे । इस विषय का इन्होंने स्वयम्– "तातचरण-व्याख्यावचः ख्यापितान्" "विद्वद्गुरोर्विहितविश्वजिदध्वरस्य" इस ग्रन्थारम्भ के मंगल-श्लोकों में स्पष्टीकरण किया है । इन्होंने "सिद्धान्त-लेशसंग्रह" ग्रन्थ के अन्त में अपने नाम का स्वयं उल्लेख किया है । श्रीरंगराज-मखिनः श्रितचन्द्रमौलेरस्त्यप्पदीक्षित इति प्रथितस्तनूजः" । और 'कुवलयानन्द' से इनका नाम अप्पयदीक्षित भी सिद्ध होता है । अनेक प्रमाणों

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

से इनका नाम अप्पदीक्षित तथा अप्पयदीक्षित दोनों ही मालूम पड़ते हैं। परन्तु कर्णाटक, आन्ध्र आदि प्रान्तों की भाषा-सरणी से इनके 'अप्पय्य जैसे भिन्न नाम भी व्यवहार में प्रचलित हैं।

ये विजयनगर के अधीश्वर चिन्नबोम्य, नरसिंहदेव और बेंकटपतिराव के समकालिक थे, इसमें प्रमाण इनके कुवलयानन्द ग्रन्थ का श्लोक हैं

"अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः ।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः ॥"

'सिद्धान्तकौमुदी' के विख्यात रचयिता भट्टोजिदीक्षित ने भी सिद्धान्तकौमुदी के रचना के बाद दक्षिण में जाकर अप्पयदीक्षित से पढ़ा था और उसके बाद उन्होंने 'तत्त्वकौस्तुभ' नाम का ग्रन्थ लिखा था, जिसमें अपने गुरु अप्पयदीक्षित को ही प्रणाम किया है।

अप्पयदीक्षित ने अपने जीवन काल में सौ से अधिक ग्रन्थ लिखे थे, ऐसा प्रमाण मिलता है। यद्यपि इनके सभी ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं, हैं, तो भी जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे निम्नलिखित हैं :– १- कुवलयानन्द, २-चित्रमीमांसा, ३-वृत्तिवार्त्तिक, ४-नामसंग्रहमाला और इसकी व्याख्या, ५-नक्षत्रवादावली, ६-प्राकृतचन्द्रिका, ७-चित्रपुट, ८-विधिरसायन, ९-सुखोपयोजनी, १०-उपक्रमप्राक्रम, ११-परिमल (टीका), १२-न्यायरक्षामणि, १३-सिद्धान्तलेशसंग्रह, १४-मातसारथिसंग्रह, १५-नयमज्जरी, १६-न्यायमुक्तावली, १७-नयमयूखमालिका, १८-शिवार्कमणिदीपिका, १९-मणिमालिका, २०-रत्नत्रयपरीक्षा, २१-शिखरिणीमाला २२-शिवतत्वविवेक, २३-ब्रह्मतर्कस्तव, २४-शिवकर्णामृत, २५-रामायण तात्पर्यसंग्रह, २६-भारततात्पर्यसंग्रह, २७-शिवाद्वैतनिर्णय, २८-शिवार्चन चन्द्रिका, २९-बालचन्द्रिका, ३०-शिवध्यानपद्धति, ३१-आदित्यस्तवरत्न, ३२-मध्वतन्त्रमुखमर्दन, ३३-मध्वमतविध्वंसन आदि।

इनके नाम के आगे कहीं-कहीं "चतुरधिकशतप्रबन्धनिर्वाहकाचार्यः" यह उपाधि लगी हुई मिलती हैं, अर्थात् इन्होंने १०४ से भी अधिक

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रन्थों की रचना की है। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' वेदान्त-दर्शन का एक बड़ा उपयोगी ग्रंथ है। क्योंकि इसके यथावत्–अध्ययन करने पर अद्वैत वेदान्त शास्त्र का ऐसा कोई भी मत अज्ञात नहीं रह जाता, जो इसमें न आया हो। इस ग्रन्थ में अप्पयदीक्षित ने ४३ अद्वैत–वेदान्तियों के मतों का संग्रह किया है।

दीक्षित जी का सभी शास्त्रों में अप्रतिहत पाण्डित्य था और इनकी प्रतिपादन-शैली विलक्षण ही थी। ये परम आस्तिक थे। इनका गोत्र भारद्वाज था। ये ७२ वर्ष की दीर्घ आयु तक जीवित रहे। इसमें दीक्षित जी के भ्राता के पुत्र नीलकण्ठ द्वारा विरचित 'शिवलीलार्णव' के प्रथम सर्ग में एक श्लोक प्रमाण रूप से मिलता है–

"कालेन शम्भुः किल तावताऽपि कलाश्चतुष्षष्टिमिताः प्रणिन्ये।
द्वासप्तति प्राप्य समाः प्रबन्धाञ्छतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्दुः॥

इतनी बड़ी आयु वाले पण्डित संसार में अल्प ही हुए हैं। यद्यपि अप्पयदीक्षित की सभी शास्त्रों में अप्रतिहतगति थी, तथापि वेदान्त सिद्धान्तों में इनकी कुछ भी मौलिकता नहीं है, क्योंकि अपने पाण्डित्य के उपरान्त भी ये एक अच्छे संकलनकर्ता थे न कि मौलिक विचारक। जहाँ इनको अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने का अवसर मिला, वहां पर भी अन्यों के विचारों को प्रस्तुत करके ही संतुष्ट हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि अपने जीवन के दो भिन्न कालों में इनके दो भिन्न शैव तथा वेदान्ती धार्मिक विचार थे, परन्तु इनकी दोनों पक्षों में अपूर्व आस्था थी।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२६. आचार्य मधुसूदन सरस्वती (१६वाँ शतक)

अपूर्व ग्रन्थरत्न 'अद्वैतसिद्धि' के प्रणेता श्रीमधुसूदन सरस्वती केवल अद्वितीय विद्वान् ही नहीं थे, अपितु वीतराग और अनन्य भगवद्भक्त भी थे। अद्वैतवेदान्त के यही एक मार्ग-दर्शक थे, जिन्होंने भक्ति और ज्ञान का समन्वय ही नहीं किया, अपितु अपने जीवन में उतारा भी।

आचार्य मधुसूदन का समय

कुछ इतिहासकार इनका समय सोलहवीं शताब्दी के अन्त भाग मानते हैं और कुछ सत्रहवीं शताब्दी का तृतीय भाग निश्चित करते हैं। परन्तु अधिकतर इतिहासकारों ने सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही निश्चित किया है। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धि में अप्पयदीक्षित का 'परिमलकार' पद से उल्लेख किया है— "सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्भामतीकार-कल्पतरुकारपरिमलकारैरिति" अप्पयदीक्षित का समय ई० १५२०-१५९३ था। अप्पयदीक्षित का जन्म मधुसूदन से कम से कम ६० वर्ष पूर्व हुआ होगा। इससे मधुसूदन का उक्त समय सिद्ध होता है।

मधुसूदन का जन्मस्थान

बंगाल के फरीदपुर जिले के कोटालपाड़ा ग्राम में प्रमोदनपुरन्दर नामक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। इनके चार पुत्र—श्रीनाथचूड़ामणि, यादवानन्द न्यायाचार्य, कमलजनयन एवं वागीशगोस्वामी थे। यही कमलजनयन ही संन्यास लेने के बाद मधुसूदन सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् गदाधर भट्ट के साथ नवद्वीप के हरिराम तर्कवागीश से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। काशी आकर दण्डी स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रम जी से इन्होंने वेदान्त का अध्ययन किया और उन्हीं से संन्यास ग्रहण किया। मधुसूधनकृत वेदान्तकल्पलतिका की भूमिका में रामाज्ञा पाण्डेय लिखते हैं कि "मधुसूदन

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जन्मना बंगदेशीय थे। मधुसूदन सरस्वती के शिष्य पुरुषोत्तम सरस्वती 'सिद्धान्तविन्दु' पर अपनी टीका में उल्लेख करते हैं कि बलभद्र भट्टाचार्य उनके प्रिय शिष्य थे। श्रीपाण्डेय का तर्क है कि भट्टाचार्य के बंगीयगोत्र होने के कारण तथा उनके प्रिय शिष्य के भी बंगीय होने के कारण मधुसूदन भी अवश्य ही बंगीय रहे होंगे।

मधूसूदन की रचनाएँ

१-संक्षेपशारीरक पर सारसंग्रहदीपिका टीका, २-सिद्धान्तविन्दु, ३-अद्वैतरत्नरक्षण, ४-वेदान्तकल्पलतिका, ५-अद्वैतसिद्धि, ६-ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश, ७-भक्ति–रसायन, ८-भागवतटीका, ९-श्रीमद्भगवद्गीता पर गूढार्थदीपिका टीका, १०-प्रस्थानभेद, ११-महिम्नःस्तोत्र की व्याख्या।

जर्मन विद्वान् थोडर ने अपने बृहत्सूचीपत्र में उक्त ११ ग्रन्थों के अतिरिक्त आत्मबोध टीका, आनन्दमन्दाकिनी, कृष्णकुतूहल नाटक, भक्तिसामान्यनिरूपण, वेदस्तुति की टीकादि और मधुसूदन के १२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। परन्तु भारतीयदर्शन के इतिहासों में उक्त ११ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

जिस समय बौद्धदर्शन का भारत में सर्वाधिपत्य था, उसी समय में न्याय-दर्शन का उदय हुआ। उद्भट नैयायिक विद्वान् बौद्धों को परास्तकर वेदान्तदर्शन पर टूट पड़े। उसी समय अद्वैत-वेदान्त के संरक्षक महापण्डित श्रीहर्ष का उदय हुआ। श्रीहर्ष ने चिन्तामणि की आराधना से अद्वितीय पाण्डित्य प्राप्त कर नैयायिकों के प्रत्येक पदार्थ का गिन गिनकर अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' में खण्डन किया तथा नैयायिकों को परास्त किया। कालान्तर में विपक्षीदल खण्डन को वितण्डा समझकर हेय बुद्धि से देखने लगे। द्वैत के खण्डन होने पर वैष्णव सम्प्रदाय भी रुष्ट हो गया। मध्वसम्प्रदाय के व्यासराज ने अपने 'न्यायामृत' ग्रन्थ में और वेंकटनाथ ने अपने 'शतदूषणी' ग्रन्थ में अद्वैत का भयंकर खण्डन किया। उसका उत्तर देने के लिए श्रीमधुसूदन सरस्वती जी के अपूर्व ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि का जन्म हुआ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अद्वैतसिद्धि

अद्वैतसिद्धि में चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में विप्रतिपत्ति-वाक्य का विचाराङ्गत्व निरूपण से लेकर सत्ता त्रैविध्योपपत्ति तक ५२ विषयों पर विचार किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में अखण्डार्थ-लक्षण से लेकर जीवाणुत्वखण्डन तक ३४ विषयों पर विचार किया गया है। इसी प्रकार तृतीय परिच्छेद में मननिदिध्यासन के श्रवणाङ्गत्व निरूपण से शब्दापरोक्षत्वनिरूपण तक ८ विषयों पर विचार हुआ है। चतुर्थ परिच्छेद में अविद्यानिवृत्तिनिरूपण से मुक्ति में तारतम्यभंग तक ३ विषयों का निरूपण किया गया है।

स्वामी मधुसूदन जी ने अद्वैतसिद्धि की शब्दावली एवं पद्धतियां नैयायिक ढंग की अपनाई हैं। अन्य मतों का निराकरण और अपने मत की स्थापना बड़े ऊहापोहात्मक ढंग से की है। चित्सुखाचार्य की चित्सुखी और श्री हर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य' एवं श्री मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' ये तीनों अद्वैतवेदान्त के आधार स्तम्भ माने जाते हैं।

कहते हैं कि स्वामी मधुसूदन सरस्वती जी को शास्त्रार्थ करने की बड़ी धुन लगी रहती थी। काशी के बड़े-बड़े विद्वानों को ये अपनी प्रतिभा से परास्त कर देते थे। एक वृद्ध साधु के वेष में भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी ने इनको शास्त्रार्थ से निवृत्त कर भगवद्भजन में लगाया और साक्षात्दर्शन दिया। इनकी जैसे अद्वैत में आस्था थी वैसे ही भक्ति में थी। इन्होंने स्वयं कहा है—

"अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन।।"

सुषुप्तिकाल में होने वाले 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस अनुभव के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मतों की प्रतिष्ठा की है। सुरेश्वराचार्य सुषुप्ति के उत्तरवर्ती ज्ञान को विकल्प कहते हैं। इसके विपरीत विवरणसम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रकाशात्मा आदि विद्वान् उक्तानुभव को परामर्श कहते हैं और परामर्श से स्मृति का अर्थ ग्रहण करते हैं।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मधुसूदन सरस्वती ने इस सम्बन्ध में एक नवीन मत की उद्‌भावना की है। मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि सुषुप्ति अवस्था में तामसी-वृत्ति की निवृत्ति हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में विशेषणांश तामसी वृत्ति की निवृत्ति होने पर तामसीवृत्ति-विशिष्ट अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहां तक सुषुप्ति से तामसीवृत्ति विशिष्ट अज्ञान का सम्बन्ध है, परामर्श को 'स्मृति' कहा जा सकता है। इसके विपरीत सुषुप्ति अवस्था को यदि हम मात्र अज्ञानानुभव मानेंगे तो हम परामर्श को 'स्मृति' नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि जाग्रत् अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। अज्ञान की निवृत्ति न होने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस भूतकालिक अनुभव का स्मरण नहीं हो सकता।

वृत्ति के सम्बन्ध में भी मधुसूदन सरस्वती ने विस्तार से विवेचन किया है। वृत्ति जीव के समस्त परिमित विषयों के ज्ञान के लिए एक आवश्यक दशा है। मधुसूदन सरस्वती वृत्ति के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए उसके ६ कार्य मानते हैं —वृत्ति माया की आवरण-शक्ति का उच्छेद करती है। २—वृत्ति ही आवरण और विक्षेपशक्ति से युक्त तूला अज्ञान का विनाश करती है। ३—वृत्ति अविद्या की एक विशेष स्थिति का निवारण करती है। यह विशेष स्थिति अज्ञान और जीव के तादात्म्य की स्थिति है। ४—वृत्ति अविद्या के एकदेशीय विनाश की कर्त्री है। यह एक देशीय विनाश अविद्या में कार्य की अक्षमता उत्पन्न करना या अविद्या की निवृत्ति है। ५—जैसे दूसरे वीर योद्धा को देख कर भीरु भट भाग जाते हैं, उसी प्रकार वृत्ति की उत्पत्ति के क्षण में ही अविद्या का आवरण अंश नष्ट हो जाता है। ६—वृत्ति की उत्पत्ति होने पर अविद्या का आवरण उसी प्रकार हट जाता है, जिस प्रकार हाथ का संयोग होने पर चटाई हटती चली जाती है।

मधुसूदन सरस्वती ने एक जीववाद की स्थापना बड़े ऊहापोह के साथ की है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जीव की एकता एवं अनेकता के सम्बन्ध में मतभेद है। एकजीववाद के सम्बन्ध में [illegible]

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है कि जब "मैं सुखी हूँ" मैं संसारी हूं आदि भिन्न-भिन्न अनुभव होते देखे जाते हैं, तो एक जीववाद का समर्थन किस प्रकार किया जा सकता है। इस शंका का समाधान करते हुए मधुसूदन कहते हैं कि अविद्या के कारण एक ब्रह्म ही जीवरूपता को प्राप्त करता है। उस जीव की ही प्रत्येक शरीर में अहंबुद्धि होती है। इस प्रकार अनन्त न होकर एक ही है। "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" के अनुसार उस परमात्माने ही इस शरीर की रचना करके जीवरूप से स्वयं प्रवेश किया। एक ही मुख्य जीव है, अन्य जीवाभास हैं।

मिथ्यात्व के विषय में भी मधुसूदन सरस्वती ने विशेष मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अद्वैतसिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए जितनी आवश्यकता जगत् के मिथ्यात्व सिद्ध करने की है, उतनी ही आवश्यकता उस मिथ्यात्व के मिथ्या-प्रतिपादन की भी है। इसका कारण यह है कि यदि जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन करके छोड़ दिया जायेगा, तो प्रकारान्तर से जगत् सत्य सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि किसी वस्तु की सत्ता होने पर भी उसका निषेध होता है। इसीलिए मिथ्या जगत् के मिथ्यात्व-प्रतिपादन को मिथ्या सिद्ध करना भी अद्वैतसिद्धि के लिए अनिवार्य है। मधुसूदन ने मिथ्यात्व को मिथ्या ही सिद्ध किया है अतः मिथ्यात्व से द्वैतापत्ति की आपत्ति नहीं है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३०. आचार्य सदानन्द (योगीन्द्र) (१६वीं शतक)

आचार्य सदानन्द के जीवन-काल के विषय में यद्यपि इतिहासकारों का मतभेद है, क्योंकि इन्होंने अपने देशकाल आदि के विषय में स्वयं कुछ भी नहीं लिखा; तथापि सोलहवीं शताब्दी का उत्तर भाग इनका समय माना जाता है। नृसिंह सरस्वती ने सदानन्दकृत 'वेदान्तसार' की अपनी व्याख्या का समय दिया है —

"जाते पञ्चशताधिके दशशते सम्वत्सराणां पुनः ।
सञ्जाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके ।।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासे नु मत्यां तिथौ ।
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिः टीका चकारोज्ज्वलाम् ।।"

अर्थात् १५१० शकाब्द या १५८८ ई० में सुबोधिनी टीका की रचना हुई। अतः नृसिंह सरस्वती का समय सोलहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग निश्चित होता है। अतः आचार्य सदानन्द को इनसे पूर्व ही मानना होगा। सदानन्द के गुरु का नाम अद्वयानन्द था, इन्होंने स्वयं ग्रन्थ के मंगल-श्लोक में लिखा है—

"अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः ।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामतिः ।।"

आचार्य सदानन्द का एक ही 'वेदान्तसार,' वेदान्तदर्शन के लिए स्वर्ण-सोपान है। इसके अध्ययन से वेदान्तदर्शन के समस्त प्रमेयात्मक सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

आचार्य सदानन्द की रचनाएँ

१–पञ्चदशीटीका, २–नृसिंहाश्रमकृत अद्वैतदीपिका की टीका, ३–अद्वैतब्रह्मसिद्धि, ४–जीवन्मुक्तिप्रक्रिया, ५–वेदान्तसार, ६–अद्वैतदीपिका (स्वग्रन्थ), ७–'शंकरदिग्विजय।'

वेदान्तसार पर अभी तक तीन प्राचीन टीकाएं प्राप्त हैं। आचार्य नृसिंहसरस्वती कृत सुबोधिनी टीका, स्वामी रामतीर्थ विरचित 'विद्वन्मनो-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रंजनी' (यह अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण टीका है), तीसरी टीका है—आपदेवकृत 'बालबोधिनी।' वेदान्तसार के प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ माण्डूक्योपनिषद् तथा विद्यारण्य स्वामी की पञ्चदशी है। वेदान्तसार में अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त संक्षेप में प्रस्तुत किए गये हैं। प्रारम्भ में वेदान्तविद्या के साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी का वर्णन किया गया है। माया सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मिका ब्रह्म की शक्ति कही गई है। माया उपाधि को स्वीकार कर ब्रह्म ही ईश्वर हो जता है। इसी माया की अवस्थारूप अविद्या (तूलाविद्या) से उपहित होकर ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त होता है।

माया की शक्तियाँ

ब्रह्म में रहने वाली तथा ब्रह्म को विषय करने वाली माया की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। माया आवरणशक्ति से अधिष्ठानरूप ब्रह्म को ढक लेती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा उसी अधिष्ठानरूप ब्रह्म में विवर्तरूप जगत् को उत्पन्न कर देती है। आवरणशक्ति में तमोगुण की प्रधानता होती हैं और विक्षेप शक्ति में रजोगुण की। इन्हीं दोनों शक्तियों से उपहित होकर ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण तथा उपादान कारण होता है। तमः प्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त अज्ञान (माया) से आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी। पंचीकृत इन्हीं पांच भूतों से प्राणियों के स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म शरीरों की समष्टि को वैश्वानर या विराट् कहते हैं और व्यष्टि को विश्व। स्थूल-सूक्ष्म सम्पूर्ण जगत् ही "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस महावाक्यस्थ 'सर्वं' शब्द का वाच्य है।

जहदजहद्लक्षणा से सर्वं का अर्थ सम्पूर्ण प्राणियों के अन्दर विद्यमान चेतन शक्ति है, जिससे चैतन्यमात्र का ब्रह्म से ऐक्य बोधित होता है। आत्मा पंचकोशों से भिन्न शुद्धबुद्धमुक्त प्रत्यक्‌चैतन्य रूप है। यहां तक वेदान्तसार में अध्यारोप का कथन है इससे आगे अपवाद का वर्णन है। अपवाद का अर्थ है—माया के कार्यभूत जगत् का अपवाद या निरास

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अर्थात् जगत् के संपूर्ण तत्वों का व्युत्क्रम (उल्टा) से ब्रह्म में विलय करना ।

अद्वैतवेदान्त का ग्रन्थ होने पर भी 'वेदान्तसार' में केवल शंकराचार्य के ही सिद्धान्तों को नहीं व्यक्त किया गया है, अपितु हमें इसमें कुछ अंशों में अद्वैतवेदान्त का बहुत परवर्ती विकास देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ ईश्वर और जीव का दो समान रूपों में विकास शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित नहीं है। समष्टि और व्यष्टि के रूप में रखकर सदानन्द ने ईश्वर-जीव, हिरण्यगर्भ-तैजस तथा विराट्-विश्व के रूपों को बहुत भ्रान्त कर दिया है। सम्पूर्ण जीवों की समष्टि ईश्वर है, यह कथन सामान्यतः बुद्धिगम्य नहीं है। स्पष्ट है कि इनके अनुसार ईश्वर की अपनी स्वतन्त्र सत्ता और व्यक्तित्व नहीं है। सम्पूर्ण जीवों का यह समूह एक क्रमबद्ध कार्य करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? यही बात हिरण्यगर्भ-तैजस तथा वैश्वानर-विश्व के विषय में भी है।

आचार्य शंकर ने माया और अविद्या का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। समष्टि या व्यष्टि अज्ञान में भी उन्होंने कोई भेद नहीं किया है। विद्यारण्य स्वामी की पञ्चदशी में, जिस पर वेदान्तसार मुख्यतः आधारित है, माया के दो स्पष्ट भेद किये गये हैं—माया और अविद्या। आचार्य सदानन्द ने दोनों को एक माना है, परन्तु प्रथम को समष्टि अज्ञान कहा है और द्वितीय को व्यष्टि अज्ञान, ठीक उसी प्रकार जैसे वृक्षों की समष्टि को वन और व्यष्टि को आम्र, पीपल आदि कहते हैं।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३१. आचार्य मल्लनाराध्य (१६वाँ शतक)

आचार्य मल्लनाराध्य की गणना उन इने-गिने विद्वानों में होती है जिन्होंने अपने प्रतिभा वैभव से शांकरवेदान्त को समृद्ध किया है । इनके माता पिता एवं जन्मस्थान के विषय में तथ्यतः कुछ ज्ञात नहीं है। इनका समय इतिहासकारों ने १६वीं शताब्दी निश्चित की है ।

आचार्य मल्लनाराध्य की रचनाएं—

१–अद्वैतरत्न, २–अभेदरत्न, ३–अपने अद्वैतरत्न पर 'तत्त्वदीपन' नामक टीका । इनके ग्रन्थों में अद्वैतमत का प्रतिपादन तथा द्वैतमत का खण्डन बड़े ऊहापोह ढंग से किया गया है ।

०———०

३२. आचार्य रंगराजाध्वरी (१६वाँ शतक)

रङ्गराजाध्वरी अप्पय दीक्षित के पिता थे। रंगराजा के पिता का नाम आचार्य 'दीक्षित' था । आचार्य दीक्षित भी अद्वैत मत के आचार्य थे। इनकी जन्मभूमि काञ्ची नगरी थी। आचार्य दीक्षित का दूसरा नाम वक्षःस्थलाचार्य था । यह नाम महाराज कृष्णदेव ने रखा था। महाराज कृष्णदेव का समय १५०० ई० से १५३० ई० पर्यन्त था ।

आचार्य रंगराजाध्वरी की रचनाएं—

१–अद्वैतविद्यामुकुर, २–विवरणदर्पण । अप्पयदीक्षित में अद्वैत-सिद्धान्त का पूर्ण पाण्डित्य आपकी देन थी। अप्पयदीक्षित ने अपने सिद्धान्तलेशसंग्रह में 'अद्वैतविद्याकार' पद से अपने पिता का ही स्मरण

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किया है । रंगराजाध्वरी ने अपने ग्रन्थों में न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य आदि मतों का खण्डन करके अद्वैतमत की स्थापना की है ।

o——o

३३. आचार्य नारायणाश्रम (१६वाँ शतक)

आचार्य नारायणाश्रम का शांकरवेदान्त में उच्च स्थान है । इन्होंने महत्वपूर्ण टीकाएं तथा टीका ग्रन्थ लिखे हैं । इनका समय इतिहासकारों ने सोलहवीं शताब्दी निश्चित किया है । इनके गुरु का नाम नृसिंहाश्रम था । नारायणाश्रम ने अपने गुरु नृसिंहाश्रम विरचित भेदधिक्कार एवं 'अद्वैतदीपिका' के ऊपर टीका ग्रन्थ लिखा है । भेदधिक्कार पर इनका लिखा 'भेदधिक्कारसत्क्रिया' अत्यन्त महत्वपूर्ण है इस ग्रन्थ पर 'भेद-धिक्कारसत्क्रियोज्वला' नामक टीका लिखी गई है ।

——o——

३४. आचार्य भट्टोजिदीक्षित (१६वाँ शतक)

भट्टोजिदीक्षित एक सुप्रससिद्ध वैयाकरण थे, परन्तु इन्होंने 'तत्त्व-कौस्तुभ' एवं 'वेदान्ततत्त्वविवेक' की रचना के द्वारा द्वैत मत का निरा-करण करके अद्वैतमत का समर्थन किया था । इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित एक प्रशस्त वैयाकरण की ही तरह पूर्ण अद्वैत वेदान्ती भी थे ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३५. आचार्य सदाशिवेन्द्र (१६वाँ शतक)

आचार्य सदाशिवेन्द्र का अद्वैतवेदान्त में उच्च स्थान है। ये दाक्षिणात्य थे, काञ्चीकामकोटि पीठ के पीठाधीश्वर थे। इनका समय इतिहासकारों ने १६वीं शताब्दी निश्चित की है।

आचार्य सदाशिवेन्द्र की रचनाएं–

१–अद्वैत विद्याविलास, २–बोधार्थात्मनिर्वेद, ३–गुरुरत्नमालिका, ३–ब्रह्म कीर्तन तरंगिणी आदि। इनका प्रतिपाद्य विषय शांकरवेदान्त था।

---

३६. आचार्य नृसिंह सरस्वती (१६वाँ शतक)

आचार्य नृसिंह सरस्वती का समय इतिहासकारों ने १६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग निश्चित किया है। इन्होंने 'वेदान्तसार' पर व्याख्या लिखी। इन्होंने अपनी व्याख्या का समय दिया है—

"जाते पञ्चद्रसाधिके दशशते सम्वत्सराणां पुनः ।
संजाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशक्तिवाहे शके ॥
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासे नु मत्यां तिथौ ।
प्राप्ते भार्गवत्सरे नरहरिः टीकाञ्चकारोज्ज्वलाम् ॥"

अर्थात् १५१८ शकाब्द या १५८६ ई० में सुबोधिनी टीका रची गई, अतः इनका समय सोलहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग निश्चित होता है। इस टीका में शांकरवेदान्त का प्रतिपादन किया गया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३७. आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र (१७ वाँ शतक)

अद्वैतवेदान्त जगत् में आज भी वेदान्त-परिभाषा के रचयिता आचार्य श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र सर्वशिरमौर माने जाते हैं। इनका जीवन-काल १७वीं शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। इनका जन्मस्थान मद्रास तमिलनाडु प्रान्त में तंजौर ज़िले के 'कण्डूमणिक्कम्' ग्राम था। भेदधिक्कार आदि ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य नृसिंहाश्रम इनके गुरु थे। कुछ विद्वान् नृसिंहाश्रम को धर्मराजाध्वरीन्द्र के परमगुरु और वेंकटनाथ को इनके गुरु मानते हैं। जैसा कि वेदान्तपरिभाषा के मंगलाचरण में वे लिखते हैं कि—

यदन्तेवासिपञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः ।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्र परमं गुरुम् ॥
श्रीमद्वेंकटनाथख्यान् वेलाङ्गुडि निवासिनः ।
जगदगुरूनहं वन्दे सर्वतन्त्रप्रवर्तकान् ॥

यहाँ पर यह विचारणीय है कि श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र जी ने श्रीनृसिंहाश्रम जी को 'परमं गुरुम्' विशेषण दिया है और श्रीवेंकटनाथ जी को 'जगद्गुरुम्' विशेषण दिया है। श्रीनृसिंहाश्रम षोडश शताब्दी में वर्तमान थे। अतः धर्मराजाध्वरीन्द्र का समय सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण होना चाहिए।

न्यायशास्त्र का पाण्डित्य भी इनमें पूर्ण रूप से विद्यमान था। गंगेशोपाध्याय की 'न्यायचिन्तामणि' पर दशटीका-विभञ्जनी 'अभिनवा' टीका लिखी थी। इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ 'वेदान्तपरिभाषा' है, जो आज भी विद्वत्समाज में अद्वितीय माना जाता है। इनका दूसरा ग्रन्थ पदयोजनिका है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के पुत्र रामकृष्ण ने वेदान्तपरिभाषा पर 'वेदान्त-शिखामणि' नाम की टीका लिखी है। स्वामी बड़े अमरदास जी ने शिखामणि टीका पर 'मणिप्रभा' नाम की टीका लिखी है। धर्मराजा-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ध्वरीन्द्र के शिष्य तथा भ्रातृव्य पोद्दादीक्षित की अप्रकाशित एक टीका है। वेदान्त-परिभाषा पर 'भूषण' टीका नारायण भट्ट की है, यह टीका प्रकाशित भी है। सर्वश्रेष्ठ तथा मान्य 'अर्थदीपिका' टीका शिवदत्त की है। यह टीका विद्वतापूर्ण है तथा स्थल-स्थल पर शिखामणि टीका का खण्डन कर मूल ग्रन्थ का वास्तविक अभिप्राय व्यक्त करती है।

वेदान्त-परिभाषा

वेदान्त-परिभाषा ८ परिच्छेदों में विभक्त है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, विषय और प्रयोजन। इसके पहले के ६ परिच्छेदो में वेदान्तभिमत ६ प्रमाणों का विचार किया गया है। सप्तम परिच्छेद में वेदान्त के विषय का एवं अष्टम परिच्छेद में वेदान्तशास्त्र से सिद्ध होने वाले प्रयोजन का विचार किया गया है। सर्वप्रथम प्रमाणों का विचार इस अभिप्राय से किया गया है कि प्रमाणों का निश्चय हो जाने पर ही उन प्रमाणों से प्रमेय पदार्थ का निश्चय हो सकता है। वेदान्तपरिभाषा मोक्ष-प्रतिपादक शास्त्र है। अतः ब्रह्म और ब्रह्म का ज्ञान और इस विषय में प्रमाण के विचार-प्रसंग में प्रथम प्रमाणों का विचार करना आवश्यक है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान भी किसी प्रमाण से ही तो होगा।

वेदान्तपरिभाषाकार ने शुद्ध चेतन के ही उपाधि के कारण प्रमातृ-चैतन्य, प्रमाणचैतन्य एवं विषयचैतन्य रूप से तीन भेद किये हैं। घटादि विषय से अवच्छिन्न चैतन्य का नाम विषयचैतन्य है। अन्तःकरणवृत्त्य-वच्छिन्न चैतन्य का नाम प्रमाणचैतन्य है। इसी प्रकार अन्तःकरणा-वच्छिन्न चैतन्य का नाम प्रमातृचैतन्य है।

वृत्ति के विषय में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विशेष रूप से विचार किया है। वृत्ति का विवेचन करते हुए इन्होंने कहा है कि जिस प्रकार तालाब का जल किसी नाला (नहर) आदि के द्वारा निकलकर नाली (कुल्या) रूप को प्राप्त होकर खेत की क्यारियों में प्रविष्ट होता हुआ उन

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्यारियों के अनुरूप ही त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस होने से अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घटपटादि विषयदेश को प्राप्त होता हुआ घटादि विषयरूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणामवृत्ति है। आगे चलकर वृत्ति के भी संशय, निश्चय, स्मरण एवं गर्व ये चार भेद किए हैं। इस वृत्ति के भेद के कारण ही एक ही अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त, इन चार संज्ञाओं को प्राप्त करता है। उक्त कथन के अनुसार संशय मन का, निश्चय बुद्धि का, गर्व अहंकार का तथा स्मरण चित्त का विषय है।

ब्रह्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में वेदान्तपरिभाषाकार का मत है कि ब्रह्मज्ञानी का लोकान्तर में गमन नहीं होता, अपितु वह अपने प्रारब्ध-कर्मों के क्षयपर्यन्त सुखदुःख का भोग कर अन्त में विदेह-कैवल्य को प्राप्त करता है। उक्त विषय के अतिरिक्त साक्षी, अनिर्वचनीयख्याति, मिथ्यात्व आदि विषयों का मौलिक विवेचन भी वेदान्त-परिभाषा में किया गया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्तपरिभाषा' विद्वत्समाज में प्रमाण रूप से मानी जाती है। इनकी भाषा-शैली सुन्दर एवं सुस्पष्ट है। ये मूल प्रक्रिया के स्पष्टीकरण में सफल हुए हैं। अतः इनका शांकरवेदान्त में सर्वोच्च स्थान माना जाता है।

—०—०—

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३८. आचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती (१७ वाँ शतक)

आचार्य ब्रह्मानन्द सत्रहवीं शताब्दी के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इनकी सभी शास्त्रों में अप्रतिहत गति प्रतीत होती हैं। उदीयमान सूर्य के समान इन्होंने तारामण्डलरूपी विरोधियों को हतप्रभ कर दिया। इनके गुरु का नाम परमानन्द सरस्वती था। नारायणतीर्थ इनके विद्यागुरु थे। अद्वैतसिद्धि की व्याख्या 'लघुचन्द्रिका' के मंगल श्लोक में इन्होंने नारायण तीर्थ का स्मरण किया है—

> "श्रीनारायणतीर्थानां गुरूणां चरणस्मृतिः।
> भूयान्मे साधिकेष्टानामनिष्टानां च बाधिका॥"

इन्होंने सब शास्त्रों का अध्ययन नारायणतीर्थ से किया था।

इनका वर्तमान-काल सत्रहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग या अठारहवी शताब्दी का प्रथम भाग माना जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि श्री गोविन्दानन्द (रत्नप्रभाटीकाकार) और ब्रह्मानन्द इन दोनों के विद्यागुरु श्री शिवरामाचार्य थे। अतः गोविन्दानन्द तथा ब्रह्मानन्द दोनों का वर्तमान-काल एक ही था।

मधुसूदन सरस्वती की अद्वैत-सिद्धि पर इन्होंने दो व्याख्याएं लिखी हैं— गुरुचन्द्रिका' और 'लघुचन्द्रिका'। ये दोनों प्रकाशित तथा उपलब्ध हैं। लघुचन्द्रिका के विषय में लिखा गया है कि गुरुचन्द्रिका को संक्षिप्त करकेलघुचन्द्रिका की रचना की गई। किन्तु लघुचन्द्रिका बहुत स्थानों पर गुरुचन्द्रिका से भी विस्तृत है। मधुसूदन सरस्वती के सिद्धान्तविन्दु पर इनकी 'रत्नावली' व्याख्या प्रकाशित है। लघुचन्द्रिका में ब्रह्मानन्द ने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है।

इनकी रचनाएँ

१-ईशावास्यरहस्य, २-सिद्धान्तविन्दु की टीका (न्यायरत्नावली), ३-अद्वैतसिद्धि की व्याख्या गुरुचन्द्रिका, लघुचन्द्रिका ४-वेदान्तमुक्तावली।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मानन्द द्वारा विश्लेषित अद्वैत-सिद्धान्त में कारणवाद, अधिष्ठान-वाद एवं मुक्ति आदि के सम्बन्ध में नवीन तथा मौलिक विचार मिलते हैं। जगत् के उपादानकारण के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द का मत अप्पय-दीक्षित से भिन्न है। अप्पयदीक्षित जीव को जगत् का उपादान कारण कहते हैं, परन्तु इसके विपरीत ब्रह्मानन्द के मतानुसार ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्मानन्द का मत है कि ईश्वर इसलिए जगत् का उपादानकारण है कि जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब होने के कारण ईश्वर से सम्बद्ध है और यह जीव ही अविद्या का आश्रय है। ब्रह्मानन्द ने न्यायरत्नावली में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को तर्क रूप में ग्रहण किया है। इनका कहना है कि यदि 'तत्त्वमसि' के रूप में ब्रह्म एवं जीव का सम्बन्ध न हुआ तो तत्त्वमसि आदि के द्वारा ब्रह्मज्ञान का होना असंभव होगा, इस प्रकार के तर्कों को ब्रह्मानन्द श्रवण के अन्तर्गत मानते हैं। इसी प्रकार इनके अनुसार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को दृढ़ करने के लिए प्रवृत्त होना मनन के अन्तर्गत आता है। ब्रह्मानन्द के मतानुसार यह भी तर्क का ही रूप है। निदिध्यासन को ब्रह्मानन्द अन्तिम तर्कों में मानते हैं। ब्रह्मानन्द का विचार है कि श्रवण एवं मनन से उत्पन्न ज्ञान को निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कार के मूल एवं आनन्द के रूप में परिणत कर देता है।

अभिनवद्राविडाचार्य इत्युपचर्यमाणः
बालकृष्णानन्दसरस्वती शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिकं कृतवान्।
अस्य व्याकरणे गुरुः नागेशः, वेदान्ते गुरुः गौडब्रह्मानन्दः।
पञ्चपादिकाक्रमिकः, ६७४

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३६. आचार्य गोविन्दानन्द (१७ वाँ शतक)

आचार्य गोविन्दानन्द शांकरभाष्य पर 'रत्नप्रभा' टीका के रचियता हैं। इनकी रत्नप्रभा टीका अपूर्व कीर्त्ति है। इन्होंने अपनी व्याख्या में नृसिंहाश्रम का उल्लेख किया है। नृसिंहाश्रम का वर्तमान-काल १६ वीं शताब्दी है, क्योंकि नृसिंहाश्रम ने वेदान्तसार पर व्याख्या लिखी थी और इन्होंने अपनी इस व्याख्या का समय लिखा है—

"जाते पञ्चशताधिके दशशते सम्वत्सराणां पुनः ।
संजाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके ।।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासे नु मत्यां तिथौ ।
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिः टीका चकरोज्ज्वलाम् ।।

अर्थात् १५१० शकाब्द या १५८७ ई० में वेदान्तसार की सुबोधिनी टीका की रचना हुई। यहाँ पर यही सिद्ध होता है कि श्री नृसिंहाश्रम सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान थे। अतः आचार्य गोविन्दानन्द जी का वर्तमान-समय सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

आचार्य गोविन्दानन्द के गुरु का नाम गोपाल सरस्वती था। इन्होंने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की व्याख्या के मंगल-श्लोक में अपने गुरु का निर्देश किया है—

"श्रीमद्गोपालगीर्भिः प्रकटितपरमाद्वैतभाष्यस्मितस्य ।
श्रीमद्गोविन्दवाणी चरणकमलगो निर्वृतोऽहं यथालिः ।।"

ये काशी में नियमतः निवास करते थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि गोविन्दानन्द और लघुचन्द्रिकाकार ब्रह्मानन्द सरस्वती दोनों ने श्री शिवरामाचार्य से ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार गोविन्दानन्द को ब्रह्मानन्द का समसामयिक अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी का मानना होगा। इससे भी गोविन्दानन्द का समय सत्रहवीं शताब्दी ही सिद्ध होता है। आचार्य गोविन्दानन्द सरल भाषा में व्याख्या करने में सिद्धहस्त थे। यही एक ऐसे व्याख्याकार थे, जो शांकरभाष्य के गूढ एवं गहन विषयों

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को समझाने में पूर्ण सफल हुए। इनका शांकरवेदान्त में बड़ा ही उच्च स्थान है। 'शब्द-व्युत्पत्ति में इनका कौशल असाधारण है।

—००—

४०. आचार्य रामतीर्थ (१७ वाँ शतक)

आचार्य रामतीर्थ उच्चकोटि के विद्वान् तथा शांकरवेदान्त के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। इनके गुरु का नाम कृष्णतीर्थ था। रामतीर्थ की श्रीराम में अधिक भक्ति थी। इन्होंने संक्षेप-शारीरक पर 'अन्वयार्थप्रकाशिका' टीका, शंकराचार्य के उपदेश-संहस्री पर 'पदयोजनिका' टीका, और वेदान्तसार पर 'विद्वन्मनोरज्जनी' नामक टीका लिखी है। रामतीर्थ ने विशेषतया अद्वैतवेदान्त सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। मैत्रायणी उपनिषद् की व्याख्या भी इन्होंने लिखी है।

अज्ञान की विषयमूलकता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार एवं असत् सिद्ध करने वाले मतों का निराकरण किया है—'मिथ्याज्ञानजन्यसंस्कारः अज्ञानम्, असत्-प्रकाशनशक्तित्वेन असद्वा इति मतद्वयम् निरस्यति' (वे० सा०)। रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्याज्ञान न मानकर त्रिगुणात्मक माना है। इसके अतिरिक्त रामतीर्थ ने अज्ञान को ज्ञान का अभाव सिद्ध करने वाले मत का निराकरण किया है— "सत्त्वरजस्तमोलक्षणास्त्रयो गुणाः कारणमव्याकृतात्मकम्। अज्ञानं त्रिरूपेण त्रिगुणात्मकम्। तथा च गुणस्य गुणवत्तानुपपत्तेर्न मिथ्याज्ञानम् अज्ञानम्"। रामतीर्थ ने अज्ञान की भावरूप सत्ता स्वीकार की है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

४१. आचार्य रामानन्द सरस्वती (१४वाँ शतक)

आचार्य रामानन्द विवरणमतावलम्बी हैं। इनका शांकरवेदान्त में उच्च स्थान है। रामानन्द के गुरु ब्रह्मसूत्रभाष्य के रत्नप्रभाटीकाकार गोविन्दानन्द थे। रामानन्द सरस्वती ने विवरणोपन्यास के मंगलश्लोक में अपने गुरु गोविन्दानन्द का स्मरण किया है। इन्होंने पञ्चपादिका की टीका विवरण के ऊपर विवरणोपन्यास नाम टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र की वृत्ति 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' लिखी है। इनका रचित विवरणोपन्यास, प्रकाशात्मयति विरचित विवरण का तथा विद्यारण्य स्वामी रचित विवरणप्रमेयसंग्रह का भी संक्षेप है। इन्होंने एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है वह है 'सिद्धान्तचन्द्रिका'। जिस पर 'साम्राज्य सिद्धि' एवं उसकी टीका – कैवल्यकल्पद्रुम' के लेखक सर्वज्ञ सरस्वती के शिष्य तथा रामचन्द्र सरस्वती के शिष्य गंगाधरेन्द्र सरस्वती (१८२६ ई०) ने लिखी है।

---

४२. आचार्य रंगनाथ (१७वाँ शतक)

आचार्य रंगनाथ ने ब्रह्मसूत्रवृत्ति की रचना की है। आरम्भ में ये लिखते हैं —

"विद्यारण्यकृतंन्दलोकंनं सिहाश्रमसूक्तिभिः।
सन्दब्धा व्याससूत्राणां वृत्तिर्भाष्यानुसारिणी ॥"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन्होंने अपनी वृत्ति में भूतयोनित्वाधिकरण में (ब्र० सू० १/२) 'प्रकरणाच्च' यह सूत्र अधिक लिखा। यह सूत्र भामती आदि में नहीं रखा गया है। इनकी वृत्ति पूना आनन्द आश्रम से प्रकाशित हुई है।

---

४३. रामकृष्ण दीक्षित (१७वाँ शतक)

रामकृष्ण के पिता वेदान्तपरिभाषाकार आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र थे। रामकृष्ण ने वेदान्तपरिभाषा पर 'शिखामणि' नामक टीका लिखी और रुचिदत्त कृत 'तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश' पर 'न्यायशिखामणि' नामक टीका एवं वेदान्तसार पर भी एक टीका लिखी है।

---

४४. सदानन्दयति (काश्मीरक) (१७वाँ शतक)

सदानन्दयति का समय १७वीं शताब्दी का अन्तिम भाग या १८वीं शताब्दी का प्रथम भाग था। इनका रचित 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' अद्वैत मत का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनका कहना है —

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"प्रतिविम्बवादावच्छेदवादानां व्युत्पादने नात्यन्तमाग्रहः, तेषां बालबोधनार्थत्वात्; किन्तु ब्रह्मैवानादिमाया-, वशाज्जीवाभावमापन्नः सन् विवेकेन मुच्यते........ अयमेव एकजीववादाख्यो मुख्यो वेदान्तसिद्धान्तः।"

अर्थात् प्रतिविम्बवाद आदि केवल वालकों को अगम्य ब्रह्म का बोध कराने के लिए कल्पित हुए हैं। एक जीववाद वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त है।

---

४५. अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ (१८वाँ शतक)

आचार्य अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ ने अप्पय दीक्षित के सिद्धान्तलेश पर 'कृष्णालंकार' नामक टीका लिखी है। यह टीका अत्यन्त सरल तथा सुबोध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्शांकरभाष्य पर 'वनमाला' नाम की व्याख्या लिखी है। इन टीकाओं के अन्तर्गत इनके विवेचन का विषय प्रधानतया अद्वैतवेदान्त ही है। अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक होते हुए भी श्री कृष्ण के परम भक्त थे।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

४६. आचार्य महादेव सरस्वती (१८वां शतक)

महादेव सरस्वती स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती के शिष्य थे। महादेव सरस्वती ने 'तत्त्वानुसन्धान' नामक प्रकरण-ग्रन्थ का निर्माण किया और स्वयं उसके ऊपर एक 'अद्वैतचिन्ता कौस्तुभ' नामक व्याख्या लिखी है। सरल भाषा में वेदान्त के आवश्यक तत्वों का बड़े सरल तथा सुबोध ढग से वर्णन किया है। महादेव सरस्वती भगवान श्री कृष्ण के परम भक्त थे, भक्ति भी आपकी अभेद भक्ति है—

"देहो नाहं श्रोत्रवागादिकानि, बुद्धिर्नाहमध्यासमूलम्।
नाहं सत्यानन्दरूपश्चिदात्मा, माया साक्षी कृष्ण एवाहमस्मि॥"

इन्होंने अद्वैतवेदान्त को सहज एवं सुबोध बनाने का प्रयास किया है और इस प्रयास में ये सफल भी हुए हैं।

---

४७. आचार्य सदाशिवेन्द्र सरस्वती (१८वां शतक)

सदाशिवेन्द्र सरस्वती का दूसरा नाम सदाशिवेन्द्र ब्राह्मण था। दक्षिण भारत के 'करूर' नामक नगर के समीप इनका जन्म हुआ था। वहाँ इनके जीवन की बहुत घटनाएं प्रसिद्ध हैं। ये महान् योगी थे।

रचनाएँ

१—ब्रह्मसूत्रवृत्ति (ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका), २—द्वादश उपनिषदों की व्याख्या, ३—आत्मविलास, ४—कविताकल्पवल्ली, ५—अद्वैतरसमञ्जरी, ६—योगसूत्रों पर 'योगसुधाकर' नाम की व्याख्या।

इनके ग्रन्थ सरल एवं सुबोध शैली में लिखे जाने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

४८. आयन्न दीक्षित (१८वां शतक)

आयन्न दीक्षित रचित 'व्यासतात्पर्य-निर्णय' नामक एक ही ग्रन्थ मिलता है। इस ग्रन्थ में इन्होंने सांख्य, मीमांसा, पातञ्जल, न्याय-वैशेषिक, पाशुपत एवं वैष्णव मतों का निराकरण करके अद्वैतमत का प्रतिपादन विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया है।

(पूरक)

श्री वेदव्यास (ई०पू० ३१३७)

वेदान्तदर्शन के रचयिता श्री वेदव्यास का जन्म महर्षि पराशर के अंश से सत्यवती के गर्भ से हुआ था, यह निर्विवाद है। सत्यवती का जन्म चेदिराज वसु उपरिचर के अंश से अद्रिका नामक अप्सरा के गर्भ से हुआ था। उक्त मत की पुष्टि देवी भागवत के द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय से होती है।

महाभारत युद्ध कब हुआ तथा वेदान्तदर्शन की एवं महाभारत रचना कब हुई ? इन प्रश्नों का समाधान भागवत, देवीभागवत एवं पद्मपुराण और ज्योतिष के सिद्धान्तों से किया जाता है। पद्मपुराणान्तर्गत भागवतमाहात्म्य में भागवत के तीन सप्ताहों का वर्णन है –

श्रीकृष्णनिर्गमात्त्रिंशद्वर्षावधिगते कलौ।
भाद्रशुक्लनवम्यां वै कथारम्भं शुकोऽकरोत् ॥७१॥
परीक्षिच्छ्रवणान्ते तु गते वर्षशतद्वये।
शुचिशुक्लनवम्यां तु गोकर्णोऽकथयत्कथाम् ॥७२॥

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तस्मादपि कलौ याते त्रिशते सषड्ब्दके ।
ऊचुरूर्जे सिते पक्षे नवम्यां ब्रह्मणस्सुताः ।।७३।।
कलौ सहस्रमब्दानामधुना प्रगतं द्विजः ।
परीक्षितो जन्म कालात्समाप्ति नीयतां मखः ।।७४।।

(पद्मपुराण उत्तराखंड अ० १९८)

१–भगवान् श्रीकृष्ण के परमधामगमन के पश्चात् तीस वर्ष कलि-युग के वीत जाने पर भाद्रपद शुक्ल नवमी तिथि से श्री शुकदेव ने परी-क्षित को भागवत की कथा सुनाई थी ।

२–उसके पश्चात् दो सौ वर्ष और वीत जाने पर अर्थात् कलियुग सम्वत् २३० आषाढ शुक्ल नवमी तिथि से गोकर्ण ने धुन्धुकारी को भागवत की कथा सुनाई थी ।

३–उसके पश्चात् तीस वर्ष और बीत जाने पर अर्थात् कलिसम्वत् २६० में सनत्कुमारादि ने यह कथा सुनाई थी ।

उक्त पद्मपुराण के अनुसार यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के परमधामगमन के पश्चात् तीस वर्ष के भीतर ही अर्थात् जब कलियुग तीस वर्ष व्यतीत हो गया था, उसके अन्दर ही वेदव्यास ने महाभारत एवं भागवत की रचना की थी । १८ पुराणों के रचना के अनन्तर ही ही महाभारत की रचना हुई–यह मत देवीभागवत से प्रतीत होता है –

अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः ।
भारताख्यानमतुलं चक्रे तदुपबृंहितम् ।। (दे०भा० १/३/१७)

महाभारत एवं ब्रह्मसूत्र की रचना समसामयिक प्रतीत होती है– "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (गी० १३/४) इस प्रकार महा-भारतान्तर्गत गीता में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख हुआ है । "अपि च स्मर्यते" (ब्र०सू० २/३/३५) में निम्नलिखित गीता के श्लोकों का उल्लेख हुआ है ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। (गी० ४/७)

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसी प्रकार "योगिनः प्रति च स्मर्यते" (ब्र.सू.४/२/२३) सूत्र में भी गीता का उल्लेख हुआ है–

यत्र काले त्वावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।। (गी० ८/२३)

उक्त मत से यही सिद्ध होता है कि ई०पू० ३२०१ के आसपास ब्रह्मसूत्र की रचना हुई थी।

यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि ।
प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः ।। (भा० १२/२/३३)

अर्थात् जिस दिन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी लीला समाप्त कर स्वर्ग चले गये, उसी दिन से ही कलियुग का आरम्भ हुआ था। वर्तमान समय अर्थात् १९७६ ई० में ज्योतिष के अनुसार श्रीकृष्ण-जन्म-सम्वत् ५२११ है। कलिसम्वत् ५०७७ है। कृष्ण सम्वत् में कलिसम्वत् को घटा देने से १३४ शेष रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीकृष्ण का कुल जीवन-काल १३४ वर्ष रहा था। कलियुग आने से ३६ वर्ष पूर्व ही महाभारत युद्ध हुआ था। महाभारत युद्ध के समय श्रीकृष्ण की उमर ९८ वर्ष की थी। द्वापर युग जब ३६ वर्ष शेष रह गया था, तब महाभारत युद्ध हुआ था। कलिसम्वत् ३१०१ वर्ष बीत जाने पर ई० सन् का आरम्भ हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि ई०पू० ३१३७ में श्री व्यास जी वर्तमान थे। उक्त मत से यही सिद्ध होता है कि महाभारत की रचना ई०पू० ३०७१ में हुई थी।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्वितीय खण्ड : निबन्ध

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१. दर्शन के क्षेत्र में शांकर अद्वैतवेदान्त

दर्शन के क्षेत्र में शांकर अद्वैतवादसिद्धान्त का स्थान सर्वोपरि है। वैसे तो संहितागत अद्वैतवाद, औपनिषद् अद्वैतवाद, शक्त्यद्वैतवाद, शैवाद्वैतवाद, बौद्ध-अद्वैतवाद, योगवाशिष्ठकल्पनावाद-संमत अद्वैतवाद, शब्दाद्वैतवाद, गौडपादीय अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि सभी सिद्धान्तों में अद्वैत शब्द का प्रयोग एवं अद्वैतवादसिद्धान्त का न्यूनाधिक स्पर्श मिलता है, परन्तु इन समस्त सिद्धान्तों के मध्य शांकर अद्वैतसिद्धान्त का जैसा पूर्णतया सुव्यस्थित एवं सामञ्जस्यपूर्ण सैद्धान्तिक प्रतिपादन मिलता है, वैसा उक्त ग्रन्थ सिद्धान्तों में बहुत अल्प उपलब्ध होता है। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि दर्शन के क्षेत्र में शांकर अद्वैतवाद का ही सर्वाधिक महत्त्व है। इस सिद्धान्त का महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जब वेदान्त की चर्चा होती है, तब उससे प्रायः शांकर वेदान्त का ही ग्रहण किया जाता है।

अद्वैतवाद के अर्थ के सम्बन्ध में भी विचार करना उपयुक्त होगा। हलायुधकोश के अन्तर्गत भी अद्वयवाद का उल्लेख मिलता है। यहाँ अद्वयता से एकमात्र आत्मा की ही सत्यता का ग्रहण किया गया है। 'वाचस्पत्यम्' में अद्वैत शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—द्विधा इतम् द्वीतम् तस्यं भावः द्वैतं, द्वैतं = भेदो नास्ति यत्र तद् अद्वैतम्।' उक्त कोश के अनुसार अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैत-विरोधी एवं भेदरहित तत्त्व है। अद्वैत शब्द का उक्त कोशकारों द्वारा किया गया अर्थ अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भी पूर्णतया चरितार्थ होता है।

अद्वैत-सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादनकर्ता शंकराचार्य ने भी अद्वैत शब्द का प्रयोग भेदरहित एवं परमार्थ सत्यस्वरूप आत्मा एवं ब्रह्म के लिए किया है। अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि अद्वैतवाद से शंकराचार्य का सम्बन्ध घनिष्ठ है। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के प्रतिपादन द्वारा केवल आत्मा एवं ब्रह्मकी सत्यता तथा जगत् के मिथ्यात्व का सम-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

र्थन किया था। शंकराचार्य ने अद्वैत-तत्त्व को निर्गुण सत्य के रूप में स्वीकार किया है।

जगत् की स्थिति का विवेचन शंकराचार्य ने मायावाद के आधार पर किया है। जहाँ तक दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद के स्थान, महत्त्व एवं देन की बात है, विभिन्न भारतीय एवं विदेशीय दर्शन-पद्धतियों के लिए अद्वैतवाद ने कुछ न कुछ देन अवश्य दी है। इसके अतिरिक्त वैदिक-सिद्धान्तों की जैसी व्याख्या एवं समन्वय अद्वैतवाद के पोषक शांकर-वेदान्त में मिलता है, वैसा न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं योगनर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता। वैदिक सिद्धान्तों के समन्वय की प्रतिष्ठा जैसी अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत मिलती है, वैसी विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद आदि वैष्णव-सिद्धान्तों के अन्तर्गत अप्राप्य है। यही नहीं शांकरवेदान्त सम्मत अद्वैत सिद्धान्त इतना विस्तृत है कि उसके परवर्ती विशिष्टाद्वैतवाद एवं द्वैतवाद सिद्धान्तों की भी स्थिति उसमें आसानी से देखी जा सकती है। इस प्रकार यह कहना समीचीन ही होगा कि विविध वैष्णव-दर्शन-पद्धतियों के विकाश में शांकर अद्वैतवाद का अत्यन्त महान् योग है। वस्तुत: शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त इतना विशाल, उदार एवं समन्वयपूर्ण है कि इस विलक्षण सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों आदि किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं क्रिया से सम्पन्न अन्य आगामी दार्शनिकों के लिए भी स्थान प्राप्त है।

o——o

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२. वेदान्तशास्त्र के आरम्भ का प्रयोजन

वेदान्तदर्शन की प्रवृत्ति इस लिए हुई कि अनेक प्रकार के दुःखों से परिपीड़ित सांसारिक जीवों की दुःखों से मुक्ति हो और उन्हें वास्तविक सुख की प्राप्ति हो सके। तब तक मनुष्यों को चिरस्थायी सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं होती, जब तक यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त न हो। यद्यपि व्यावहारिक साधन-विशेषों की सम्पत्ति कुछ व्यावहारिक कष्ट-बाधाओं को हटा सकती है, तथापि उससे पारमार्थिक चिरस्थायिनी सुखशान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः जगत् के साधारणजनों के उपकार को मन में रखकर तत्तद्दर्शनकारों ने सूत्ररूप से अधिकारिविशेषों के लिए तत्तत् प्रकारों का साधन अनेक युक्तियों से दिग्दर्शित इस लिए कराया है कि उतनी श्रेणी के अधिकारी पुरुषों को कुछ न कुछ शान्ति अवश्य मिल जाय और उन्हीं के मूलभूत सिद्धान्त या सूत्रों के आधार पर आगे के व्याख्याकारों ने भी विशद व्याख्याएं की हैं।

अनादि अनन्तकाल से आ रहे इस जन्म-मरणरूप संसार में जीवों की मुक्ति के लिए ही वेदान्तशास्त्र का आरम्भ हुआ है। इसी बात को भाष्यकार स्वयं कहते हैं—"एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तक. सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते"। उक्त भाष्य-रीति से अहम् इस वृत्तिरूपज्ञान का आश्रय जो अन्तःकरण है उस अन्तःकरण की वृत्ति के साक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास (आरोप) कर के फिर उससे विपरीत रूप से उस सबका साक्षीरूप प्रत्यगात्मा का अन्तःकरणादि में लोग अध्यास करते हैं अर्थात् अनात्मरूप अन्तःकरणादि का आत्मा में और आत्मा का अनात्म अन्तःकरण आदि में अन्योऽन्याध्यास (आरोप) करते हैं। इस प्रकार यह मिथ्या भ्रम अज्ञानरूप और कारण रूप एवं प्रवाहरूप से अनादि है। आत्म-अनुभव के विना अन्त (नाश) रहित होने के कारण अनन्त है। नैसर्गिक (स्वभाविक) अविद्या रूप यह अध्यास (कर्तृत्व भोक्तृत्वादिरूप) मिथ्या भ्रमात्मक है। वही कर्तृत्व-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri
भोक्तृत्वादिरूप यह अध्यास ही संसार का प्रवर्तक (हेतु) है, जो सभी को प्रत्यक्ष है। भ्रमयुक्त संसार सब को साक्षीस्वरूप आत्मा द्वारा अनुभूत है। आत्मा के ज्ञान के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इस अनर्थ के हेतुभूत अध्यास की निवृत्ति के लिए और उस निवृत्ति के हेतुभूत आत्मैक्यज्ञान की प्राप्ति के लिए ही सब वेदान्त (उपनिषदादि) आरब्ध हुए हैं। सब वेदान्तों का एकात्मज्ञान की प्रप्ति ही प्रयोजन है।

साधनचतुष्टय संपन्न अधिकारी को जब 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा जीवब्रह्म की एकतारूप ज्ञान का उदय हो जाता है, तब कारण-सहित अनर्थरूप प्रपंच का विलय (मिथ्यात्व-निश्चय) हो जाता है; क्योंकि अधिष्ठान के यथार्थज्ञान होने पर अध्यस्त स्वयं विलीन हो जाता है। अविद्या के निवृत्त होने पर अविद्या-प्रयुक्त कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अध्यास भी निवृत्त हो जाते हैं। "अविद्याऽस्तमयो मोक्षः सा च बन्धः उदाहृतः" अर्थात् अविद्या की निवृत्ति का नाम मोक्ष है और अविद्या का नाम बन्ध है।

यहाँ यह शंका होती है कि ब्रह्म-विचारात्मक शास्त्र आरब्धव्य है या नहीं। यदि अज्ञानजन्य अध्यास का सम्भव हो, तो अज्ञाननिवृत्ति पूर्वक अध्यास की निवृत्ति के लिए शास्त्र का आरम्भ हो सकता था, परन्तु 'मैं कहता हूँ', 'मैं देह नहीं', 'मेरी देह है' इत्यादि विवेकपूर्वक ज्ञान होने से अध्यास का निरूपण नहीं हो सकता। इसी कारण आत्मा में संशय का अभाव है—'मैं हूँ या नहीं' ऐसा संशय किसी को नहीं होता कि जिसकी निवृत्ति के लिए विचार किया जाय। इसीलिए शास्त्रारम्भ का कोई प्रयोजन नहीं है। 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान सब को है, और वह 'मैं' ज्ञान का विषय आत्मा ही तो ब्रह्म है तथा उस ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है। इस कारण ब्रह्मज्ञान के लिए शास्त्रारम्भ करने योग्य नहीं है। किन्तु इस प्रकार की शंका उचित नहीं है। क्योंकि यद्यपि 'मैं देह नहीं हूँ' इत्यादि परोक्षज्ञान किसी को होता है, परन्तु 'स्थूलोऽहं कृष्णोऽहम्' इत्यादि रीति से अविवेक अज्ञानपूर्वक अध्यास का होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि देह में ब्रह्मात्मा का
Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सम्बन्ध है, इससे 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि गौण व्यवहार होता है, यह अध्यास नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्मात्मा असंग है' ऐसा श्रुतियों में कहा गया है। इस कारण अध्यास के बिना देहेन्द्रियान्तःकरणादि के साथ आत्मा के सम्बन्ध की प्रतीति भी नहीं हो सकती। इस सम्बन्धाध्यास से ही आत्मा में ब्रह्मभिन्नत्वाभिन्नत्व, नित्यत्वानित्यत्व, एकत्वानेकत्वादि का सशय होता है और अज्ञान, अध्यास, संशयादि की ज्ञान द्वारा निवृत्ति होने से मुक्ति रूप प्रयोजन सिद्ध होता है। सारे उपनिषदों का तात्पर्य अद्वितीयब्रह्म के प्रतिपादन में है, इस प्रकार समन्वय-प्रतिपादन, श्रुतियों का परस्पर विरोधाभास निराकरण एवं ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के साधनों का प्रतिपादन करना तथा आत्मैक्यज्ञान का फल रूप सच्चिदानन्द सुख स्वरूप कैवल्य की प्राप्ति करा देना ही वेदान्तशास्त्र के आरम्भ का मुख्य प्रयोजन है।

o———o

३. अध्यारोपापवाद

ब्रह्मवेत्ता गुरु के द्वारा जिज्ञासु शिष्य को जगत् के मिथ्यात्व एवं परमात्मा की सत्यता का उपदेश देने के लिए अध्यारोप एवं अपवाद सिद्धान्त की योजना अद्वैत-वेदान्त की एक अनुपम देन है। अध्यारोप योजना के अभाव में तत्ववेत्ता गुरु द्वारा जिज्ञासु के लिए उपदेश ही असम्भव होता। अतः यह कथन अनुचित न होगा कि अध्यारोप सिद्धांत के द्वारा ही निष्प्रपंच ब्रह्म का उपदेश सम्भव है।

अध्यारोप का अर्थ है—जो वस्तु वास्तव में जहाँ न हो, उसी वस्तु का वहीं पर आरोप (प्रतिपादन) करना। अपवाद का अर्थ है—मिथ्यारोपित वस्तु का निराकरण करना। अद्वैत–वेदान्त के अनुसार

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जगत् के विषयों का आरोप अध्यारोप है एवं जगत् के समस्त विषयों का निराकरण का नाम अपवाद है। अद्वैत-वेदान्त के परवर्ती आचार्य सदानन्द ने एक उदाहरण के आधार पर अध्यारोप की जो परिभाषा की है, वह इस प्रकार है—"असर्पभूतायांरज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः" अर्थात् किसी वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं, जैसे रस्सी में सर्प का आरोप अध्यारोप है। अध्यारोप के द्वारा गुरु पहले आत्मा में अवस्तुरूप अनात्मशरीरादि प्रपच का आरोप करता है और फिर आत्मा को अपवाद-पद्धति से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पंच कोशों से अतिरिक्त सिद्ध करता है।

अपवाद के तीन भेद हैं–श्रौत, यौक्तिक, और प्रत्यक्ष। श्रौत अपवाद–"नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा नानात्वमय प्रपंच का निराकरण श्रौत अपवाद है।

यौक्तिक अपवाद—कटक एवं कुण्डलादि की सत्ता अपने उपादान-कारणभूत सुवर्णादि से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार घटादि दृश्य पदार्थों की सत्ता घटादि के उपादान मृत्तिका आदि से भिन्न नहीं है। उक्त युक्ति के आधार पर जब यह कहा जाता है कि जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि सुवर्णरूप अपने उपादान से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार प्रपंच भी अपने कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तो प्रपंच का यह निराकपरण यौक्तिक अपवाद कहलाता है।

प्रत्यक्ष अपवाद—रस्सी एव सर्प के उदाहरण में रस्सी का प्रत्यक्ष होने पर यह रस्सी है, सर्प नहीं है, इस प्रकार सर्प का अपवाद प्रत्यक्ष अपवाद है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अनुसार तत्त्व-वेत्ता को जब मैं सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म हूं, इस प्रकार का अनुभव होता है और अनात्मबुद्धि का निराकरण हो जाता है, तो वह प्रत्यक्ष अपवाद कहलाता है। लोक में भी जिस प्रकार आकाश के स्वरूप का परि-ज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त पुरुष पहले नीलिमा और विशालता आदि का ज्ञान करा फिर यह आकाश वस्तुतः नीलिमा युक्त आकाश नहीं है, इस [illegible] है,

Prof. Amogavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त में भले ही आकाशादि के कारण ब्रह्म को बतलाया जाता है और फिर निषेध वाक्यों से आरोपित संसार-कारणत्व के अपवाद से शून्य ब्रह्म की अद्वैतता का प्रतिपादन किया जाता है। अद्वैत-वेदान्त में अध्यारोप एवं अपवाद की व्यवस्था ब्रह्म एवं जगत् की समस्या को सुलझाने का एक सरल एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

---

४. त्रिविध सत्ता

शांकरवेदान्त में पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक भेद से पदार्थ तीन प्रकार के माने जाते हैं। अतः इन में रहने वाली सत्ता भी तीन प्रकार की मानी गई है—१–पारमार्थिक सत्ता, २–व्यावहारिक सत्ता तथा ३–प्रातिभासिक सत्ता। सत् वही है जो किसी उत्तरकालीन ज्ञान से बाधित न हो। और असत् वह है जो उत्तरकालीन अन्य ज्ञान के द्वारा बाधित हो। जो अबाध्य हो उसी को सत्य कहते हैं "सत्यत्वं बाधराहित्यम्" और "असत्यत्वं बाध्यत्वम्"। प्रकाश–अन्धकारमयी रात्री में रास्ते में पड़ी रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम होता है। संयोग-वश हाथ में दीपक लेकर किसी पथिक के उधर से आ निकलने पर, दीपक की सहायता से रस्सी देखने पर ठीक रस्सी का ज्ञान होता है, वहाँ पूर्वकालीन सर्पज्ञान उत्तरकालीन रज्जुज्ञान के द्वारा बाधित होता है। अतः रज्जु में सर्पज्ञान बाधित होने से मिथ्या है। परन्तु यदि मेढक का शब्द सुनकर हमें उनके खाने वाले सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो और उसी समय बिजली के चमकने से घासों में भागने वाला सर्प दीख पड़े, तो कहना पड़ेगा कि वह ज्ञान अबाधित होने से सत्य है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्य के इस सामान्य परिचय को प्रामाणिक सिद्ध करने की दृष्टि से वेदान्तियों ने 'अबाध्य से' पूर्व 'त्रिकाल' शब्द की योजना की है। अतः सत्य की शास्त्रीय परिभाषा है—"त्रिकालाबाध्यं सत्यम्"। भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् इन तीनों कालों में तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जिसका स्वरूप बाधित न हो अर्थात् एकरूपेण अवस्थित रहे, वही सत्य है। शंकराचार्य के शब्दों में "एकरूपेण ह्यवस्थितोयोऽर्थः स परमार्थः"। ब्रह्म ही एक ऐसा तत्व है, जो तीनों काल में समभाव से अवस्थित रहता है, सर्वदा सर्वत्र निर्बाध है। वह एक है तथा अद्वितीय है। ब्रह्म से पृथक् समस्त नानात्मक जगत् मिथ्या है, क्योंकि अधिष्ठानरूप ब्रह्मज्ञान से जगत् का बाध हो जाता है।

प्रातिभासिक सत्ता से अभिप्राय उस सत्ता से है, जो प्रतीतिकाल में सत्यतया प्रतिभासित हो, परन्तु उत्तर काल में बाधित हो जाय। जैसे रज्जुसर्प, शुक्तिरजतादि। मरुमरीचिकातोयादि पदार्थ आधारहीन नहीं है, क्योंकि भाष्यकार का कहना है कि —"नहि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति" (शां०भा०)। प्रतीति पूर्वकाल में रज्जु-सर्पज्ञान को उत्पन्न करती है वर्तमान में उसी के आधार पर सर्पज्ञान की अवस्थिति है और भविष्य में इसी आधार में रज्जुज्ञान के उदय होने पर सर्पज्ञान अन्तर्हित हो जाता है। अतः रज्जुसर्प का ज्ञान-आकाशपुष्प के समान निराधार नहीं है।

व्यावहारिक सत्ता इस जगत् के समस्त व्यवहारगोचर पदार्थों में रहती है। जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं — अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं, और अन्तिम दो जगत् के। सांसारिक पदार्थों का कोई न कोई नाम है और कोई न कोई रूप भी होता है। इन नाम रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है। परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर जगत् के पदार्थों का यह अनुभव बाधित हो जाता है, अतः एकान्त सत्य नहीं है। व्यवहारकाल में सत्य होने के कारण जगत् के निराकार पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है।

Prof. Amoghavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः। प्राग्ब्रह्मात्मता-प्रतिबोधात् उत्पन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः" (ब्र० सू० २-१-६-१४ शां० भा०) इन समस्त पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है, जो त्रिकाल में अबाध्य होने से ऐकान्तिक सत्य है, वही ब्रह्म है।

अतः ब्रह्म की सत्ता को पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं, तभी वह असत्य प्रतीत होता है। इसलिए जगत् हमारी इन्द्रियों के लिए अवश्य सत्य है, परन्तु वास्तविक रूपेण वह सत्य नहीं है। इन तीनों से भिन्न भी कतिपय पदार्थ हैं—जैसे वन्ध्यापुत्र आकाशकुसुम आदि। ये निराधार या निराश्रय पदार्थ 'तुच्छ' या अलीक कहे जाते हैं। क्योंकि इन में किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती।

५. अध्यासवाद

सभी दर्शनों में अध्यास के विचार को प्रधानता दी गई है। परन्तु शांकरवेदान्त में भाष्यकार एवं टीकाकारों ने मुख्यतः अध्यास तथा अध्यास के कारणों के विचार को सर्वोपरि माना है। क्योंकि अध्यास की निवृत्ति के विना अधिष्ठान के यथार्थ स्वरूपज्ञान का होना संभव नहीं है।

भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने अध्यास का अर्थ किया है—"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" (अध्यासः) यहां 'परत्रावभासः'—यह अध्यास का लक्षण है, शेषपद अध्यास की सामग्री के प्रदर्शक हैं। रत्नप्रभाकार ने

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri
'अवभास' शब्द की दो व्युत्पत्तियां की हैं— १-'अवभासनमवभासः', २-'अवभाष्यते वा अवभासः' । प्रथम व्युत्पत्ति से शुक्ति-रजतादि विषयक वृत्तिज्ञान का और दूसरी व्युत्पत्ति से शुक्ति-रजतादि का ग्रहण होता है । उक्त वृत्तिज्ञान को ज्ञानाध्यास तथा शुक्ति-रजतादि को अर्थाध्यास कहा जाता है । उक्त लक्षण-वाक्य में परत्र का अर्थ होता है—अयोग्य अधिकरण या भिन्नसत्ताक अधिष्ठान । इसलिए कुछ विद्वानों ने अध्यास का लक्षण किया है—"अधिष्ठानविषमसत्ताकोऽवभासः वा तदभाववति तत्प्रकारकोऽवभासः अध्यासः" । अधिकरणगत और भिन्न-सत्ताक का नामान्तर विषमसत्ताक है ।

अर्थाध्यास के ६ भेद हैं—१-धर्माध्यास — देह के गौरत्वादि और इन्द्रियों के बधिरत्वादि धर्मों का आत्मा में अध्यास होना धर्माध्यास है । २-धर्मसहित धर्मी का अध्यास, जैसे कर्तृत्वादि धर्मों के सहित अन्तःकरणरूप धर्मी का आत्मा में अध्यास, ३-सम्बन्धाध्यास, जैसे शरीरादि में आत्मा के तादात्म्यरूप सम्बन्ध का अध्यास, ४-सम्बन्ध सहित सम्बन्धी का अध्यास, जैसे सम्बन्धसहित शरीरादि अनात्मपदार्थ आत्मा में अध्यस्त होते हैं, ५-अन्यतराध्यास, जैसे आत्मा में अनात्मपदार्थों के स्वरूप का अध्यास होता है, अनात्मा में आत्मा का नहीं, ६-अन्योऽन्याध्यास, जैसे लोहा और अग्नि की भाँति आत्मा-अनात्मा का परस्पर अध्यास ।

दूसरे प्रकार से अध्यास के दो भेद किये जा सकते हैं— १-स्वरूपाध्यास, तथा २-सम्बन्धाध्यास । सम्बन्धाध्यास का ही नामान्तर संसर्गाध्यास है । उक्त छः भेदों में प्रथम, द्वितीय और पञ्चम, स्वरूपाध्यास के अन्तर्गत हैं । तृतीय, संसर्गाध्यास और स्वरूपाध्यास का संमिश्रण है ।

सर्वप्रथम अध्यास की सामग्री का विचार किया जाता है, जो कि अध्यास में सहकारी हैं । जैसे सत्य रजत का संस्कार और तीन प्रकार के दोष—प्रमाता (अन्तःकरण) गत लोभादि । प्रमाण (इन्द्रिय) गत काचकामलादि । प्रमेय=विषय (शुक्ति आदि) गत सादृश्य=चाक्यचिक्यादि । अध्यस्त का आश्रय शुक्त्यादि का विशेष (नील-पृष्ठत्वादि)
Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का अज्ञान सामान्यांश (इदन्ता) मात्र का ज्ञान। यही अध्यास की सामग्री है।

जब दोषयुक्त नेत्र के द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति शुक्ति-देश में जाती है, तो उस वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य शुक्तिनिष्ठ आवरण का भंग नहीं कर पाता, क्योंकि वह वृत्ति दोषयुक्त सहकृत है। और विषयावाच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठ अविद्या का आवरण-अंश शुक्ति को आवृत्त कर लेती है तथा विक्षेपांश रजताकार से परिणमित हो जाती है। वह वृत्ति उसी रजत को विषय करती है। इसलिए जो वृत्तियाँ आरोप्यपदार्थाकार होती हैं, वे अविद्या-वृत्ति कही जाती हैं, प्रमाण वृत्ति नहीं। अतः शुक्ति-स्थरजत अविद्या का परिणाम और चैतन्य का विवर्त्त माना जाता है।

पुरोवर्त्ति शुक्ति में दोषकलुषित चक्षु का जो सम्वन्ध होता है, उससे दोष के कारण शुक्ति-अंश का ग्रहण नहीं होता। किन्तु इदन्ताकार ही अन्तःकरण वृत्ति उत्पन्न होती है, और वही वृत्ति इदन्त्वावाच्छिन्न-चैतन्य की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्धक जो आवरण है, उसका शम(नाश) कर देती है। तत्पश्चात् इदन्ता में, और इदन्ता का ग्राहक जो वृत्ति है, उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होकर उसी रूप में अभिव्यक्त होता है। परन्तु शुक्ति-अंश से चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। कारण यह है कि दोष के कारण शुक्ति के अंश से अवच्छिन्न चैतन्य को आवृत्त करने वाला जो चैतन्यावरण है, उसका भंग नहीं होता। इदमंश से युक्त चैतन्य का शुक्तित्वरूप से जो अनवभास है, अर्थात् इदमंश शुक्ति रूप से अभिव्यक्त नहीं होता है, इसलिए तदाकारवृत्तिरूप से उस चैतन्य का जो अनवभास है वह अविद्या है।

उस अविद्या का आश्रय, इदमवच्छिन्न और इदमाकार वृत्ति-अवच्छिन्न चैतन्य है। उसमें प्रथम इदमवच्छिन्न चैतन्य का शुक्तिरूप से अनवभास जो अविद्या है, उस अविद्या का आश्रय इदमवच्छिन्न चैतन्य है, और तदाकारवृत्तिरूप से चैतन्य का अनवभास रूप जो अविद्या है, उसका इदमाकारवृत्तिरूप चैतन्य आश्रय है। ये दोनों प्रकार की

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अविद्यायें (इदमवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ और इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य-निष्ठ) दोषवश संक्षुभित होती हैं। यहाँ इदमवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ अविद्या क्षुभित होकर चाकचिक्यादि से सहकृत होकर रजत के संस्कार का उद्बोधन करती है, और उसकी सहायता से रजत के आकार में परिणमित भी हो जाती है। और वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ अविद्या रजत का ग्रहण करने वाली वृत्ति के संस्कार के उद्बोधन द्वारा उसकी सहायता से वृत्तिरूपेण परिणमित हो जाती है। ये दोनों परिणाम अपने-अपने आश्रयभूत साक्षी चैतन्य से भासित होते हैं। इसीको क्रमशः अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास कहते हैं।

यदि शंका हो कि जैसे विषय का अवभास वृत्ति से होता है, वैसे ही उस वृत्ति का भी वृत्त्यन्तर से अवभास होगा, और फिर उसका अन्यवृत्ति से, इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग होगा। इसके उत्तर में कहना है कि जैसे दीपक घटादि का प्रकाशक है वैसे ही अपने आपका भी प्रकाशक है। दीपक अपने प्रकाश के लिए दीपान्तर की अपेक्षा नहीं करता। इसी प्रकार वृत्ति भी स्वविषयक है, वृत्त्यन्तर की अपेक्षा नहीं करती।

इदमाकारवृत्ति अन्तःकरण का परिणाम है, और रजताकारवृत्ति अविद्या का परिणाम है। इसलिए 'इदं रजतम्' इस स्थल में दो ज्ञान हैं 'इदं रजतम्' इस स्थल में सत्य इदमांश और अनृत रजतांश इन दोनों का अन्योऽन्यात्मक होने के कारण एकत्वमात्र हो गया है। इसी कारण विषय के अवभासरूप फल के बल से 'इदं रजतम्' यह एक ही ज्ञान माना जाता है, अध्यासमूलक एकत्वज्ञान होता है। इसी अभिप्राय से पंचपादिकाकार कहते हैं—"सा चैकमेवज्ञानमेकफलं जनयति" अर्थात् वह अविद्या एक ही अवभासरूप फल को उत्पन्न करती है।

शंका होती है कि शुक्ति देश में रजत को यदि सत्य माना जाय तो 'नेदं रजताम्' यह जो निषेध होता है वह कैसे होगा, क्योंकि सत्य का निषेध नहीं होता। तो इसके उत्तर में कहना है कि रजत का प्रतिभास होने से प्रातिभासिक सत्यत्व है, तथापि उसमें व्यवहारिक सत्यत्व न होने

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के कारण सोपाधिक में उसका निषेध होना ठीक है, क्योंकि व्यावहारिक-सत्यत्वविशिष्ट रजत का तो वहाँ अभाव ही है। अब उसके निषेध होने में कोई आपत्ति नहीं है।

ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता है, और आकाशादि की व्यावहारिक-सत्ता है, तथा रजतादि में प्रातिभासिक। कहा भी है—

"तात्त्विकं ब्रह्मणः सत्वं व्योमादेर्व्यावहारिकम्।
शुक्त्यादेरर्थजातस्य प्रातिभासिकमिष्यते॥"

शुक्ति में रजत की ख्याति (भान) और बाध तब तक सिद्ध नहीं होता, जब तक अनिर्वचनीय की उत्पत्ति न मानी जाय। कारण कि रजत को असत् नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी प्रतीति होती है, सत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से 'नेदं रजतम्' इस प्रकार से बाध होता है। सत् और असत् से विलक्षण जो हो उसी को अनिर्वचनीय कहा जाता है। यह अनिर्वचनीय माया का ही परिणाम हो सकता है, इसलिए इसका मायामय होना भी सिद्ध होता है। अनिर्वचनीय की परिभाषा श्रीचित्सुखाचार्य ने किया है—

"प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः॥"

जो सत्वेन, असत्वेन और सदसदुभयत्वेन विचार का विषय न हो, वही अनिर्वचनीय कहा जाता है। अर्थात् जो सत् नहीं है, असत् भी नहीं है, सदसदुभयरूप भी नहीं है, वही अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय माया का यही स्वरूप वेदान्तियों ने स्वीकार किया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

६. प्रमाण-विचार

प्रमाणों की संख्या के विषय में भारतीय दर्शनों में पर्याप्त मतभेद रहा है और विभिन्न दर्शनों में एक से लेकर दश तक प्रमाणों की संख्या निश्चित की गई है। चार्वाकमतानुयायी केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। जैन और वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान को, माध्वाचार्य के अनुयायी केवल प्रत्यक्ष और शब्द को स्वीकार करते हैं। सांख्य और योग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर-अनुयायी मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति पाँच प्रमाण मानते हैं। वेदान्ती और कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसक-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि छः प्रमाण मानते हैं। कुछ अन्य लोग ऐतिह्य, चेष्टा, प्रतिभादि को भी प्रमाणरूप से स्वीकार करते हैं।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—यथार्थ तथा अयथार्थ। यथार्थज्ञान के भी दो भेद हैं–अनुभव एवं स्मृति। इनमें से यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहते हैं। इस प्रमा का जो साधन हो, उसे प्रमाण कहते हैं। यह प्रमा अथवा यथार्थ अनुभव वेदान्त के अनुसार निम्न छः कारणों (प्रमाणों) से उत्पन्न होता है—

१–प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षप्रमाण प्रत्यक्षप्रमा का हेतु होता है। घटादि विषय को देखने से, उन घटादि विषयों के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के संयोग होने के अनन्तर 'यह अमुक वस्तु है' इस प्रकार का जो प्रमात्मक ज्ञान होता है उसे 'प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं। यह प्रत्यक्षप्रमा दो प्रकार की है–सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। "सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम्" जिस प्रत्यक्ष में विशेषण अथवा नामरूप, जाति आदि का भी बोध होता है, उसे सविकल्पक कहते हैं, जैसे चक्षुरिन्द्रिय से घटत्वावच्छिन्न घट का

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बोध होना, "निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्" । निर्विकल्पकज्ञान में केवल वस्तुमात्र का बोध होता है । उसके नाम-जाति आदि का बोध नहीं होता । प्रौढव्यक्ति को प्रथम क्षण में वस्तु का निर्विकल्पक ज्ञान होता है, द्वितीय क्षण में वह सविकल्पक हो जाता है । नैयायिक छः सन्निकर्ष मानते हैं, शांकरवेदान्त समवाय को नहीं मानता । शांकरवेदान्त के अनुसार वस्तु और तद्गतरूप बिलकुल एक हैं, उनमें तादात्म्य है, अतः उसके अनुसार सन्निकर्ष के पांच भेद हैं–संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ताभिन्नतादात्म्य, तादात्म्य तथा अभिन्नतादात्म्य । शांकरवेदान्त में अभाव के ग्रहण के लिए अनुपलब्धि प्रमाण माना गया है और शांकरवेदान्त में समवाय नाम की कोई वस्तु नहीं है अतः उसको मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । अतः इन दोनों के ग्रहण के लिए विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है ।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—एक इन्द्रियों से जन्य और दूसरा इन्द्रियों से अजन्य । इन्द्रियाँ केवल पांच ही हैं । मनके इन्द्रियत्व का शांकरवेदान्त में खण्डन किया गया है । अतः सुखदुःख आदि का प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य है । पांचों इन्द्रियों में घ्राण, जिह्वा और त्वचा तो अपने-अपने स्थान पर रहकर ही विषय का ज्ञान कराती हैं, परन्तु कर्ण और चक्षु विषय-देश में जाती हैं और वस्तु या शब्द से संयोग करके विषय का ग्रहण कराती हैं । शब्दग्रहण में नैयायिकों की वीचीतरंगन्याय-प्रक्रिया को शांकर वेदान्त में नहीं स्वीकार किया गया है । द्रष्टा या ज्ञाता की दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान के दो अन्य भेद हैं––जीवसाक्षी तथा ईश्वरसाक्षी । अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है । अन्तःकरण उसकी उपाधि है या विशेषण है । अन्तःकरण अनेक हैं, अतः जीव भी अनेक हैं । जीवसाक्षिप्रत्यक्ष भी अनेक प्रकार के हैं । माया से अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है । मायोपहित-चैतन्य का नाम ईश्वरसाक्षी है और वह एक है, अतः ईश्वरसाक्षिप्रत्यक्ष भी एक ही है ।

शांकरवेदान्त के अनुसार जड़वस्तु के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार है—वस्तु के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग होने पर चित्तवृत्ति उसी वस्तु का आकार धारण कर लेती है । यह वृत्ति वस्तुगत अज्ञान को नष्ट

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करती है और तब अपने में प्रतिविम्बित चैतन्य के आभास के द्वारा वस्तु को भी प्रकाशित कर देती है, ठीक उसी प्रकार जैसे दीपक की प्रभा अन्धेरे में घटादि के रखे होने पर अन्धकार का विनाश करती है और घट को भी प्रकाशित करती है। पंचदशी में भी यही बात कही गई हैं——

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ।।"

ब्रह्म के प्रत्यक्ष में कुछ अन्तर है। अध्यारोपापवादन्याय के द्वारा तत् और त्वं पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होने के अनन्तर जब गुरु साधक को 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य का उपदेश देता है, तो उसके निरन्तर चिन्तन से उसके हृदय में 'मैं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभाव आनन्दमय ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की परब्रह्म के आकार की वृत्ति उदित होती है और उस वृत्ति में चैतन्य का प्रतिविम्ब रहता है, अतः उस ब्रह्मगत अज्ञान का नाश होने के अनन्तर अज्ञान के कार्यभूत समस्त संचितकर्म एवं अन्तःकरणादि का नाश हो जाता है। वृत्ति भी अज्ञान का कार्य है, अतः अज्ञान नष्ट होने पर वह स्वतः नष्ट हो जाती है। अज्ञान के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर स्वयंप्रकाश ब्रह्म स्वतः प्रकाशित होने लगता है।

२—अनुमान

अनुमितिज्ञान के साधन को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। यह अनुमिति व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होती है। व्याप्तिज्ञान का संस्कार इस ज्ञान के उद्बोध में अवान्तर व्यापार होता है। न्याय के अनुसार लिंग (धूम) के तृतीयज्ञान को परामर्श कहते हैं। यही लिंग-परामर्श अनुमिति का कारण है। पहले व्यक्ति महानस (रसोईघर) में धूम के साथ अग्नि को देख कर व्याप्ति का निश्चय करता है, यह प्रथम ज्ञान है। पर्वतादि में धूम देखना उसका द्वितीय ज्ञान है, व्याप्ति के पुनः स्मरण होने पर इस पर्वत में वह्निव्याप्य धूम है, इस प्रकार का तृतीयज्ञान परामर्श है। यही अनुमान है। परन्तु शांकरवेदान्त में इस तृतीयज्ञान को अनुमिति का कारण नहीं माना जाता। क्योंकि यह अनुमिति का मुख्य हेतु नहीं

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है और उसे मानने में गौरव भी है। शांकर-वेदान्त के अनुसार 'यहां पर धूम है' ऐसे पक्षधर्मता के ज्ञान में 'धूम वह्निव्याप्य होता है' ऐसे संस्कार का उद्‌बोध होता है, जिस से। अतः यह भी वह्निमान् है, ऐसी अनुमिति होती है। शांकर-वेदान्त में अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान को ही माना गया है, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरकी नहीं माना गया है।

न्याय के परार्थानुमान के पञ्चावयव वाक्यों के स्थान पर केवल तीन ही वाक्य वेदान्त-सम्मत है। पर्वत में वह्नि है (प्रतिज्ञा) क्यों कि वहां धूम (हेतु) है, जहां जहां धूम होता है, वहां वहां अग्नि होती है, जैसे रसोई घर में (उदाहरण)। वहां पर भी वैसा ही अग्निव्याप्य धूम है (उपनय), अतः यहां पर भी अग्नि है (निगमन) इस में प्रथम तीन या अन्तिम तीन से ही काम चल जाता है। वेदान्त के शेष प्रमाणों में मीमांसादि दर्शनों से विशेष भेद नहीं हैं। अतः उनका सामान्य विवेचन ही यहाँ पर्याप्त है।

३--उपमान

'सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्' सादृश्य से उत्पन्न यथार्थ प्रमा के करण को उपमान प्रमाण कहते हैं। पहले से देखी गई किसी वस्तु के सादृश्य से किसी अन्य वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसका यथार्थ ज्ञान उपमिति है। यह सादृश्य इष्टवस्तु के स्मरण तथा दृश्यमान वस्तु के प्रत्यक्ष में होता है। किसी व्यक्ति ने नगर में कोई गाय देखी है और वह यह भी जानता है कि नील गाय (गवय) गौ के सादृश होती है। कभी वन में जाने पर वहाँ गवय का प्रत्यक्ष होने से उसे यह प्रतीति होती है कि यह प्राणी गाय के सदृश है। तब उसे यह निश्चय होता है कि इसी प्रकार की वह गाय भी थी, जिसे मैंने देखा था। तब अन्वय-व्यतिरेक से वह गवयनिष्ठ गोसादृश्य ज्ञान के द्वारा (करण) गोनिष्ठ-गवय-सादृश्य (फल) को जान पाता है और उसे पता चल जाता है कि यह गवय ही है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण से उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय गाय का प्रत्यक्ष नहीं होता, और गाय-निष्ठ उपमिति के प्रति कोई हेतु न होने से यहां पर अनुमान प्रमाण भी नहीं माना जासकता। यहां पर

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गवय में गोसादृश्य ज्ञान करण है और गो में गवय-सादृश्य-ज्ञान उपमिति प्रमा है।

४--आगम (शब्द) प्रमाण

'यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम् (वे. प.)। अन्य सजातीय प्रमाणों से बाधित न होते हुए तात्पर्य के विषय-भूत-संसर्ग को सूचित करने वाला शब्द-प्रमाण है। अर्थात् ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ (पदों का अर्थ) के स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना शाब्दी प्रमा कहलाती है। वेदान्त के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति (संनिधि) के कारण सम्पूर्ण वाक्य से एक विशेषतात्पर्य-अर्थ प्रस्फुटित होता है, जो पदार्थ से भिन्न होता है। तात्पर्यार्थ और पदार्थ के बोध्यबोधकभावका ज्ञान शाब्दी प्रमा है। इसका करण इस सम्बन्ध का बोध कराने वाला वाक्यज्ञान है। इसी को शब्द या आगम प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार वाक्यजन्य ज्ञान के आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्यज्ञान ये चार कारण हैं।

पदार्थ दो प्रकार का होता है—शक्य (अभिधावृत्ति से प्राप्त (ज्ञात) तथा लक्ष्य (लक्षणावृत्ति से) प्राप्त [ज्ञात]। लक्षणा के दो भेद हैं—केवल लक्षणा तथा लक्षितलक्षणा। 'गंगायां घोषः' में प्रथम लक्षणा है। द्विरेफ आदि पदोंके मुख्यार्थ 'दो रकार वाला' का बाध होने पर भौंरा (भ्रमर) अर्थ की प्रतीति लक्षित लक्षणा से होती है। अन्य प्रकार से जहत्, अजहत्, तथा जहदजहत् आदि भी भेद किये गये हैं। पौरुषेय वाक्य प्रामाणिक तभी माना जाता है, जब वह किसी आप्त पुरुष के द्वारा प्रयुक्त किया गया हो। वेदवाक्य अपौरुषेय हैं। वेद-वाक्य भी दो प्रकार का होता है—सिद्धार्थ तथा विधायक। जिस वाक्य से किसी विषय की सत्ता सूचित होती हो वह सिद्धार्थ है और जिस वाक्य से किसी क्रिया के लिए विधि या आज्ञा सूचित की जाय, वह विधायक है। विधिवाक्य के पुनः दो भेद हैं—उपदेशक तथा अतिदेशक। 'सत्यं वद' आदि प्रथम प्रकार के हैं। और ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत आदि द्वितीय प्रकार के हैं।

Prof. Ameda vardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

५--अर्थापत्ति

"उपपाद्यज्ञानेन उपपादककल्पनम् अर्थापत्तिः।" उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक ज्ञान की कल्पना करने को अर्थापत्ति कहते हैं। उपपाद्यज्ञान करण है और उपपादकज्ञान फल है। प्रथम को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं और दूसरे को अर्थापत्ति प्रमा। जिस (करण) के विना जिस वस्तु के हो सकने की सम्भावना न हो वह वस्तु वहां पर उपपाद्य है और वह कारण उपपादक है। जैसे रात्रि में भोजन के विना दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त के स्थूल होने की सम्भावना नहीं हो सकती। अतः स्थूलत्व उपपाद्य है और रात्रि-भोजन उपपादक है। अर्थापत्ति शब्द से प्रमा और प्रमाण दोनों का बोध होता है- प्रथम का षष्ठीतत्पुरुष समास से और द्वितीय का बहुव्रीहि से।

जैसे-"अर्थस्य=रात्रिभोजनरूपस्य उपपादकज्ञानस्य, "आपत्तिः= कल्पना (रात्रिभोजनकल्पनमेवार्थापत्तिप्रमा) तथा अर्थस्य=रात्रि-भोजनरूपस्य उपपादकज्ञानस्य कल्पना यस्मात् करणात्तदेवार्थापत्ति-प्रमाणम्"। इस प्रमारूप अर्थापत्ति के दो भेद हैं—दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति। नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष किये गये विषय के अनुपपन्न होने पर उपपादक विषय की कल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं, जैसे देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता परन्तु स्थूल है। यहाँ पर देवदत्त के स्थूलत्व की उपपत्ति के लिए रात्रि में अवश्य खाता होगा इस अर्थ की कल्पना होती है। श्रुतार्थापत्ति वहा होती है, जहां सुने गये वाक्य में स्वार्थ की अनुपपत्ति होने के कारण अर्थान्तर की कल्पना की जाय, जैसे 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है' इस वाक्य को सुनने से 'अतः वह कहीं बाहर होगा' इस अर्थ की कल्पना होती है।

श्रुतार्थापत्ति के दो भेद हैं—एक अभिधानानुपपत्ति तथा दूसरा अभिहितानुपपत्ति। इन में से जहां वाक्य के एकदेश के श्रवण से अन्वय की अनुपपत्ति होने पर अन्वयाभिधानोपयोगी किसी दूसरे पद की कल्पना की जाय वहां अभिधानानुपपत्ति होती है, जैसे 'द्वारं' केवल इस शब्द के सुनने से 'पिधेहि' पद का अध्याहार करना। अभिहितानुपपत्ति वहाँ होती

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है, जहाँ वाक्य से अवगत हुआ अर्थ स्वयं अनुपपन्नरूप से ज्ञात होकर दूसरे अर्थ की कल्पना करवाता हो, जैसे "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" इस विधि-वाक्य में ज्योतिष्टोम को स्वर्ग का साधन बताया गया है। परन्तु अल्पकालिक यज्ञ साक्षात् रूप से स्वर्ग का साधन नहीं है, अत: मध्यवर्ति पुण्यका आध्याहार होता है। अर्थात् ज्योतिष्टोम से अपूर्व की उत्पत्ति और अपूर्व से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

६—अनुपलब्धि

"ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्" व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, तात्पर्ययुक्तशब्दज्ञान, तथा उपपाद्यज्ञान इन ज्ञानरूप करणों से न उत्पन्न होने वाला जो अभाव विषयक अनुभव है, उसके असाधारण कारण को अनुपलब्धिप्रमाण कहते है। इस परिभाषामें ज्ञानरूप करणों से उत्पन्न न हो, इसलिए कहा गया है कि आत्मा में धर्माधर्म आदि जिन अतीन्द्रियपदार्थोंके अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति न हो। अभाव के ग्रहण में अदृष्ट आदि साधारण कारण हैं, अत: 'असाधारण' शब्दका प्रयोग है और (अनुभव) पद का सन्निवेश इसलिए है कि अभाव विषयक स्मरण के असाधारण कारण 'संस्कार' में अतिव्याप्ति न हो।

इस प्रकार शांकर-वेदान्त के अनुसार किसी विषय के अभाव का जो साक्षात् ज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा होता है। उपर्युक्त पांचों प्रमाण भाव-पदार्थों की उपलब्धि के साधक हैं। परन्तु अभाव की उपलब्धि इनसे नहीं होती। मेज़ पर पुस्तक नहीं हैं, यह पुस्तक का अभाव किस प्रकार विदित होगा ? प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता क्योंकि अभाव कोई वस्तु नहीं है, जिस का इन्द्रिय से सम्पर्क हो सके। व्याप्ति के न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के लिए भी कहा जा सकता है।

यह अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव। घटादि के कारणभूतमृत्पिण्डादि में उत्पत्ति से पूर्व

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

घटादिरूप कार्य का जो अभाव रहता है वह प्रागभाव है। यह प्रागभाव "इह मृत्पिण्डे घटो भविष्यति" इस प्रकार की प्रतीति का विषय है। घट के बन जाने पर मुद्गर आदि से घड़े के फूट जाने पर मृत्पिण्ड में प्रतीत होने वाला जो घटाभाव है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। जिस अधिकरण में किसी वस्तु का भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में अभाव प्रतीत हो, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे वायु में रूप का अत्यन्ताभाव। एक वस्तु में उससे भिन्न किसी अन्यवस्तु का अभाव अन्योऽन्याभाव है, जैसे घट में पट के अभाव की प्रतीति होना। इसी को विभाग भेद तथा पृथक्त्व भी कहते है। इन के पुनः दो भेद किये गये हैं— सोपाधिक तथा निरुपाधिक। प्रथम प्रकार का भेद किसी उपाधि के कारण प्रतीत होता है, जैसे माया के उपाधि के कारण चैतन्य का विभिन्न प्राणियों में विभिन्न प्रकार से प्रतीत होना। या जैसे घट, तडाग, नदी, समुद्र आदि के जल में प्रतिविम्बित सूर्य के प्रतिबिम्ब का परस्पर भेद। दूसरे प्रकार के भेद में कोई उपाधि नहीं होती, जैसे घट में पट का अभाव रहता है।

---

७. प्रमाणों का अविद्यावद्विषयत्व

अध्यास के अविद्यात्मक होने पर अथवा वस्तुस्वरूप का निश्चय होने पर, जिस में जिस का अध्यास होता है, तत्कृत दोष अथवा गुण के साथ अणुमात्र भी वह सम्बन्धित नहीं होता। इस अविद्या संज्ञक आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास को लक्ष्य करके लौकिक और वैदिक प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय व्यवहार प्रवृत्त हुए हैं और विधि-निषेध

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri
बोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं, तो फिर अविद्यावाला प्रमाता प्रयत्न आदि प्रमाण और शास्त्र का आश्रय कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि– देह-इन्द्रिय में अहं, मम अभिमान रहित आत्मा का प्रमातृत्व अनुपपन्न होने से उस में प्रमाण की प्रवृत्ति की भी अनुपपत्ति होती है, क्योंकि इन्द्रियों का ग्रहण किये बिना प्रत्यक्षादि-व्यवहार सम्भव नहीं होते और अधिष्ठान (इन्द्रियों का आश्रय-भूत शरीर) के बिना इन्द्रियों का व्यवहार सम्भव नहीं होता। अनध्यस्त आत्मभाव वाले शरीर से कोई व्यवहार (व्यापार) नहीं कर सकता। और उक्त इन सब अध्यासों के न होने पर असंग आत्मा में प्रमातृत्व उपपन्न नहीं होता, प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती, इस लिए प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र अविद्वानों का ही आश्रय करते हैं और पशु आदि के व्यवहार से विद्वान् के व्यवहार में विशेषता नहीं है-- "पश्वादिभिश्चाविशेषात्"। जैसे श्रोत्रादि इन्द्रियों का शब्दादि विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर पशु आदि भी उन शब्दादि का ज्ञान कर लेते हैं-- प्रतिकूल होने पर उस से निवृत्त होते हैं और अनुकूल होने पर उस की ओर प्रवृत्त होते हैं। हाथ में दण्ड उठाए हुए किसी पुरुष को सन्मुख आते देख कर 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझ कर पशु वहाँ से भागने लगते हैं और हाथ में यदि हरी घास पकड़ी हो तो उस व्यक्ति के प्रति अभिमुख होते हैं। वैसे ही लोक-व्यवहार में हम प्रायः देखते हैं कि खड्ग हाथ में उठाए क्रूर दृष्टि से ललकारते हुए बलशाली पुरुष को देखकर विद्वान् लोग भी वहाँ से हट जाते हैं। इसके विपरीत स्निग्ध दृष्टि वाले मधुर भाषी सौम्यपुरुष के प्रति प्रवृत्त होते हैं। अतः पुरुषों का प्रमाण, प्रमेय व्यवहार पशु आदि के समान है अर्थात् दोनों के व्यवहार में भेद नहीं है। और यह तो प्रसिद्ध है कि पशु आदि का प्रत्यक्ष आदि व्यवहार, अविवेकपूर्वक होता है। और उन के साथ समानता देखने से विवेकी पुरुषों का भी प्रत्यक्षादि व्यवहार, व्यवहार-काल में पशु आदि के समान ही है, ऐसा निश्चित होता है।

शास्त्रीय व्यवहार में तो यद्यपि देह से भिन्न आत्मा का स्वर्ग आदि
Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लोकों के साथ सम्बन्ध जाने विना विवेकपूर्वक कर्म करने वाला पुरुष अधिकृत नहीं होता, तथापि उपनिषद्वेद्य, क्षुधा आदि से अतीत और ब्राह्मण क्षत्रियादि भेद शून्य असंसारी आत्मतत्त्व की कर्म के अधिकार में अपेक्षा नहीं है। क्योंकि उस में आत्मतत्व का उपयोग नहीं है और अधिकार का विरोध है। इस प्रकार के आत्म-ज्ञान से पूर्व प्रवर्तमान शास्त्र अविद्या वान् पुरुष के आश्रयत्व का उल्लंघन नहीं करता अर्थात् शास्त्र अविद्वान् का ही आश्रय करता है, जैसे कि "ब्राह्मणो यजेत्" ब्राह्मण याग करे, इत्यादि शास्त्र आत्मा में वर्णाश्रम, वय, अवस्थादि-विशेष अध्यास का आश्रय कर प्रवृत्त होते हैं।

अतद् में तद् बुद्धि ही अध्यास है, अर्थात् उससे भिन्न में उसकी बुद्धि ही अध्यास है। जैसे कि कोई पुत्र, स्त्री आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मै ही अपूर्ण और पूर्ण हूं, इस प्रकार वाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। तथा मैं स्थूल हूं मैं कृश हूँ, मैं गौर हूँ, मैं खड़ा हूं, मैं जाता हूँ, मैं लांघता हूं, इस प्रकार देह के धर्मो का अध्यास आत्मा में करता है, और मैं मूक हूं, मैं काना हूँ, मैं नपुंसक हूँ, बधिर हूं, अन्धा हूं, इस प्रकार इन्द्रियों के धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का अपने (आत्मा) में अध्यास करता है। इसी प्रकार अहं प्रत्यय (वृत्ति) वाले अन्तःकरण का, अन्तःकरण की सम्पूर्ण वृत्तियों के साक्षीभूत प्रत्यगात्मा में अध्यास-आरोप कर और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास-आरोप कर और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरणादि में अध्यास करता है, तो इस प्रकार अनादि अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानरूप और (आत्म मे) कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का प्रवर्तक अध्यास सर्व जन प्रत्यक्ष है।

इस अनर्थ के हेतुभूत अध्यास की समूल निवृत्ति के लिए तथा ब्रह्मात्मैकत्व-ज्ञान-प्राप्ति के लिए सब वेदान्तों का आरम्भ होता है। सब वेदान्तों का यह ब्रह्मात्मैकत्व प्रयोजन है। मिथ्याभूत प्रपञ्चकी निवृत्ति के लिए मिथ्याभूत प्रमाणों की अपेक्षा होती है॥

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

८. स्वतः प्रामाण्यवाद

सुखदु:खादि का साधन रूप जो ज्ञान है, वह दो प्रकार का है, प्रामाण्य और अप्रामाण्य। प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में प्राय: सभी दर्शनकारों में मतभेद है। प्रश्न होता है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है या परत: ? यहाँ नैयायिक, वैशेषिक और बौद्ध के मत में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों परतः मानी जाती हैं। मीमांसक और वेदान्ती के मत में प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: मानी जाती है। अप्रामाण्य की उत्पत्ति प्राय: सब दार्शनिकों ने परत: मानी है। केवल बौद्धों ने अप्रामाण्य की उत्पत्ति भी स्वत: मानी है। सांख्यों के मत में अप्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है। जैनों के मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परत: होती है। किन्तु ज्ञप्ति अभ्यस्त स्थल में स्वत: और अनभ्यस्त स्थल में परत: होती है।

प्रामाण्य की उत्पत्ति में स्वतस्त्व का प्रतिपादन-

यहां वृत्त्यात्मकज्ञान की उत्पत्ति का ही विचार है, चैतन्यरूपज्ञान की उत्पत्ति और विनाश तो सिद्धान्ती को इष्ट नहीं है। अत: प्रमाणों से प्रमा उत्पन्न होती है। उसमें प्रमात्व की उत्पत्ति प्रमा-उत्पादक सामग्री से भिन्न नैयायिक मानते हैं। क्योंकि यदि ज्ञानसामान्य-सामग्री से ही प्रमा में प्रमात्व उत्पन्न होता है, तथा उसी से जाना भी जाता है, तो ज्ञान उत्पन्न होने के बाद उसमें प्रमात्व का संशय नहीं होना चाहिए। "अत: प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तित:" अर्थात् यदि प्रमागत प्रमात्व को ज्ञानसामान्य-सामग्री से ग्राह्य मानेंगे तो संशय की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए संशय की अन्यथानुपपत्ति से प्रमा में प्रमात्व की स्वतोग्राह्य न मानकर परतोग्राह्य नैयायिकों ने माना है। उनका कहना है कि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद "इदं ज्ञानं प्रमा न वा ?" ऐसा संशय होता है। इस प्रकार ज्ञान में प्रामाण्य का संशय हो जाने पर अनुमान से उसमें प्रामाण्य की सिद्धि करते हैं। यह अनुमान इस प्रकार है— "इदं ज्ञानं प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात् व्यतिरेके अप्रमावत्"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यहाँ पर 'यह ज्ञान' पक्ष और प्रमात्व साध्य है, तथा सफलप्रवृत्तिजनकत्व हेतु है। अन्वयदृष्टान्त न होने के कारण अप्रमा, व्यतिरेकदृष्टान्त है। व्यतिरेकदृष्टान्त में साध्याभाव में साधनाभाव की व्याप्ति रहती है अतः अप्रमारूप व्यतिरेकदृष्टान्त में प्रमात्वाभाव रहता है और सफल प्रवृत्तिजनकत्व का भी अभाव रहता है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—सफलप्रवृतिजनक एवं विफलप्रवृत्तिजनक। सफलप्रवृत्तिजनकज्ञान को प्रमा कहते हैं और विफल प्रवृत्तिजनकज्ञान को अप्रमा। रजत को रजत समझकर उसे ग्रहण करने के लिए किसी की प्रवृत्ति हुई, और रजत की प्राप्ति हो भी गई तो उस प्रवृत्ति को सफल प्रवृत्ति कहते हैं। ऐसी सफल प्रवृत्ति के जनक ज्ञान को प्रमा कहते हैं। सीप को रजत समझकर, रजत ग्रहण के लिए कोई प्रवृत्त हुआ, परन्तु रजत की प्राप्ति न हुई, अपितु सीप की ही उपलब्धि हुई। इस प्रवृत्ति को विफल प्रवृत्ति कहते हैं एवं इस प्रवृत्ति के जनक सीप में रजतज्ञान को अप्रमा। पूर्वोक्त अनुमान में जो व्यतिरेक-दृष्टान्त है, उस अप्रमाज्ञान में प्रमात्व नहीं है और सफल प्रवृत्तिजनकत्व भी नहीं है। इस प्रकार साध्याभाव में साधनाभाव की व्याप्ति को व्यतिरेक-व्याप्ति कहते हैं। ऐसे व्याप्तिज्ञान के बाद पक्ष में सफलप्रवृत्तिजनकत्वरूप हेतु को देखकर, प्रमात्वरूप साध्य की सिद्धि उक्तानुमान से नैयायिक कर लेते हैं। इसी से वे प्रामाण्य में परतस्त्व मानते हैं।

मीमांसकों में एकदेशी मुरारिमिश्र का कहना है कि सामने घट को 'अयं घटः' इस प्रकार जानने के बाद 'घटमहंजानामि' इस अनुव्यवसाय से घटज्ञान में रहने वाले प्रमात्व का ग्रहण होता है। अतः घटज्ञान को जानने वाले अनुव्यवसाय-ज्ञान की सामग्री ही घटज्ञान में प्रामाण्य को बतला देती है। व्यवसायज्ञान का विषय केवल घट होता है, अनुव्यवसायज्ञान का विषय–घट तथा घटज्ञान दोनों होते हैं। इस अनुव्यवसाय की

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उत्पत्ति की सामग्री से ही घटज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ग्रहण होता है। अतः ये स्वतः प्रामाण्यवादी हैं।

प्रभाकर का कहना है कि संवित् के स्वयंप्रकाश होने से संवित् की जनक सामग्री ही उसमें रहने वाले प्रमात्व को ग्रहण करती है। अर्थात् जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का भी ज्ञान होता है अतः ये स्वतःप्रामाण्यवादी हैं।

भट्टपाद का कहना है कि "अयं घटः" ऐसा ज्ञान होने पर घट-विषय में ज्ञातता उत्पन्न हो जाती है। और ऐसी ज्ञातता ही घटज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य की अनुमिति में सामग्री है। अर्थात् ज्ञातनारूप लिंग से घटज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होता है। यह ज्ञातता विषयगत धर्म है, जो ज्ञान के पश्चात् ज्ञान से ही उत्पन्न होता है। इसी को कुमारिल भट्ट ने 'प्राकट्य' नाम से एक विशेष-पदार्थ बतलाया है। ज्ञातता-लिंगक अनुमिति-सामग्री से उस ज्ञान में प्रामाण्य का ग्रहण मानने के कारण ये भी स्वतःप्रामाण्यवादी हैं।

स्वतःप्रामाण्यवाद के विषय में वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र का कहना है कि उक्त सभी यथार्थ ज्ञानों में प्रमात्व स्वयं उत्पन्न होता है और स्वयं जाना भी जाता है। "उक्तानां प्रमाणनां प्रामाण्यं स्वतएवोत्पद्यते-ज्ञायतेच" (वे. प.) यहाँ पर 'प्रमाण' शब्द का अर्थ प्रमा है, अर्थात् प्रपूर्वक मा धातु से भाव में ल्युट प्रत्यय हुआ है। अतएव प्रामाण्य का अर्थ प्रमात्व समझ लेना चाहिए। अन्यथा यहां पर भ्रम हो सकता है। उस प्रमात्व की उत्पत्ति में स्वतस्त्व क्या चीज है? दोषाभाव से सहकृत ज्ञानसामान्य की सामग्री से अनन्यत्व को उत्पत्ति में स्वतस्त्व पद से कहा गया है। अर्थात् जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रमात्व भी उत्पन्न होता है। अधिक सामग्री प्रमात्व की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है। यद्यपि दोषाभाव को सहकारी रूप से कहा गया है, किन्तु वह भावपदार्थ न होने के कारण सहकारी होने पर भी स्वतस्त्व का विघातक नहीं है।

स्मृति और अनुभव दोनों को प्रमाज्ञान मानकर 'अबाधितविषय-ज्ञानत्वं प्रमात्वम्' यह प्रमा का लक्षण कहा गया है। इससे यह सिद्ध

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हुआ कि अनुभव और स्मृति दोनों प्रमाज्ञान हैं। किन्तु दोनों में रहने वाला प्रमात्व क्या वस्तु है? सफलप्रवृत्ति के अनुकूल रजतत्व धर्मवाले रजत को रजतरूप से जानना प्रमा कहलाती है और उसमें रहने वाले धर्म को प्रमात्व कहते हैं। सीप को रजतरूप से जानने वाला ज्ञान प्रमा नहीं कहा जाता, क्योंकि यह ज्ञान सफलप्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है और रजतत्व धर्मवाले रजत को रजतत्वरूप से विषय नहीं करता, किन्तु विफलप्रवृत्ति का जनक है। साथ ही रजतत्व-धर्म के अभाववाली शुक्ति को रजतत्वरूप से विषय कर रहा है। अतः ऐसे ज्ञान को प्रमा नहीं कहते और इसमें प्रमात्व भी नहीं है। रजत को रजत समझना और पूर्वदृष्ट रजत को स्मरण करना दोनों प्रमा ज्ञान है, क्योंकि इस ज्ञान के आधार पर होने वाली प्रवृत्ति सफल होती है। अतएव रजतत्व धर्मवाले रजत को विषय करनेवाला ज्ञान रजतत्व-प्रकारकरजतविशेष्यक और सफलप्रवृत्ति जनक होने से प्रमा कहा जाता है। रजत को रजतत्वेन जानना एवं उसकी इच्छा करना, इन दोनों को रजतत्वप्रकारकरजत-विशेष्यक कहते है। क्योंकि उक्त ज्ञान एवं इच्छा दोनों में रजत विशेष्य और रजतत्व प्रकार है। अन्तर इतना है कि एक में रजतत्वप्रकारक रजतविष्यक ज्ञानत्व है तथा दूसरे में रजतत्वप्रकारकरजतविशेष्यक इच्छात्व है। ये दोनों ही सफलप्रवृत्ति के अनुकूल हैं।

यदि शंका हो कि प्रमात्व में स्वतस्त्व क्या चीज है? यदि कहा जाय कि स्वतः उत्पाद्यत्व है अर्थात् वह प्रमात्व अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है? तो ऐसा कहीं नहीं देखा गया, क्योंकि वह प्रमात्व उत्पन्न होगा, तो उसका कारण कोई अन्य होगा, स्वयं कारण नहीं हो सकता? इसके उत्तर में कहना है कि ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यत्व (कार्यत्व) को स्वतस्त्व कहते हैं अर्थात् आत्ममनःसंयोगादि, जो कुछ भी ज्ञानसामान्य की उत्पत्ति में सामग्री मानी गई हैं, उन्हीं सामग्रियों से ज्ञान में प्रमात्व भी उत्पन्न होता है। नैयायिकों की भांति ज्ञान के जनक सामान्यसामग्री से भिन्न कारणप्रयोज्यत्व को हम प्रमात्व में कारण नहीं मानते, क्योंकि ऐसा मानने पर उस प्रमात्व में परतस्त्व प्राप्त होगा। कदाचित् कुछ

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अधिक गुण को प्रमात्व का नियामक मान भी लिया जाय, तो फिर वह प्रत्यक्षादिषड्विध अनुभव में एवं स्मृति में अनुगत रूप से रह नहीं सकता। अतः भिन्न-भिन्न अनुभव में प्रमात्व की प्रयोजक सामग्री भिन्न-भिन्न माननी होगी। इस प्रकार महागौरव होगा। यदि कदाचित् प्रत्यक्ष प्रमा में प्रमात्व का प्रयोजक भूयोऽवयव-इन्द्रियसन्निकर्ष (अधिकाधिक अवयवों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध) को माना जाय, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि रूपादि गुणों में तथा आत्मा में अवयव तो है नहीं, फिर उनके प्रत्यक्ष में भूयोऽवयव-इन्द्रिय-सन्निकर्षजन्यत्व कैसे होगा? ऐसी दशा में भूयोऽवयव-सन्निकर्ष-रूप प्रमात्व के प्रयोजक का रूपादिप्रत्यक्ष एवं आत्म-प्रत्यक्ष में न रहने के कारण अव्याप्ति होगी। उसके विपरीत जहाँ भूयोऽवयव-इन्द्रियसंनिकर्ष है, किन्तु वहाँ प्रमात्व किसी को भी इष्ट नहीं है। जैसे पित्तदोषदूषित चक्षु का शंख के भूयोऽवयव के साथ सन्निकर्ष तो हुआ, किन्तु 'श्वेतः शंखः' ज्ञान न होकर 'पीतः शंखः' ज्ञान होता है, जिसे भ्रम कहते हैं। अतः 'पीतःशंखः' में भूयोऽवयव-इन्द्रिय-सन्निकर्ष रहने पर भी प्रमात्व नहीं है। एवं रूपादि तथा आत्मादि के प्रत्यक्ष में अवयव-सन्निकर्ष के न रहने पर भी प्रमात्व है। इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक व्यभिचार होने के कारण भूयोऽवयव-इन्द्रिय-सन्निकर्षरूप गुण, प्रत्यक्ष प्रमा के प्रमात्व का ही प्रयोजक नहीं है, फिर अन्य अनुभव में रहने वाले प्रमात्व का प्रयोजक होना तो दूर ही बात है।

अतः विद्यमानलिंग-परामर्श एवं योग्यतादि को भी अनुमित्यादि प्रमा में प्रमात्व का प्रयोजकगुण नहीं मान सकते। अर्थात् उत्पत्तिकालावच्छिन्नघट में 'गन्धव्याप्यपृथित्ववान् अयम्' इस प्रकार सल्लिगपरामर्श होने पर भी 'घटो गन्धवान्' ऐसी अनुमिति प्रमा नहीं मानी जाती है क्योंकि—'उत्पन्नं सत् द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति' इस नियम के अनुसार उत्पत्तिकालावच्छिन्न घट में गन्ध का अभाव आप नैयायिक मानते हो, आपके कथनानुसार प्रयोजक सल्लिग-परामर्श तो यहाँ पर विद्यमान ही है, क्योंकि लिंग पृथिवीत्व है, जो कि गन्ध का व्याप्य है, अतः 'गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववती इयम्' यह सल्लिगपरामर्श कहा जायगा। इसे आप नैयायिक भी असल्लिगपरामर्श

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं कह सकते। फिर भी इससे होने वाली अनुमिति प्रमा रूप में आप को भी मान्य नहीं है। अतः अन्वयव्यतिरेक दोष प्राप्त है। इसी प्रकार 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्' यहां पर वह्निव्याप्यप्रमेयत्वान् पर्वतः' ऐसा परामर्श असल्लिग-परामर्श रूप है, फिर भी पर्वत में वह्निसाध्य का बाध न होने के कारण 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति को प्रमा आपने भी माना है। अतः व्यतिरेकव्यभिचार भी आ गया। कारण के रहने पर कार्य का न होना अन्वयव्यभिचार है और कारण के अभाव में कार्य का होना व्यतिरेक व्यभिचार है। उक्त स्थलों में संभावित व्यभिचार के रहते हुए सल्लिगपरामर्शादिक को अनुमित्यादिनिष्ठ प्रमात्व का प्रयोजक गुण नहीं मान सकते। एवं उपमिति-स्थल में सादृश्यज्ञान को तद्गत प्रमात्व का प्रयोजकगुण नहीं कह सकते, क्योंकि कभी-कभी सादृश्यज्ञान होते हुए भी प्रतिवन्धक-विशेष के कारण उपमिति में प्रमात्व का ग्रहण नहीं होता। इसलिए उसमें संशय बना रहता है। शाब्दबोध में योग्यतादि को तन्निष्ठप्रमात्व का प्रयोजक गुण नहीं कह सकते, क्योंकि योग्यता-भ्रम से भी घट के अपभ्रंश घड़े, गगरी इत्यादि शब्द से शाब्दिकों ने शाब्दबोध माना है, क्योंकि अपभ्रंश घड़े शब्द में योग्यता नहीं है, किन्तु 'घड़ा' शब्द सुनते ही सुनने वाले को भ्रम हो जाता है कि यह घट कह रहा है। अतः योग्यता-भ्रम से घटत्वप्रकारक-घट विशेष्यक शाब्दबोध हो जाता है। 'घट' शब्द में घट-अर्थबोधन की योग्यता होते हुए भी कदाचित् भ्रमवशात् समुचित् शाब्दबोध नहीं होता। अतः अन्वयव्यतिरेक-व्यभिचार विद्यमान होने से योग्यतादि को भी शाब्दबोधनिष्ठ प्रमात्व का नियामक गुण नहीं मान सकते।

विष्णु के अर्थ में किसी ने 'हरि' शब्द का प्रयोग किया, उस 'हरि' शब्द में विष्णु-अर्थबोधन की योग्यता है, किन्तु सुनने वाले को तात्पर्य-भ्रम हो जाने के कारण विष्णु-अर्थ का बोध न होकर सिंह-अर्थ का बोध हो जाता है। अतः योग्यता को शाब्दबोध में प्रमात्व का नियामक गुण मानना असंगत है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसी प्रकार अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि स्थल में भी तन्निष्ठप्रमात्व के नियामक यथाकथित गुण में अन्वयव्यतिरेक व्यभिचार सम्भव होने के कारण उन्हें भी तत्र-तत्र प्रमात्व का नियामक नहीं कह सकते ।

यदि शंका हो कि ज्ञानसामान्य-सामग्री प्रयोज्य जैसे प्रमा है वैसे अप्रमा भी है । ऐसी दशा में अप्रमा में भी प्रमात्वापत्ति होने लग जायेगी, क्योंकि अन्य साधनसामग्री की आवश्यकता दोनों स्थलों पर नहीं है । उक्त शंका के उत्तर में कहना है कि प्रमात्व का प्रयोजक ज्ञान सामान्य-सामग्री का सहकारी कारण दोषाभाव भी माना गया है । अतः दोषाभावसहकृत-ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्य को प्रमात्व कहते हैं। प्रतिबन्धकाभाव की कार्यमात्र के प्रति कारणता सभी ने मानी है । अतः वह सिद्ध है, कल्पना-गौरव नहीं है ।

यदि नैयायिक कहें कि उस दोषाभाव को हम प्रमात्व की उत्पत्ति में गुण मानते है, तो ऐसा कहना उचित नहीं । क्योंकि दोषाभाव को दोषाभावत्वेन कारण मानना सर्ववादीसंमत है, न तु गुणत्वेन । यदि कहा जाय कि तब तो प्रमात्व में परतस्त्व की आपत्ति होगी, फिर स्वतः प्रमात्व सिद्धान्त ही नष्ट हो जायगा ? तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि ज्ञानसामान्य-सामग्री का सहकारी कारण दोषाभाव है, आगन्तुक कोई भाव पदार्थ नहीं है । आगन्तुकभावपदार्थ की अपेक्षा होने पर ही परतस्त्व आने पर सिद्धान्त की हानि होगी । अभावकारण की अपेक्षा होने पर नहीं । अतः "आगन्तुकभावकारणसहकृत-ज्ञानसामान्यसामग्री प्रयोज्यत्वं परतस्त्वम्" माना गया है । तात्पर्य यह है कि प्रमात्व में स्वतस्त्व तथा अप्रमात्व में परतस्त्व है कि प्रमात्व में स्वतस्त्व तथा अप्रमात्व में परतस्त्व है, क्योंकि अप्रमात्व में आगन्तुक भावरूपदोष भी कारण है । इस प्रकार प्रमा में प्रमात्व के स्वतस्त्व का समर्थन किया गया ।

प्रमात्व की ज्ञप्ति में स्वतस्त्वप्रतिपादन

जैसे दोषाभावसहकृत ज्ञान-सामान्य-सामग्री से प्रमा में प्रमात्व की उत्पत्ति होती है, वैसे ही उस प्रमात्व का स्वतः ग्रहण होता है। अर्थात्

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उस प्रमात्व को जानने के लिए अनुमानादि की आवश्यकता नहीं है। केवल उत्पत्ति के समान ही ज्ञानकाल में भी दोषाभाव होना चाहिए। उस समस्त प्रमा का ज्ञान जिन सामग्रियों से होता है, उन्हीं सामग्रियों से तद्गत प्रमात्व का भी ज्ञान होता है। इसलिए परिभाषाकार ने दोषाभावसहकृत-यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्व' को 'स्वतोग्राह्यत्व' कहा है। इसमें प्रमात्व का आश्रय वृत्तिज्ञान है, जिसका ग्रहण साक्षी से होता है एवं 'यह ज्ञान प्रमारूप है भ्रमरूप नहीं'—ऐसा भी साक्षी से गृहीत होता है। यदि पीछे से दोष प्रतीत हो, तो उसमें अप्रमात्व का ग्रहण हो जायगा। प्रमात्वग्रह-काल में दोषाभाव को भी हमने साक्षी का सहकारी माना है। अतः यावत्प्रमात्वाश्रयग्राहकसामग्री से गृहीत होने के कारण प्रमात्व स्वतोग्राह्य कहा जाता है।

यहाँ, जहाँ पर दोष के कारण प्रमात्व का निश्चय नहीं होता, किन्तु संशय होता है, प्रमात्व के स्वतो ग्राह्यत्व पक्ष में उक्त संशय की उपपत्ति कैसे हो सकेगी, अतःज्ञानगत प्रामाण्य में संशय की अन्यथा-अनुपपत्ति से उसमें परतस्त्व माना गया है। ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि संशय स्थल में संशय के अनुरोध से दोष को भी मानना पड़ता है। अतः प्रमात्व का ग्राहक वहां है नहीं, इस लिए संशय होता है। प्रमात्व की ग्राहक सामग्री में हमने दोषाभाव को भी सहकारी कारण माना है। दोष के रहने पर दोषाभाव-घटित-प्रमात्व के आश्रय प्रमा का ग्राहक वहां है ही नहीं, फिर प्रमात्व का ग्रहण कैसे हो? अतः संशय की उपपत्ति हो जाती है। इस संशय की अन्यथानुपपत्ति से परतस्त्व की कल्पना असंगत है। संशय के अनुरोध से तो दोष का सद्भाव प्रतीत होगा और दोष रहने पर प्रमात्व का ग्राहक ही नहीं है, क्योंकि दोषाभाव को भी सहकारी कारण माना गया है। अतः प्रमात्व में स्वतोग्राह्यत्व सिद्ध ही है।

पूर्वोक्त दोषाभाव को सहकारीकारण मानकर प्रमात्व का स्वतोग्राह्यत्व कहा गया, अब दोषाभाव को सहकारी कारण न मानकर स्वतोग्राह्यत्व का स्वरूप बतलाया जा रहा है। जितने प्रमात्व के आश्रयज्ञान हैं-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वे अनुभव रूप हों या स्मृति रूप हों-सभी का ग्रहण साक्षी से होता है, अतः उसमें यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्व की योग्यता है और इसी को हम स्वतोग्राह्यत्व कहते हैं। संशय-स्थल में प्रमात्व में यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्व की योग्यता तो रहती है, किन्तु दोष के कारण ग्रहण नहीं होता, अतः संशय होता है। दोनों स्थलों पर संशय का ग्रहण दोष माना जाता है। प्रथम लक्षण में दोषाभाव को सहकारी कारण कहा गया है, द्वितीय (योग्यत्वघटितलक्षण) में दोष रहने पर प्रमात्व का ग्रहण न होने के कारण संशय हो जाता है। योग्यता तो वहाँ भी है। अतः कोई दोष नहीं है।

अप्रामाण्य का परतस्त्व–

शांकरवेदान्त में प्रमात्व स्वतः उत्पन्न होता है और स्वतः गृहीत भी होता है। इसके लिए उत्पत्ति तथा ज्ञान (ज्ञप्ति) में आगन्तुक भाव कारण की अपेक्षा न होने से स्वतस्त्व का समर्थन किया गया। अब वेदान्त-सिद्धान्तानुसार अप्रमात्व का स्वरूप, उसकी उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के विषय में विचार किया जाता है। विफलप्रवृत्ति के अनुकूल तद्धर्माभाव वाले में तत्प्रकारक ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। जैसे शुक्ति में 'इदंरजतम्' यह ज्ञान 'अप्रमा' है। क्योंकि इस ज्ञान से इच्छा-द्वारा होने वाली प्रवृत्ति अन्त में विफल होती है, अर्थात् रजतार्थी को वहां रजत की उपलब्धि नहीं होती, साथ ही रजतत्वधर्म का अभाव भी शुक्ति में है। ऐसे रजतत्वाभाव वाली शुक्ति के रजतत्वेन गृहीत होने से विफलप्रवृत्ति के अनुकूल रजतत्वाभाववाली शुक्ति का रजतत्वप्रकारक ज्ञान अप्रमा कहा जाता है।

अप्रमात्व की उत्पत्ति में दोष को भी कारण माना गया है। अतः दोष-प्रयोज्य होने के कारण प्रमा में अप्रमात्व की अतिव्याप्ति नहीं है। एवं उस अप्रमात्व का ग्रहण केवल साक्षी से नहीं होता, क्योंकि साक्षी का स्वभाव है-वृत्ति से उपस्थापितवस्तु का ही ग्रहण करना। वृत्ति जिस वस्तु को साक्षी के सामने उपस्थित करती है, उसी को साक्षी विषय

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करता है। भ्रमस्थल में शुक्तिस्थ प्रातिभासिक रजत अविद्यावृत्ति से साक्षी के सामने उपस्थित तो होती है और प्रातिभासिक रजत एवं रजतज्ञान को साक्षी ग्रहण भी करता है, किन्तु यह ज्ञान अप्रमा है। उस समय साक्षी से शुक्तिरजतज्ञाननिष्ठ अप्रमात्व का भी यदि ग्रहण हो जाय, तो रजतार्थी की वहां प्रवृत्ति ही न हो। क्योंकि मुझे भ्रम हो रहा है, ऐसा समझने वाला व्यक्ति कभी शुक्तिरजत में प्रवृत्त नहीं हो सकता। केवल साक्षी किसी भी पदार्थ को विषय नहीं करता, किन्तु वृत्ति से उपस्थित पदार्थ को ही विषय करता है। भ्रमस्थल में जिस अविद्यावृत्ति से 'इदं रजतम्' ऐसा रजत उपस्थित हुआ है, उसी वृत्ति से उस रजतज्ञान में प्रमात्वाभाव की उपस्थिति कैसे हो सकेगी। अतः साक्षी प्रमात्वाभावरूप अप्रामाण्य को गृहण करने में असमर्थ है। इस लिए विसंवादी (निष्फल) प्रवृत्त्यादिलिंग से रजतज्ञान में अप्रमात्व जाना जाता है, अर्थात् इस शुक्तिज्ञान में रजतार्थी की प्रवृत्ति, प्रमात्व-शून्य है, विफल प्रवृत्ति का जनक होने से, क्योंकि रजतार्थी को वहाँ पर रजत न मिलने में उसकी प्रवृत्ति विफल हो गई। इसी को विसंवादी प्रवृत्त्यादि लिंगवाली अनुमिति कहते हैं और इसी का विषय अप्रमात्व है।

अतः अप्रमात्व की उत्पत्ति में कारण दोष है और उसके ज्ञान में कारण विसंवादी-प्रवृत्तिलिंगक अनुमिति है। इस प्रकार अप्रमात्व में परतस्त्व की सिद्धि हुई।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

६. ख्यातिवाद

दर्शन के क्षेत्र में ख्यातिवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ख्याति शब्द की निष्पत्ति 'ख्या प्रकथने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर होती है, जिसका अर्थ है भान या प्रतीति अर्थात् दर्शन की परिधि में ज्ञान होना। ख्यातिवाद के सिद्धान्त के पाँच भेद हैं, जो निम्नलिखित श्लोक में संकलित किये गये हैं—

"आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥"

१-आत्मख्याति—

आत्मख्यातिवादी विज्ञानवादी बौद्ध हैं। आत्मख्यातिवादी बौद्ध शुक्ति में हुए रजत-ज्ञान को असत् न मानकर बुद्धिगत मानता है। इस प्रकार आत्मख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति-आदि में हुए रजतादि के भ्रम का आधार कोई बाह्य विषय न होकर विज्ञान ही है। इस प्रकार आत्मख्यातिवादी के दृष्टि में रजतादि अध्यस्त पदार्थों का आधार बाह्य शुक्ति आदि नहीं है, किन्तु बुद्धि ही है। इस प्रकार इन के सिद्धान्त में बुद्धिस्थ रजतादि की ही प्रतीति शुक्ति आदि में होती है।

२-असत्ख्याति—

असत्ख्यातिवादी शून्यवादी बौद्ध हैं। शून्यवादी बौद्ध शुक्ति आदि में रजतादि के अध्यास को असत् स्वीकार करता है। इनके अनुसार अधिष्ठानरूप शुक्ति में रजत के असत् होने के कारण, रजत शुक्ति में विपरीत धर्म की कल्पनामात्र है।

३-अन्यथाख्याति—

अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक है। अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार अन्य वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप का नाम ही अन्यथाख्याति

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में दुकान में स्थित सत् रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के ही कारण शुक्ति का रजतरूप से अन्यथा ज्ञान होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त अन्यथा-ख्यातिवाद के नाम से प्रचलित हुआ। इन के मतानुसार पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरस्थ रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार भ्रम से दूरस्थ रजत का सम्बन्ध पुरोवर्त्ती 'इदम्' से होने कारण ही शुक्ति में रजत का अन्यथा भान होता है।

४-अख्याति–

अख्यातिवादी प्राभाकर मीमांसक हैं। ये शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को भ्रम नहीं स्वीकार करते। अख्यातिवादी का विचार है कि द्रष्टा को शुक्ति देखकर जब यह ज्ञान होता है कि 'इदं रजतम्' अर्थात् यह रजत है, तो इस द्विविध ज्ञान में 'इदम्' (यह) का यथार्थ ज्ञान होता है और रजत का स्मरण। 'इदम्' सम्बन्धी ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसके अतिरिक्त संस्कार-जन्य सादृश्य के आधार पर ज्ञात 'रजतम्' (रजत सम्बन्धी ज्ञान) स्मृतिमात्र है। अख्यातिवादी का तर्क है कि पुरोवर्ती–'इदम्' (यह) रूप यथार्थ ज्ञान, और रजतरूप स्मृति, इन दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से ग्रहण न होने के कारण ही शुक्ति का रजत रूप से ज्ञान होता है। इसी सिद्धान्त को भेदाग्रह भी कहते हैं।

५-अनिवर्चनीयख्याति–

शांकर-वेदान्त के आचार्यों ने उपर्युक्त चार ख्यातियों को स्वीकार न करते हुए अनिवर्चनीयख्याति की स्थापना की है। अनिवर्चनीय का लक्षण करते हुए चित्सुखाचार्य ने लिखा है–

"प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥"

अर्थात् जो विचार करने पर न सद्रूपसे सिद्ध होता हो और न असद्रूप से भी सिद्ध होता हो, एवं सदसद्-उभयरूप से भी निरूपित न हो सके, उसी को अनिवर्चनीय कहते हैं। शुक्ति में प्रतीत होने वाले रजत

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

 CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को असत् नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। यदि असत् वस्तु की भी प्रतीति हो, तो शशश्रृंग, बन्ध्यापुत्र की भी प्रतीति होनी चाहिए। शुक्तिस्थ रजत को सत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि अधिष्ठान-रूप शुक्ति के यथार्थ ज्ञान होने पर शुक्तिगत रजत का बाध हो जाता है। अनिर्वचनीय की उक्त परिभाषा के अनुसार शुक्ति एवं रज्जु आदि में अध्यस्त रजत एवं सर्पादि की सत्ता अनिर्वाच्य विषयों के अन्तर्गत आती हैं। रजत् एवं सर्पादि की जननी अविद्या एवं अध्यास का अनिर्वचनीय होना उचित ही है। अनिर्वचनीयख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति-रजत के उदाहरण में रजत की सत्ता प्रातिभासिक है।

अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने शुक्ति एवं रजत के दृष्टान्त के आधार पर अविद्याजन्य जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध की है। अनिर्वचनीय होने के कारण जगत् को न शशश्रृंग के समान असत् (अलीक) कहा जा सकता है, न पारमार्थिक ब्रह्म के समान सत् ही कहा जा सकता है। इस प्रकार जगत् की सदसद् से विलक्षण प्रातीतिक सत्ता का समर्थन करके अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने एक ओर अद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और दूसरी ओर जगत् की व्यावहारिकता का समर्थन करके अद्वैत दर्शन को पलायनवाद (व्यवहाराभाववाद) होने से बचाया। क्योंकि यदि अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त में जगत् को सत् माना जाय, तो द्वैतापत्ति होगी और यदि प्रपञ्च को असत् माना जाय, तो व्यवहार का अभाव होगा। असत् (अलीक) पदार्थ में अर्थ-क्रिया-कारिता नहीं होती, जैसे मरुमरीचिका के जल से स्नान-पानादि व्यवहार नहीं होता। अतएव माया तथा माया का कार्य प्रपञ्च सत्, असद् एवं सदसद्-उभय रूप, इन तीनों से विलक्षण अनिर्वचनीय है। जिसका सत्वेन, असत्वेन एवं उभयरूपत्वेन निरूपण न किया जा सके, उसको शांकार-वेदान्त में अनिर्वचनीय माना गया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१०. ब्रह्म

'बृहि वृद्धौ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होने से 'ब्रह्म' शब्द की निष्पत्ति होती है अर्थात् ब्रह्म का शाब्दिक अर्थ है—व्यापक। कहा भी है—"बृहवात् बृहंणत्वाच्चैवात्मा ब्रह्मेति गीयते"। अमरकोशकार ने भी 'ब्रह्म' शब्द के तीन अर्थ किये हैं—"वेदास्तत्त्वं तपो ब्रह्म"। दर्शन-जगत् में प्रायः ब्रह्म शब्द तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अद्वैत-वेदान्त में निर्विकल्प निरुपाधिक निर्विकार व्यापक चेतन-सत्ता का नाम ब्रह्म है। वैसे तो शास्त्रों में सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनों का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आचार्य शंकर की सम्मति में निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। श्रुतियों का पर्यवसान निर्गुण की व्याख्या में ही है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म ही पारमार्थिक है। सगुण ब्रह्म तो जगत् के समान माया विशिष्ट होने से मायिक सत्ता को धारण करता है। आचार्य ने ब्रह्मके वास्तविक स्वरूप के निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है–स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण।

तटस्थलक्षण:–

प्रथमतः तटस्थलक्षण का विचार किया जाता है। तटस्थ लक्षण उसे कहते हैं–जो लक्ष्य के यावत्स्थिति-काल में न रहकर व्यावर्तक हो, जैसे कि पृथिवी का तटस्थलक्षण गन्ध है, क्योंकि गन्ध सभी काल में नहीं रहता–महाप्रलय में, परमाणु में और उत्पत्ति कालिक घटादि में नहीं है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में ब्रह्म का तटस्थलक्षण जगत् की उत्पत्ति आदि का कारणत्व है। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" यह श्रुति और 'जन्माद्यस्य यस्तः" यह सूत्र ब्रह्म के तटस्थ-लक्षण का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थात् समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का जो कारण है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म में जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय की कारणता है, वही असाधारण धर्म होने से ब्रह्म का लक्षण है। विद्वानों ने लक्षण का लक्षण इस प्रकार किया है—"लक्ष्यतेऽनेनेति, लक्ष्यते यद्

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वेति तल्लक्षणम्" इस प्रकार करणार्थक और कर्मार्थक व्युत्पत्ति से असाधारण धर्म और लक्ष्य-स्वरूप बोधित होते हैं।

परन्तु जिस प्रकार जगज्जन्म-स्थितिलय-कारणत्वरूप एक लक्षण करते हैं, वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों में से एक-एक का कारणत्व भी अनन्यगामी होने से ब्रह्म का लक्षण हो सकता है। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति का कारण, जगत् की स्थिति का कारण और जगत् के लय का कारण, इस प्रकार ब्रह्म के परस्पर-निरपेक्ष तीन लक्षण हो सकते हैं और ये लक्षण ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र जाते भी नहीं है। यद्यपि जगज्जन्मादि की कारणता ब्रह्म के समान सांख्याभिमत प्रधान में भी है, अतः उक्त लक्षण अनन्यगामी नहीं हुआ। तथापि जगत् की उत्पत्ति आदि का कर्ता होकर उनके प्रति जो हेतु हो, वह ब्रह्म है, इस प्रकार लक्षण में कर्तृत्व का निवेश करने से जड़प्रधान में अति-व्याप्ति नहीं है। इस पर यदि जन्म आदि के प्रति जो कर्ता है, वही ब्रह्म है, इतना ही कहा जाय, तो जीव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जीव भी अदृष्ट के द्वारा जगत् का कर्ता होता है। अतः लक्षण में कारण के प्रवेश से जीव में दोष नहीं होगा, क्योंकि स्वल्प जीव जगत् का कारण नहीं हो सकता। यहाँ 'कारण' शब्द उपादान-कारण-परक है, यह ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार अभिप्राय है कि तीनों को भिन्न-भिन्न लक्षण मानना चाहिए, एक समूह रूप में नहीं। सिद्धान्ती इस मत का स्वीकार करते हैं। इसीलिए "अत्ताचराचरग्रहणात्" (ब्र० १।१।२।६) इस अधिकरण में सर्वसंहर्तृत्व आदि का ब्रह्म के लिंग ज्ञापकरूप से उपन्यास किया गया है। जो जन्म का कारण और स्थिति का कारण होता है, वह निमित्तकारण भी होता ही है, जैसे कुलाल। इस प्रकार "यतो वा इमानि भूतानि०" इस श्रुत्यंश से जगत् की जन्मकारणता और "येन जातानि०" इस श्रुत्यंश से स्थितिकारणता ब्रह्म में प्रतिपादित होने से ब्रह्म जगत् का निमित्त-कारणत्व भी सिद्ध हो जाता है। किन्तु उतने मात्र से उसमें उपादान-कारणता सिद्ध करने के लिए उक्त श्रुति में

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"यत्प्रत्यभिसंविशन्ति" इस श्रुति का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

यद्यपि जैसे घट की उत्पत्ति में मिट्टीरूप उपादान-कारणसे भिन्न कुलाल निमित्तकारण होता है, वैसे ही जगत् की उत्पत्ति में ब्रह्मरूप उपादान से भिन्न कोई अन्य निमित्त कारण होना चाहिए। जैसे पालन रूप राज्य की स्थिरता में पालनीय प्रजा आदि के उपादान से भिन्न राजा निमित्त कारण है, वैसे ही जगत् की स्थिति या पालन में उपादानकारण ब्रह्म से भिन्न निमित्त कारण होना चाहिये। तथापि ऐसा मानने पर अद्वैतवाद में द्वैतापत्ति होने के कारण अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण ब्रह्म को ही मानना समीचीन है। अतः जगज्जन्म-नियामकता और जगत्-पालन-नियामकता द्वारा जगदुपादान में ही जगत् के जनन आदि के प्रति निमित्तकारणता सिद्ध हो जाती है, यह उक्त श्रुति के द्वारा कहा गया है। जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूप एक ही लक्षण होकर अभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूप से अद्वितीय ब्रह्मको उपलक्षित करता है, अर्थात् ब्रह्म से भिन्न वस्तु के अस्तित्व की शंका के निराकरण द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का बोधन करता है। अद्वितीय कूटस्थ चैतन्यरूप ब्रह्म में जो जगत् की उपादान-कारणता है, वह परमाणुओं के समान आरम्भकत्वरूप नहीं है अथवा प्रकृति के समान परिणामित्वरूप भी नहीं हैं, किन्तु अविद्या से आकाश आदि प्रपञ्च के आकार से विवर्तमानतारूप है।

स्वरूपलक्षण

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मके स्वरूपलक्षण का प्रतिपादन करती हैं। आचार्य ने 'सत्यादि' शब्दों के अर्थों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। 'सत्यम्', 'ज्ञानम्' तथा 'अनन्तम्' शब्द समानविभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत हो रहे हैं। ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण हैं। परन्तु विशेषणों की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब एकजातीय अनेक-विशेषणयोगी अनेक द्रव्यों की सत्ता विद्यमान हो। ब्रह्म के एक अद्वितीय होने के कारण इन

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती। इस विषय में आचार्य शंकर का कहना है कि ये विशेषण लक्षणार्थ-प्रधान हैं। विशेषण और लक्षण में अन्तर होता है। विशेषण विशेष्य का उस के सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन (भेद) करने वाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अतः ब्रह्म के एक होने के कारण सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म के लक्षण हैं, विशेषण नहीं। सत्य का अर्थ है–अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होने वाला पदार्थ–"यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरितं तत् सत्यम्"। कारणसत्ता ब्रह्म में कारणत्व होने पर उसमें मृतिका के समान अचिद्रूपता प्राप्त न हो जाय, अतः ब्रह्म ज्ञानरूप कहा गया है। ज्ञान का अर्थ है– अवबोध। जो बस्तु किसी से प्रविभक्त न हो सके, वही अनन्त है।

पञ्चदशी में सत्य, ज्ञान, अनन्त शब्दों का अर्थ किया गया है— 'सत्यत्वं बाधराहित्यम्' अर्थात् 'त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वं'। जिसका वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालों में बाध (अभाव) न हो, वही सत्य है। पंचदशी में ही बाधराहित्य का भी अर्थ किया गया है—

"अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत्।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते, शिष्यते यत्तदेव तत्॥"

अर्थात् घर आदि में रखे आकारवान पदार्थों को घर से निकाल देने पर निकालने के अयोग्य अमूर्त (निराकार) आकाश ही शेष रह जाता है, इसी प्रकार आत्मा से भिन्न बाध-योग्य, मूर्तामूर्त सब देहेन्द्रि-यादि का "नेति नेति" (यह भी आत्मा नहीं है, यह भी आत्मा नहीं है) इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा निराकरण कर दिये जाने पर अन्त में सब अनात्म पदार्थों के बाध का साक्षी ज्ञानमात्र शेष रह जाता है। वही बाधराहित्य शब्द से उपलक्षित आत्मा ब्रह्म है। 'नेति नेति' यह श्रुति आत्मा को अतद्व्यावृत्ति से बोधित करती है। "स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता" इत्यादि से ब्रह्म के ज्ञानरूपत्व का प्रतिपादन किया गया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"न व्यापित्वाद् देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।
न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥"

अर्थात् "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म की व्यापकता, नित्यता और सर्वात्मकता का प्रतिपादन है। इसलिए ब्रह्म में तीन प्रकार की अनन्तता माननी चाहिए। व्यापक होने से उसका देशकृत अन्त नहीं है, नित्य होने के कारण उसका कालकृत अन्त नहीं है और सबका आत्मा होने के कारण उसका वस्तुकृत अन्त नहीं है। इस प्रकार देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेदों से रहित ब्रह्म अनन्त है। अत्यन्ताभाव का प्रतियोगीभाव देशपरिच्छेद होता है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगीभाव कालपरिच्छेद कहलाता है। अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगीभाव वस्तुपरिच्छेद है। यदि ब्रह्मज्ञान का कर्ता माना जायगा, तो उसका ज्ञेय तथा ज्ञान रूप में विभाग करना पड़ेगा। ज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है। अतः अनन्त होने से ब्रह्म ज्ञान ही है (ब्रह्मज्ञानस्वरूप ही है,) ज्ञान का कर्ता नहीं।

अतः ब्रह्म जगत् का कारण, ज्ञान-स्वरूप और पदार्थान्तर से अविभक्त है। वह सत्, चित् और आनन्द रूप है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है। शंकर के मत में ब्रह्म सजातीय-विजातीय और स्वगत भेद से रहित है। निर्विशेष, निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष, सलक्षण जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई? एक ब्रह्म में नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए माया को स्वीकार किया जाता है, जिसका आगे विचार किया जायेगा।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

११. माया

निर्विशेष, निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों तथा कैसे हुई ? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई ? इन प्रश्नों के यथार्थ उत्तर के लिए 'माया' के स्वरूप को जानना आवश्यक है। माया शब्द की सिद्धि—'मा माने' अथवा 'माङ्माने' धातु से 'य' उणादि प्रत्यय करने पर होती है। 'अमरकोश' के टीकाकार भानुजि-दीक्षित ने 'माया' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—विश्वं माति यस्यां, मिमीते वा,' अर्थात् जिसमें विश्व जाना जाता है या उसकी कल्पना की जाती है, वह माया है। इसके अतिरिक्त 'मां याति वा' यह व्युत्पत्ति भी दीक्षित ने की है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'मा' उपपद रहने पर 'या' धातु से 'क' प्रत्यय करने पर माया शब्द की निष्पत्ति होगी और इसका अर्थ होगा कि जो परिमाण अर्थात् परिच्छिन्नता अथवा निषेध को प्राप्त हो, उसे माया कहते हैं। आचार्य शंकर ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है, परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थभेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीजशक्ति का नाम माया है। मायारहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीजशक्ति अव्यक्त कही जाती है, यह परमेश्वर के आश्रित होने वाली महासुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं।

माया त्रिगुणात्मिका, ज्ञानविरोधी भावरूप पदार्थ है। भावरूप कहने का अभिप्राय यह है कि वह अभावरूप नहीं है। पञ्चदशीकार ने माया का लक्षण किया है—

"चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा॥
"सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।"

अभिप्राय यह है कि तीनों गुणों के साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, वही शुद्धसत्त्वप्रधानता के कारण माया शब्द से कही जाती है और वह

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माया ब्रह्म के एक देश में रहती है तथा ब्रह्म को ही विषय करती है। यही बात संक्षेपशारीरक में कही गई है—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागा चितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥"

वह माया ईश्वर की शक्ति मानी जाती है और शक्ति शक्तिमान का अभेद होता है। अतः द्वैतापत्ति की आशंका भी नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्। इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। जो पदार्थ सद्रूप से और असद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी शास्त्रीय संज्ञा अनिर्वचनीय होती है। माया को सत् नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से उसका बाध होता है। सत् तो त्रिकालाबाधित ही होता है। अतः यदि वह सत् होती, तो कभी बाधित नहीं होती और यदि असत् होती, तो 'खपुष्प' के समान उसकी कार्यरूप से प्रतीति न होती, परन्तु उसकी प्रतीति होती है। इस प्रकार बाध तथा प्रतीति उभयविध विरुद्धगुणों के सद्भाव रहने से माया को अनिर्वचनीय कहना पड़ता है। विवेकचूडामणि में कहा गया है—

"सन्नाप्यन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महद्भूताऽनिर्वचनीयरूपा॥"

अर्थात् माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभयरूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है। न अंग सहित है, न अंगरहित है और न उभयात्मिका ही है। किन्तु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीय है।

प्रमाणासहिष्णुत्व ही अविद्या का अविद्यत्व है। यही बात वार्तिककार सुरेश्वर ने भी कही है—

"अविद्याया अविद्यत्वमिदमेव तु लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते॥"

तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदयकाल में अन्धकार की भाँति ज्ञानोदयकाल में माया टिक नहीं सकती। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

 CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कार का कहना है कि यह भ्रान्ति, आलम्बनहीन तथा सब न्यायों की नितान्त विरोधिनी है।

> "सेयंभ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।
> सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम्॥"

जिस प्रकार अन्धकार सूर्य को नहीं सह सकता, उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती। प्रमाण-असहिष्णु और विचार-असहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उत्पत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है। इसीलिए आचार्य शंकर ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि माया भगवान् की अव्यक्तशक्ति है, जिसके आदि का पता नहीं चलता, वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है—

> "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
> कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥"

माया की दो शक्तियां हैं--आवरण तथा विक्षेप। माया इन्हीं के सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को आवृत्त कर उसमें अवस्तु-रूप जगत् की प्रतीति का उदय करा देती है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों की निःसन्दिग्ध सत्ता का अनुभव हुए विना रह नहीं सकता। अधिष्ठान का सच्चा रूप जब तक ढक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना, उस पर नहीं की जाती, तबतक भ्रान्ति की उत्पत्ति हो नही सकती। भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्तिस्वरूपा माया में इन दो शक्तियों की उपलब्धि पाई जाती है। आवरणशक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढक लेती और विक्षेपशक्ति उस ब्रह्म में आकाश आदि प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा सा मेघ (बादल) दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्यमण्डल को आच्छादित-सा कर देता है, उसी प्रकार परि-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

च्छिन्न असीम अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अन-

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इस शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है, जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत्त कर देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान अज्ञानावृत्त रज्जु में अपनी विक्षेपशक्ति से सर्पादि की उद्भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत्-प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान विक्षेप है।

मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। चेतन पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण है और उपाधिपक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादानकारण है। अतः ब्रह्म की जगत्कर्तृता में माया को ही प्रधानतया कारण मानना उचित है।

---

१२. अनिर्वचनीय अविद्या

संसार में विधि-निषेधात्मक जितना व्यवहार होता है, वह सब अविद्याविषयक है अर्थात् अज्ञान के विना किसी भी व्यवहार का होना संभव नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत्-सम्बन्धी अध्यारोप में सर्वदा एवं सर्वत्र रहने वाला स्वयंप्रकाश चेतन आनन्दस्वरूप ब्रह्म वस्तु है। अज्ञान तथा अज्ञान से उत्पन्न जड़पदार्थसमूह, जोकि दिखलाई देता है, सावयव होने के कारण नश्वर हैं।

अज्ञान न तो सत् है और न असत् है, यदि सत् होता तो यह सर्वदा तथा सब जगह रहता और कभी बाधित न होता, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उसका नाश (बाध) हो जाता है। अज्ञान

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

असत् भी नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से वह जड़पदार्थों के आभास आदि का कारण नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त उसकी प्रतीति होती है, इस कारण भी उसे असत् नहीं कह सकते। अतः वह "सच्चेन्न बाध्येत असच्चेन्न प्रतीयेत" इस प्रकार सत्त्व और असत्त्व दोनों से रहित होने के कारण अनिर्वचनीय है।

यहाँ सन्देह होता है कि यदि अज्ञान अनिर्वचनीय है और किसी भी प्रकार जाना नहीं जा सकता, तो उसकी सत्ता ही नहीं होगी। इस सन्देह को दूर करने के लिए उसका विशेषण 'त्रिगुणात्मक' दिया गया है। वह अज है तथा सत्वरजस्तमोगुणात्मक है। अतः वह सत्ताहीन नहीं है, किन्तु उसकी सत्ता है। फिर भी यह सन्देह होता है कि यदि अज्ञान (अविद्या) अज है, तो आकाशादि की तरह सर्वत्र विद्यमान एवं सत्यवत् भासित होने के कारण निवृत कैसे हो सकता है। इस सन्देह को दूर करने के लिए उस अज्ञान का विशेषण 'ज्ञानविरोधी' दिया गया है, अर्थात् अज्ञान अज है, त्रिगुणात्मक है, तथापि आत्म-साक्षात्कार होने पर नष्ट हो जाता है। यही बात गीता में भी कही कई है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते॥"

इस प्रकार यह अज्ञान (अविद्या, माया) त्रिगुणात्मक भावरूप तो है। किन्तु 'यह ऐसा ही है,' 'यही है' इस प्रकार निश्चय करके प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। इसलिए उसको 'यत्किञ्चित्' कहा गया है अर्थात् सर्वशक्तिसंपन्न वह कुछ विचित्र है क्योंकि वह न तो सत् है और न असत्, न सदसदुभय रूप है, न सावयव है, न निरवयव है और न सावयवनिरवयय उभयरूप है। उसका किसी भी रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता, इसी कारण उसको अनिर्वचनीय कहा गया है। उसका जानना वैसा ही है जैसा अत्यन्त प्रकाश के द्वारा अन्धकार को देखना। इसीलिए वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली में कहा गया है—

"अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् यो मानेनात्यन्तमूढधीः।
स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा॥"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri
अज्ञान की सिद्धि में 'अहमज्ञः' 'मामहं न जानामि' इत्यादि प्रत्यक्षाभास ही प्रमाण है। इसी कारण श्वेताश्वतर-उपनिषद् में इस अज्ञान को "देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्" कहा गया है। शंकराचार्य ने इसी अज्ञान के लिए अविद्या तथा माया शब्द का प्रयोग किया है और यह कहा है कि यह माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है—

"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्यात्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥'

वह अज्ञान तीनों गुणों से युक्त है। उसके आदि का पता नहीं है। उसकी सत्ता का पता उसके कार्यों से चलता है। वही अविद्या इस जगत् को उत्पन्न करती है। आचार्य चित्सुख ने भी अज्ञान को अनादि भावरूप ही माना है—

"अनादिभावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञामिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते॥

अर्थात् जो अनादिभावरूप, ब्रह्मज्ञान से विलीन हो जाता है, वही अज्ञान है। "तम आसीत्" मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादि आगम भी अज्ञान मे प्रमाण है।

जो 'तम' शब्द का अर्थ ज्ञानाभाव करते हैं, वह युक्त नहीं है। क्योंकि उक्त श्रुति में "नासदासीत्" इस प्रकार अभाव का खण्डन करके भावरूप तमका विधान किया गया है। आचार्य चित्सुख अविद्या (माया) को ईश्वर की शक्ति नहीं मानते। इनका कहना है कि-"न च परमेश्वर-ज्ञानशक्तिर्माया"। माया परमेश्वर की शक्ति नहीं है, क्योंकि श्रुतियों में माया, ज्ञाननिवर्त्य कही गयी है, ईश्वर की शक्ति के नित्य होने से उसका ज्ञान-निवर्त्यं होना सम्भव नहीं है। अतः माया शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय है।

इस प्रकार लक्षण और प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि अनादिभावरूप अज्ञान है। अज्ञान भ्रम का उपादान कारण है, ऐसा मानने पर भी कोई दोष नहीं है। आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि वह असंग, कूटस्थ है, किसी का उपादान नहीं। यदि सत्य आत्मा को

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विभ्रम का उपादान मानें, तो विभ्रम भी सत्य हो जायेगा। विभ्रम को स्वरूपतः सत्य भी नहीं कह सकते। अन्यथा भ्रमज्ञान के विषय का बाध न होगा, जैसे प्रमाण-ज्ञान के विषय का बाध नहीं होता। यदि विभ्रम को स्वरूपतः सत्य न मानें तो इतने समय तक 'यह रजत प्रतीत होता रहा' इस अनुभव के साथ विरोध होगा। तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि विभ्रम यद्यपि अनिर्वचनीय है। तथापि भावविलक्षणता के कारण उसकी भावरूप से प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। स्वरूपतः सत् का ही 'आसीत्' इस रूप से प्रतिसन्धान नहीं होता, अपितु इतने समय तक इस दर्पण में 'मुख था' 'स्फटिकलोहित था' आदि प्रकार से असत् प्रतिबिम्बादि के विषय में भी 'आसीत्' ऐसा प्रयोग होता है। अतः शांकरवेदान्त में भ्रम का उपादान भावरूप अनिर्वचनीय अज्ञान माना गया है।

०———०

१३ अविद्या का आश्रय और विषय

अविद्या का आश्रय और विषय क्या है, इस सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतभेद है। अविद्या के अधिकरण अर्थात् अविद्या जिस में रहे, उसका नाम आश्रय है। अपने आवरणशक्ति के द्वारा अपने विषय के विशेषांश के प्रमोषण (आवृत्त, ढक देने) का नाम अविद्या का विषयत्व है।

वाचस्पतिमिश्र के मतानुसार अविद्या का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म है। इनका कहना है कि ब्रह्म को यदि अविद्या का आश्रय मानते

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं, तब तो ब्रह्म भी अज्ञ होने लगेगा। इसलिए जीव को ही अविद्या का आश्रय मानना युक्तिसंगत है।

परन्तु संक्षेपशारीरक और विवरणकार आदि के मत से अविद्या का आश्रय शुद्धचेतन ही माना गया हैं। उनका कहना है कि जीव तो औपाधिक है, अविद्या उपाधि लगने के बाद ही जीव-संज्ञा होती है, उसके पहले तो उसका आश्रय शुद्ध ब्रह्म हो सकता है। इसलिए संक्षेप-शारीरककार लिखते हैं—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागा चितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः।

भाव यह है कि केवल निर्विशेष ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है, क्योंकि पूर्वसिद्ध जो अविद्या है, उससे पश्चिम अर्थात् बाद में उसी की उपाधि से होने वाला जीव न अविद्या का आश्रय होता है और न विषय ही होता है। इसलिए इनके मत में अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

यद्यपि अविद्या शुद्धचैतन्य में रहती हुई जीव और ब्रह्म का विभाग करती है। तथापि ब्रह्मस्वरूप की उपेक्षा करके जीव भाग में ही पक्षपात रखती हुई संसार को उत्पन्न करती है। जैसे मुख से संवद्ध दर्पणादि विम्ब और प्रतिविम्व का विभाग कर प्रतिबिम्व भाग में ही अतिश्य (दर्पणादि उपाधिगत मालीन्यादि के संवद्ध) का आरोप करता हे, वैसे ही अविद्या भी चिन्मात्र से सम्बन्ध रखती हुई जीव और ब्रह्मका भेद करके प्रतिविम्व-स्थानीय जीव में ही असर्वज्ञत्वादि-अतिशय का उपाधिगत दोष के संसर्ग से आरोप करती है।

यहाँ 'अहमज्ञ:' इस प्रकार की प्रतीति से अहंकारविशिष्ट आत्मा में रहने वाला ही अज्ञान प्रतीत होता है, चिन्मात्राश्रित प्रतीत नहीं होता, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जैसे लोहा जलाता है, इस प्रतीति में दाह-कर्तृत्व और लोहा इन दोनों का एक अग्नि के साथ सम्बन्ध होने से परस्पर सम्बन्ध के अवभास की प्रतीति होती है,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri
वैसे ही अज्ञान और अन्तःकरण का एक आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से ही समानाधिकरण्य की प्रतीति होती है। उक्त प्रतीति से यह नहीं कहा जा सकता कि अज्ञान का आश्रय अन्तःकरण है अन्यथा अविद्या से सम्बन्ध होने पर अन्तःकरण की सिद्धि और अन्तःकरणविशिष्ट में अविद्या का सम्बन्ध होता है, ऐसा अन्योऽन्याश्रयदोष आ जायेगा। यह कहना भी संगत नहीं है कि अन्तःकरण के बिना अविद्या का सम्बन्ध कहीं देख नहीं गया है; क्योंकि सुषुप्ति में ऐसा देखा गया है, जो सर्व-सम्मत है। यदि असग आत्मा अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, अन्तःकरण-विशिष्ट में अविद्या के आश्रयत्व की कल्पना की जाय, तो जब अन्तःकरण चैतन्य और इनका सम्बन्ध इन तीनों का ही विशिष्टत्व प्राप्त है तब चैतन्य का अविद्या का आश्रय होना नहीं हटाया जा सकता। यदि विशिष्ट इन तीनों से भिन्न ही माना जाये, तो वह जड़ होगा, अतः वह भी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। अन्यथा भ्रम-ज्ञान; यर्थार्थज्ञान और मोक्ष को भी जडाश्रित मानना पड़ेगा। क्योंकि वे अज्ञान के साथ एक ही आश्रय में रहते हैं, यह एक नियम है।

इस प्रकार काल्पनिक आश्रयत्व मानने से चैतन्य का पारमार्थिक संगराहित्य में कोई विरोध भी नहीं आता। इसी लिए अज्ञान चिन्मात्र में आश्रित है। यह जीव का पक्षपाती होने से जीवाश्रित है, ऐसा गौण व्यवहार होता है।

भेदाभेदवादी भास्कर अज्ञान का आश्रय अन्तःकरण मानते हैं, किन्तु उनके मत में प्रथम तो अनुभव के विरुद्ध आत्मा के सर्वदा सर्वज्ञ होने का प्रसंग आवेगा और अनुभव के अनुरोध से आत्मा को असर्वज्ञ मानने पर कदाचित् 'यह कुछ नहीं जानता है, ऐसा अज्ञान आत्मा में मानना ही पड़ेगा। आत्मा को ज्ञानाऽभाव का और मिथ्याज्ञान को विपर्यय का आश्रय मानने पर भी भावरूप अज्ञान का अन्तःकरण ही आश्रय है, यदि ऐसा माने, तो अज्ञान शब्द से ज्ञान से भिन्न अर्थ का ग्रहण मानने पर यह काचकामल आदि रोग ही होगा। क्योंकि आत्मा में रहने वाले ज्ञान से अन्तःकरण में स्थित अज्ञान का विरोध असंभव है।
Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एक विषय मे भी देवदत्त के अज्ञान से यज्ञदत्त का अज्ञान निवृत्त नहीं होता। यदि दूसरे स्थलों में भिन्न-भिन्न अधिकरण में स्थितज्ञान और अज्ञान का विरोध न होने पर भी करण मे विद्यमान, अज्ञानकर्ता में स्थित ज्ञान से विरुद्ध होता ही है, यदि ऐसा कहें तो उचित नहीं है, क्योंकि "यह यज्ञदत्त अन्तःकरणविनाशक अदृष्ट वाला है, सुषुप्ति में इसके अन्तःकरण का लय हो जाने से," इस प्रकार अनुमान करने वाले देवदत्त (प्रमाता) में विद्यमान इस अनुमान से अनुमिति के साधनभूत सुषुप्त यज्ञदत्त के अन्तःकरण में स्थित अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। ज्ञाता के हीं अन्तःकरण में स्थित अज्ञान की निवृत्ति होती ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अज्ञान अन्तःकरण का आश्रय करता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि अज्ञान अन्तकरण में रहता है, भ्रान्ति के कारणस्वरूप दोष होने से, काचादि रोग के समान, यह अनुमान प्रमाण होगा, ऐसा मानें तो चक्षुरादि इन्द्रियों मे उस अज्ञान की प्रसक्ति होगी। यदि कहें कि नेत्रादि सादि हैं, इससे वे अनादि अज्ञान के आश्रय नहीं बन सकते, तो अन्तःकरण भी सादि है, अतः वह भी अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता। अतः अज्ञान अन्तकरण का आश्रयण नहीं करता। किन्तु आत्मा का ही आश्रयण करता है। इस निर्णय को विश्वरूपाचार्य (सुरेश्वराचार्य) जी ने आक्षेपपूर्वक कहा है–

"नन्वविद्या स्वयंज्योतिरात्मानं ढौकते कथम्।
कूटस्थमद्वितीयंच सहस्रांशुं यथा तमः॥
प्रसिद्धत्वादविद्यायाःसाऽपन्होतुं न शक्यते।
अनात्मानो न सायुक्ता विना त्वात्मा तया नहि॥"

अर्थात् जैसे सूर्य का आच्छादन अन्धकार नहीं कर सकता वैसे ही स्वयंज्योतिस्वरूप कूटस्थ तथा अद्वितीय आत्मा का अविद्या आच्छादन नहीं कर सकती। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म से भिन्न अन्य का अभाव है और अविद्या आत्मा को आच्छादित नहीं कर सकती। तो अविद्या को ही न माना जाये, इसका उत्तर दूसरे श्लोक से देते हैं–अविद्या प्रसिद्ध

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है, अतः उसका अपह्नव (खण्डन) नहीं कर सकते। वह अविद्या अनात्माश्रित है; यह नहीं कह सकते, क्योंकि उस अविद्या के बिना अनात्मा की आत्मा (सत्ता) ही नहीं है।

---

१४. माया और अविद्या का भेदाभेद विचार

शास्त्रों में कहीं प्रपञ्च को मायामय कहा है और कहीं अविद्यामय। इससे यह प्रतीत होता है कि माया और अविद्या दोनों एक ही पदार्थ हैं। परन्तु माया-अविद्या-भेदवाद अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है, क्योंकि विवरण और संक्षेप-शारीरिक आदि पुरातन ग्रन्थों में उसका खण्डन किया गया है।

रचनात्मक कार्य की अपेक्षा विघटनात्मक कार्य सदा सरल रहा है। जिन ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा में माया और अविद्या का भेद स्फुरित हुआ था, उनका वेदान्त-धरातल पर विशिष्ट स्थान है। उनका कहना है कि जीव और ईश्वर का भेद, उनकी उपाधियों के भेद पर ही आधारित है। माया और अविद्या का भेद न होने पर मायावान् ईश्वर तथा अविद्यावान् जीव का भेद क्योंकर सिद्ध होगा। मोक्ष का क्रम भी व्यावहारिक मर्यादा के अनुरूप ही स्थिर किया जाता है। नगर के बाहर जाने के लिए घर का तथा नगर का द्वार खुलना आवश्यक है। घर का द्वार खोलना मनुष्य के अपने हाथ में है, किन्तु नगरद्वार का खोलना राजाज्ञा पर निर्भर है। इस संसार-नगर में प्रत्येक जीव अपने शरीरगृह में वास करता है। संसारद्वार माया के और शरीरद्वार अविद्या.

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के कपाटों से अवरुद्ध हैं अर्थात् जीव व्यष्टि और समष्टि, दो प्रकार के बन्धनों से बंधा हुआ है।

शुक्ति में जो रजत का भान है, वह अविद्या का ही परिणाम है। पञ्चदशी में माया को शुद्धसत्व-प्रधान और अविद्या को मलिनसत्व-प्रधान बताया गया है। जीव-ईश्वर में भेद भी माया और अविद्या के उपाधि-भेद से ही किया गया है—

> सत्वशुध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽवद्ये च ते मते।
> माया बिम्बो वशीकृत्यतां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वर ॥

इससे माया से अविद्या भिन्न है, यह सिद्ध होता है। अनेक स्थलों में माया और अविद्या के पृथक्-पृथक् लक्षण मिलते हैं:—"स्वाश्रयमव्यामोहयन्ति कर्तु रिच्छामनुसरन्ती माया तद्विपरीता अविद्या"। अर्थात् अपने आश्रय को भ्रान्त न करती हुई कर्ता के ईच्छा का अनुसरण करने वाली माया है, और इसके विपरीत अविद्या। शुक्ति में प्रतीयमान रजत का उपादनकारण अविद्या है, क्योंकि अविद्या का आश्रय जो द्रव्य है, उसे भ्रान्त बना देती है और उसकी इच्छा नहीं रहने पर भी उसका परिणाम होता ही रहता है। इन लक्षणों से माया और अविद्या में भेद प्रतीत होता है।

परन्तु यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि अनिर्वचनीय होना, तत्त्व-प्रतीति का प्रतिबन्धक होना और विपर्यय, (विपरीतज्ञान का अवभासक होना। ये तीनों लक्षण माया और अविद्या में समान रूप से रहते हैं। इसलिए माया और अविद्या परमार्थरूप में एक ही तत्त्व हैं।

> "जीव ईशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
> अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥"

इसके अनुसार वेदान्तसिद्धान्त में जो छः पदार्थ अनादि माने गये हैं। उसमें अविद्या भी है, परन्तु माया नहीं है। अतः यहाँ माया और अविद्या का अभेद मानकर ही अविद्या शब्द प्रयुक्त है। एक बात और भी है कि "आश्रयमव्यामोहयन्ती" इस लक्षण से जो अविद्या से माया में

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भेद दिखाया गया है, वहां यह विकल्प हो सकता है कि आश्रय पद से किसका ग्रहण है, द्रष्टा का अथवा कर्ता का ?

तात्पर्य यह है कि माया के परिणामीभूत पदार्थों को जो देखता है, वह मायाश्रय है, अथवा माया का जो उत्पादन-कर्ता है, वह मायाश्रय है। प्रथमपक्ष (द्रष्टा) तो कह नहीं सकते, क्योंकि मन्त्र या औषधि आदि से जो माया देखता है, वहाँ उसका देखने वाला जो जनसमुदाय है, वह भ्रान्त हो आता है जबकि द्रष्टा को ही माया का आश्रय मानता है, और लक्षण में मायाआश्रय को अभ्रान्त करने वाली बतायी गयी है। द्वितीय पक्ष, अर्थात् माया के कर्ता को यदि मायाआश्रयमाने, तो भी युक्त नहीं है, क्योंकि भगवान् विष्णु की आश्रिता माया है उससे स्वयं विष्णु को रामावतार में भ्रम हुआ है, जो कि लक्षण से विरुद्ध होता है। इसलिए दोनों को एक ही मानना युक्त है। अतएव, "भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः" इत्यादि श्वेताश्वतर श्रुति में भी सम्यग्ज्ञान से निवृत्त होने वाली अविद्या का ही मायाशब्द से व्यवहार किया गया है।

"तरत्यविद्यां विततां हृदि यास्मिन्निवेशिते।
योगीमायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥"

इस स्मृति में अविद्या और माया का स्पष्टतः एकत्वेन व्यवहार किया गया है। भाष्य में भी अविद्या माया, "अविद्यात्मिका मायाशक्ति" इत्यादि व्यवहार स्पष्ट ही है।

इसलिए माया और अविद्या में अभेद ही सिद्ध होता है। लोक में और कहीं-कहीं वेदान्त ग्रन्थों में भी, जो भेद का वर्णन और व्यवहार मिलता है, वह केवल औपाधिक ही है। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में तो आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति के प्राधान्य से अविद्या और माया में भेद का व्यवहार किया गया है। "अहमज्ञः मामन्यञ्च न जानामि" इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव, जो प्राणियों को होता है वही अविद्या में प्रमाण है। आगम-प्रमाण तो पूर्व कहा गया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१५. ईश्वर

ईश ऐश्वर्य धातु से वरच्प्रत्यय होकर अथवा अश् व्याप्ती धातु से वरट् प्रत्यय और उपधा को ईत्व होकर ईश्वर शब्द सिद्ध हुआ है।

ईश्वर के विषय में शांकरवेदान्त में तीन मत हैं—एकमत वाले प्रतिबिम्बवादी हैं और दूसरे मतवाले बिम्बवादी हैं तथा तीसरे अवच्छेद-वादी हैं।

ईश्वर का स्वरूप

प्रथम पक्ष के अनुसार त्रिगुणात्मिका शुद्धशत्त्वप्रधान माया में शुद्ध-चैतन्यब्रह्म का प्रतिविम्ब पड़ता है, उसी प्रतिविम्ब का नाम ईश्वर है। सिद्धान्तलेशसंग्रह में अप्पयदीक्षित ने भी इसी प्रतिबिम्ब पक्ष का समर्थन किया है—

"अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसम्बन्धिनी माया।
तस्यां मायायां चित्प्रतिविम्ब ईश्वरः ॥"

अर्थात् अनादि, अनिर्वचनीय और सवभूतों की प्रकृति तथा चेतन-मात्र में रहने वाली जो माया है, उस माया में चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब है, वही ईश्वर है। पञ्चदशी के तत्त्वविवेक-प्रकरण में विद्यारण्य स्वामी ने भी उक्तमत की पुष्टि की है—

"सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥"

अर्थात् सत्त्व की शुद्धि और अशुद्धि के भेद से त्रिगुणात्मिका प्रकृति के माया और अविद्या दो भेद हैं, उस माया में प्रतिफलितचैतन्य चिदात्मा, माया को अपने अधान करके सर्वज्ञ ईश्वर होता है।

संक्षेपशारीरककार के मत में "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधि-रीश्वरः" अर्थात् अन्तःकरणोपाधिक जीव है और मायोपाधिक ईश्वर है। इस श्रुति के आधार पर अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर

Prof. Amogavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है और अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है। विवरण के अनुयायियों का मत है कि जीव प्रतिबिम्ब और ईश्वर बिम्ब है। इनके मतानुसार अविद्या और माया में भेद नहीं है। इसीलिए एक ही अज्ञान स्मृति में जीव और ईश्वर की उपाधि कहा गया है। अतएव बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद से ईश्वर और जीव का विभाग है। इन दोनों का प्रतिबिम्ब रूप से विभाग नहीं, क्योंकि दो उपाधियों के विना दो प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकते। बिम्ब चैतन्य के ईश्वर होने से ही लौकिक बिम्ब और प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से ईश्वर में स्वातन्त्र्य और जीव में ईश्वरकृत पारतन्त्र्य संगत होता है।

अवच्छेदवादी वाचस्पतिमिश्रादिमतावलम्बियों का कहना है कि निर्गुणनिराकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होना संभव नहीं है, क्योंकि यह नियम है कि साकारवस्तु का ही साकारवस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ता है, जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है और दूसरी बात यह भी है कि जहाँ पर जिस वस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह वस्तु यदि बिम्बदेश से भिन्न देश में रहेगा, तभी उस वस्तु में बिम्ब का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। अतः ब्रह्माण्डान्तर्गत चैतन्य भाग का उपाधि के अन्तर्गत होने से, उसके बाहर के चैतन्य का ही प्रतिबिम्ब होगा। अतः ब्रह्माण्ड से बाहर ही बिम्बभूत चैतन्य के अवस्थान की प्रसक्ति होगी और अन्तर्यामित्व प्रतिपादक ब्राह्मण-ग्रन्थ के साथ विरोध होगा। यदि प्रतिबिम्बपक्ष में ईश्वर के सर्वान्तर्यामित्व की प्रतिपादक श्रुति के अनुसार लोकानुभव का परित्याग कर और सम्पूर्ण चैतन्य का प्रतिबिम्ब मानकर अन्तर्यामी ब्राह्मण का सामञ्जस्य प्रतिपादन किया जाय, तो अनवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है, ऐसी विवक्षा होगी। अन्तःकरण के कल्पित होने से चैतन्य में अन्तःकरणावच्छिन्नता के रहने पर भी वस्तुसत् अन्तःकरणाभाव है। अतः अन्तःकरणाभावावच्छिन्न चैतन्यरूप ईश्वर का सभी विकारों में अवस्थान हो सकता है। इससे इस पक्ष में अन्तर्यामीब्राह्मण की भी अनुपपत्ति नहीं है। अतः इनका तात्पर्य यही है कि मायावच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वर है।

Prof. Amoghavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ईश्वर में सर्वज्ञत्व

ईश्वर सर्वज्ञ है, इस विषय में प्रकटार्थकार का मत है कि जैसे जीव के उपाधिरूप अन्तःकरण के परिणामरूप वृत्तियाँ चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती हैं, इसलिए उनके योग से जीव ज्ञाता होता है, वैसे ही ईश्वर की उपाधिभूत माया के परिणाम भूतवृत्तियां चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती हैं, अतः उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य तीनों कालों में रहने वाले प्रपञ्च को अपरोक्ष से विषय करते हैं, अतः ईश्वर में सर्वज्ञत्व हो सकता है। तत्त्वशुद्धिकार का मत है कि सृष्टि के पूर्वकाल में जीवों के अदृष्टवश सृज्यमान संपूर्ण पदार्थों की वृत्तिरूप से माया का परिणाम होता है। इससे माया में प्रतिबिम्ब होने से मायोपाधिक ईश्वर में भी माया की वृत्ति के प्रति कर्तृत्व की सिद्धि होने से अनागतवस्तुविषयक विज्ञान की उपपत्ति हो जाती है। अतः ईश्वर की सर्वज्ञता है।

उक्त दो मतों से वृत्तिज्ञान द्वारा ईश्वर में सर्वज्ञता का निरूपण किया गया है। किन्तु वेदान्त-कौमुदीकार रामाद्वयाचार्य का मत है कि स्वरूपज्ञान से ही ईश्वर अपने साथ संबद्ध सब पदार्थों का अवभासक होने से सर्वज्ञ है। जैसे अनभिव्यक्त चित्र संस्काररूप से भित्ति में रहता है, वैसे ही अतीत और अनागत पदार्थ अविद्या में संस्काररूप से रहते हैं, अतः उनके साथ ईश्वर का सम्बन्ध है। इसलिए ईश्वर में स्वरूपज्ञान से ही सर्वज्ञता है, वृत्तिज्ञान से ईश्वर में सर्वज्ञता नहीं है। क्योंकि "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" अर्थात् उस ईश्वर के प्रकाशित होने पर ही सब वस्तुओं का प्रकाश होता है, उस श्रुति के साथ वृत्तिसापेक्ष पक्ष का विरोध होगा।

ईश्वर में कर्तृत्व

शांकरवेदान्त में ईश्वर प्रपञ्च का कर्ता है, ऐसा स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत है कि जैसे न्यायमत में कार्यानुकुलज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्व कर्तृत्व का लक्षण है, वैसे प्रकृत में

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्तृत्व का लक्षण है। कुछ अन्य लोगों का मत है कि चिकीर्षा के प्रति और कृति के प्रति कर्तृता का निर्वाह करने के लिए यदि अन्य चिकीर्षा और अन्य कृति का स्वीकार किया जाय, तो अनवस्था होगी, इससे कार्यानुकूलज्ञानवत्व ही कर्तृत्व का लक्षण है। तात्पर्य है कि सच्चिदानन्द परमेश्वर समस्त जगत् का कर्ता है और पूर्वमत से कर्ता वह कहा गया है, जिस में कार्य का ठीक-ठीक परिज्ञान और कार्य को जानने की प्रबल इच्छा हो तथा कार्यानुकूल कृति (प्रयत्न) हो। क्योंकि जो कर्ता होता है, उसमें कार्यविषयकज्ञान, कार्यविषयक चिकीर्षा और तदनुकूल कृति रहती है। जैसे घट का कर्ता कुम्भकार (कुम्हार)। उसमें घट का ज्ञान, घट की चिकीर्षा और घटानुकूल कृति, ये तीनों विद्यमान हैं। तुल्य युक्ति से ईश्वर में भी उपाधिवश कार्यानुकूलज्ञान, चिकीर्षा और कृति माननी पड़ेगी, अन्यथा ईश्वर में कर्तृत्व का निर्वाह नहीं होगा। कर्ता के लक्षण में प्रविष्ट जो चिकीर्षा और कृति हैं, उनको कार्य माना जाय या नहीं? यदि उनको कार्य न माना जाय, तो ईश्वर में अन्य चिकीर्षा और कृति के भी नित्य होने से अद्वितीयत्व श्रुति के साथ विरोध होगा। इसलिए चिकीर्षा और कृति को कार्य अवश्य मानना होगा। यदि वे कार्य हैं, तो चिकीर्षा के अनुकूल द्वितीय चिकीर्षा और कृति के अनुकूल अन्य कृति माननी होगी, इस प्रकार द्वितीय चिकीर्षा और कृति के कार्य होने से तदनुकूल तृतीय चिकीर्षा और कृति माननी होगी, अतः इस क्रम से विचारधारा करने पर अनवस्था ही होगी। किन्तु ज्ञान के ईश्वरस्वरूप होने से वह नित्य है, अतः तत्प्रयुक्त अनवस्था नहीं हो सकती है। इस लिए चिकीर्षा और कृति से रहित कार्यानुकूल अर्थात् कार्य के लिए उपयुक्त जो ज्ञान है, उस ज्ञान से जो युक्त हो, वह कर्ता है। इच्छा और कृति का कर्ता के लक्षण में प्रवेश नहीं है। इसलिए वीक्षण मात्र से साध्य होने से वियदादि वीक्षित कहे गये हैं। ईश्वर द्वारा भौतिक पदार्थ वीक्षण से अधिक यत्नसाध्य हैं, अतः भौतिक पदार्थ स्मित हैं।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१६. जीव

जीवतीति जीवः, जीव् प्राणे धातु से क प्रत्यय होकर जीव शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है—प्राण धारण करने वाला चेतनतत्त्व।

जीवात्मा के विषय में जिज्ञासा होती है कि उसका परिमाण क्या है, वह चैतन्यस्वरूप है या जड़स्वरूप या उभयात्मक है? जीवात्मा एक है या अनेक है। विभु है या परिच्छिन्न है तथा विकारी है या निर्विकार है? इत्यादि विकल्पों को भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकार किया है।

जीव की चिद्रूपता--

सामान्य-धारणा के अनुसार यह समझा जाता है कि जीव का चेतना के साथ सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु चेतना के स्वरूपगत भेद एवं जीव के साथ उसके सम्बन्धगत भेद के कारण जीव के सम्बन्ध में अनेक मतवाद प्रचलित हैं। चार्वाकों के मत में चैतन्यविशिष्ट देह को ही जीवात्मा माना गया है। वही कर्त्ता और भोक्ता है। उसका मूल स्वरूप, पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों का परमाणुपुञ्ज ही है। जब इन भूतपरमाणुओं का देह रूप से परिणाम होता है, तभी उसमें (देह में) चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। उसी समय वह चैतन्यविशिष्टदेह जीव कहलाता है। इनके मत में जीव जड़ और बोध उभय-स्वरूप है। चैतन्यविशिष्टदेह में जो चैतन्य अंश है, वही बोध रूप है, और देह अंश जडरूप है। देह अनेक प्रकार का होता है, इस लिए जीव भी अनेक हो जाता है। और देह के साथ ही वह उत्पन्न और विनष्ट होता है, इस लिए अनित्य भी है और तदनुसार इन्द्रियात्मवाद, मन आत्मवाद, प्राणात्मवाद आदि अनेक वाद प्रचलित हुए है।

बौद्धों में जो शून्यवादी माध्यमिक हैं, उनके मत में व्यवहारदशा में भासमान जो जीव है, उसका मूलस्वरूप शून्य ही है। इनके अतिरिक्त विज्ञानवादी बौद्धों के मत में जीवात्मा विज्ञान-स्वरूप है। क्षणिक

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विज्ञानों का जो प्रवाह है, तत्स्वरूप होने के कारण जीवात्मा प्रतिक्षण बदलता रहता है। पूर्व-पूर्व विज्ञानजन्य जो संस्कार है, उसका उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रमण होता रहता है, इसीलिए उनके मत में स्मरण की अनुपपत्ति नहीं होती और पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण बना रहता है। प्राभाकर तथा न्यायमतानुयायी आत्मा को जड़ मानते हैं। इनका कहना है कि आत्मा आकाश की भाँति द्रव्य है और आकाश के गुण शब्द की तरह आत्मा का चैतन्य गुण है, क्योंकि ये गुण के आश्रय को द्रव्य मानते हैं, अतः चैतन्य आत्मा का गुण है। इनका मत है कि अदृष्ट से आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, तो चैतन्य-गुण की उत्पत्ति होती है और सुषुप्ति में अदृष्ट का क्षय हो जाने पर चैतन्यगुण नष्ट हो जाता है। इनका कहना है कि ज्ञानगुणवाला होने से जड़ होते हुए भी आत्मा चेतन है, धर्मा-धर्म का कर्त्ता तथा सुखदुःखादि का भोक्ता है। पूर्वमीमांसा के वार्तिककार कुमारिलभट्ट के अनुयायी आत्मा में अस्पष्ट चेतनता की कल्पना कर के आत्मा को जड़चेतन उभयात्मक मानते हैं। आत्मा में अस्पष्ट चेतनता की कल्पना का कारण हैं—सुषुप्ति से उठे पुरुष का स्मरण। क्योंकि सुषुप्ति से उठे पुरुष को स्मरण होता है, अत एव सुषुप्ति में चेतनता की स्थिति की कल्पना होती है। सुषुप्ति में भी चेतनता बनी रहती है, इसमें "नहि द्रष्टुर्द्दष्टेर्विपरिलोपी विद्यते अविनाशित्वात्" यह श्रुति प्रमाण हैं। सांख्यवादी तथा वेदान्ती दोनों ही आत्मा को चेतनस्वरूप मानते हैं। जैन-दर्शन भी जीव को चेतन-स्वरूप मानता है। कहा भी है—"चेतनालक्षणो जीवः"। इसके अतिरिक्त जैन दार्शनिक "जीव उपयोगमयो" की व्याख्या के अनुसार ज्ञान और क्रियाशक्ति जीव में मानते हैं।

जीव का परिमाण–

आन्तरालमतानुयायी 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः"

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्ताय कल्पते ॥"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जीवात्मा को अणुपरिमाण मानते हैं। दिगम्बरमतावलम्बी आत्मा का मध्यम-परिमाण मानते हैं, इनका कहना है कि जितना बड़ा या छोटा शरीर का परिमाण होता है, उतना ही बड़ा आत्मा का परिमाण है। ये कहते हैं कि छोटे बड़े शरीर में प्रवेश आत्मा के अंशों की घटाबढी (उत्पत्ति-विनाश) से संभव है। "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" इस श्रुति को आत्मा के मध्यम-परिमाण में प्रमाण देते हैं। नैयायिकों का कहना है कि आत्मा का महत्परिमाण है तथा विभु है। "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के विभुत्व में प्रमाण हैं। शांकरवेदान्त के अनुसार जीवात्मा निरंश तथा विभु माना जाता है। पंचदशीकार ने भी इस मत की पुष्टि की है—

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः।
आकाशवत् सर्वगतो निरंशः श्रुतिसम्मतः॥

वाचस्पतिमिश्र अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव मानते हैं। "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" यह श्रुति इनके मतानुसार अवच्छिन्नवाद में प्रमाण है। भाष्यकार, वार्तिककार, विवरणकारादि सभी ने प्रतिबिम्बवाद को ही स्वीकार किया है। इनके मतानुसार अन्तः-करण में चैतन्य के प्रतिबिम्बका नाम जीव है। कुछ आचार्यों का मत है कि अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव मानना चाहिए, क्योंकि जीव की उपाधि अविद्या है। अन्तःकरण उपाधि मानने पर कृतहान और अकृताभ्यागम की प्रसक्ति होगी॥

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१७. एकजीववाद

जीवात्मा एक है या अनेक, इस विषय में भी आचार्यों में मतभेद हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि जीव एक ही है। इनका कहना है कि ब्रह्म एक है और उसमें अवच्छेदवाद या प्रतिबिम्बवाद का स्वीकार नहीं है, अतः जीव का भेद नहीं हो सकता। इसलिए एक ही शरीर युक्त है और अन्य शरीर सब के सब स्वप्न में देखे जाने वाले शरीरों के समान निर्जीव हैं। यह समस्त जगत् जीव के अज्ञानमात्र से कल्पित है। जैसे जब तक निद्रा की निवृत्ति नहीं होती है, तभी तक स्वप्न देखा जाता है, वैसे ही जब तक जीव की अविद्या का विनाश नहीं होता, तभी तक जीव के सब व्यवहार होते हैं।

इस एकजीववाद में शंका होती है कि यदि अज्ञान से स्वप्नव्यवहार के समान समस्त जगत् का व्यवहार कल्पित है, तो जैसे स्वप्नव्यवहार एकदम नष्ट हो जाता है, वैसे ही जगत् का व्यवहार एकदम नष्ट हो जाना चाहिए, फिर विद्या की स्वीकृति व्यर्थ है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि विद्या व्यर्थ नहीं है, क्योंकि जैसे कारणान्तर से निद्रादि का क्षय होने पर स्वप्न की निवृत्ति होती है, वैसे ही ज्ञान से अज्ञानान्धकार के निवृत्त होने पर ही समस्त संसार-व्यवहार का नाश होता है। विद्या के उदय के विना अज्ञान का नाश नहीं होता और अज्ञान के नाश के बिना इस प्रपञ्चात्मक व्यवहार का लोप नहीं होता। अतः विद्या निरर्थक नहीं है।

एकजीववाद में बन्ध-मुक्त की व्यवस्था भी नहीं है, क्योंकि जीव एक ही है। शुकादि की जो मुक्ति सुनी जाती है, वह भी स्वप्न-कालिक ही है। जैसे स्वप्न से उठा हुआ पुरुष स्वप्नभ्रम से सिद्ध अन्य पुरुष की मुक्ति को अन्य के प्रति कहता है, वैसे ही जीव के भ्रमात्मक ज्ञान से सिद्ध शुकाकि की मुक्ति श्रवणादि में पुरुषों की प्रवृत्ति के लिए कही गयी है।

इस एकजीववाद में संभावित संपूर्ण आशंकाओं की निवृत्ति स्वप्नदृष्टान्त से दूर करनी चाहिए। जैसे कोई शंका करे कि यदि

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जीव एक ही है, तो विद्या के उपदेशक अन्य का अभाव होने से ज्ञान नहीं होगा और जीव तथा ईश्वर के विभक्त न होने से जीव का ईश्वरोपासनाआदि व्यवहार भी नहीं होगा। इस के उत्तर में कहा जाता है कि जैसे स्वप्न-दशा में स्वप्न देखने वाला किसी को ईश्वर और किसी को गुरु मानकर उपासना करता है, वैसे ही प्रकृत में भी होगा।

कुछ लोगों का मत है कि ब्रह्म का प्रतिबिम्बभूत हिरण्यगर्भ ही एक मुख्य जीव है। हिरण्यगर्भ से अन्य इन्द्रादि तो हिरण्यगर्भ के प्रतिबिम्बभूत चित्रपट में लिखित मनुष्य की देह में अर्पित पटाभास के समान संसारादि भोगने वाले जीवाभास हैं। प्रत्येक कल्प में हिरण्यगर्भ का भेद होने से किस हिरण्यगर्भ को मुख्यजीव माना जाय, इस में प्रमाण नहीं है। विनिगमक के विना यदि किसी हिरण्यगर्भ को मुख्य जीव माना जाय, तो अविशेषात् सभी कल्प के हिरण्यगर्भ मुख्य जीव होंगे। इस प्रकार पूर्वोक्त पक्ष से भी एकजीववाद सिद्ध नहीं होगा। इसलिए एक ही जीव मुख्य और अमुख्य के विना सब शरीरों में अपने भोग के लिए अधिष्ठित हैं, ऐसा मानते हुए अविशेष अनेकशरीरवाला एक जीव का ही कुछ लोग स्वीकार करते हैं।

यदि कोई शंका करे कि सब शरीरों में एक ही जीव है, तो शरीर के अवयवभेद के समान शरीर का भेद होने पर भी परस्पर के सुखादि का अनुसन्धान होना चाहिए अर्थात् जैसे हाथ, पैर मस्तक आदि अनेक अवयवों में अधिकार रखने वाले एक ही देवदत्त में यह अनुभव देखा जाता है कि 'मेरे मस्तक में वेदना है और पैरों सुख हैं। वैसे ही यदि एक जीव सभी शरीरों में अधिष्ठित है, तो उसे यह अनुभव होना चाहिए कि देवदत्त के शरीर में मुझे सुख है और यज्ञदत्त के शरीर में दुःख है। किन्तु यह अनुभव नहीं होता। इसलिए एक जीववाद असंगत है। उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि पूर्व जन्म के शरीर में अधिकार रखने वाला जीव और इस जन्म के शरीर में अधिकार रखने वाला जीव एक ही है, तो भी जन्मान्तरीय सुखादि का अनुसंधान इस शरीर में नहीं देखा जाता, इससे सुख आदि के अनुसंधान के अभाव में शरीर-भेद को हेतु

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मानना चाहिए, अतः उक्त दोष नहीं है। अनेक शरीरों में योगी को जो सुखादि का अनुसन्धान होता है, वह तो व्यवहित अर्थ के ज्ञान के समान योग प्रभाव से होता है, अतः उसे उदाहरण रूप से नहीं दे सकते हैं। तात्पर्य यह है कि योगी अपने विलक्षण प्रभाव से अनेक शरीरों को धारण करता है। और उन सब शरीरों में से किसी में सुख और किसी में दुःख का अनुभव करता है।

शरीरभेद को यदि अननुभव के प्रति हेतु माना जायगा, तो उसे भिन्न-भिन्न शरीर में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए। अतः उक्त नियम में (सुखादि के अननुसन्धान में शरीर-भेद कारण है, इस में) व्यभिचार होगा। यहाँ शंका सर्वथा अनुचित है, क्योंकि योगी जैसे सुदूर भूतकालीन पदार्थ और सुदूरभविष्यद् अर्थ का (जिन्हें हम अपने चर्म चक्षुओं से सर्वथा नहीं देख सकते हैं) योग-प्रभाव से ज्ञान कर लेते हैं, वैसे ही योग प्रभाव से अनेक शरीरों में सुख और दुःख का अनुभव कर लेते हैं। अतः योगी के दृष्टान्त से कथित नियम में व्यभिचार नहीं है अर्थात् सुखादि के अननुसन्धान में योग-प्रभाव से असहकृत शरीर भेद को प्रयोजक मानेंगे। योगी का शरीर-भेद है, परन्तु वे योग-प्रभाव से असहकृत नहीं हैं, किन्तु सहकृत है, अतः व्यभिचार नहीं है।

o——o

१८. अनेकजीववाद

शांकरवेदान्त में एकजीववाद और अनेकजीववाद ये दोनों पक्ष संभव हैं, क्योंकि एकत्व और अनेकत्व उपाधि के भेद से है। यदि जीवों की उपाधिभूत अविद्या के एकत्व को स्वीकार किया जाय, तो एकजीव-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वाद की पुष्टि होती है और उसी अविद्या के अवस्था आदि रूप से अनेकत्व को स्वीकार किया जाय तो अनेकजीववाद की सिद्धि होती है। अद्वैत वेदान्त में अधिकतर आचार्यगण एक-अविद्यावादी हैं तथा एक जीववादी। अविद्या, माया पर्यायवाची शब्द हैं। केवल मण्डन मिश्र और वाचस्पतिमिश्र जीव के नानात्व को स्वीकार करते हैं।

अब शंका होती है कि नाना जीवों की एक ही अविद्या कल्पक है या अनेक ? प्रथम पक्ष में तो एक की मुक्ति हो जाने पर सब की मुक्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः नाना जीवों की कल्पना में व्यवस्था की अनुपपत्ति है। द्वितीय पक्ष में कल्पना-गौरव है। यदि कहा जाय कि व्यवस्था की अनुपपत्ति होने पर कल्पना का गौरव दोषप्रद नहीं होता, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—"प्रामाणिक अनन्त अदृष्टों की भी कल्पना सम्भव है"। तो यह कहना सम्भव नहीं; क्योंकि उक्त व्यवस्था को पारमार्थिक मानने पर अविद्या-कार्यत्व सम्भव न होने से नाना अविद्या की कल्पना ही व्यर्थ है। उक्त व्यवस्था के अपारमार्थिक होने पर भी एक ही अविद्या से सब व्यवस्था बन जाती है, नाना अविद्या की कल्पना व्यर्थ ही है। नहीं तो एक आत्मा की अविद्या में भी अनन्त भेदों का भान मानने के लिए अनन्त अविद्याएं माननीं होगी। इसे इष्टापत्ति कहने पर उन्हीं से सर्व कल्पना की सिद्धि हो जाने से दूसरे आत्मा में अनन्त अविद्याओं की कल्पना अनावश्यक होगी।

यदि कहें कि दूसरे आत्माओं में भी अज्ञता की प्रतीति होने से उन की कल्पना आवश्यक हैं; तो यह नही कह सकते, क्योंकि अद्वैतवादियों के मत में अज्ञभेदभान प्रामाणिक नहीं है, अप्रामाणिक भेदभान तो एक जीवकी ही अविद्याओं से बन सकता है, अन्य जीवों में अविद्या-भेद-कल्पना निरर्थक है।

उक्त शंका के उत्तर में कहना है कि एक अविद्या के न मानने से निरस्त हो जाता है, क्योंकि एक ही ब्रह्म विभिन्न अनादि अनन्त अविद्या-परिच्छेद से अनन्त जीवों के रूप में भासित होता है। इष्टसिद्धिकार ने भी जितने ज्ञान उतने ही अज्ञान मानकर अनेक अविद्या पक्ष का ही

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समर्थन किया है। विद्वान्–अविद्वान्, गुरु-शिष्य, बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था सिद्ध करने के लिए अनेक अविद्या मानना आवश्यक है। यदि कहा जाय कि एक अविद्या पक्ष में भी स्वप्न के समान सब व्यवस्था सिद्ध हो जायगी, तो प्रश्न है कि क्या स्वप्न-कल्पक अविद्या ही जाग्रद-व्यवहार की कल्पक है या अन्य ? प्रथम पक्ष में तो बिना ही ब्रह्मविद्या के मुक्ति सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि जागने पर स्वप्न-कल्पक अविद्या का नाश हो जाने से समस्त जाग्रद्-व्यवहार भी निवृत्त हो जायगा। यदि जाग्रद् के ज्ञान से स्वप्नकल्पक अविद्या का नाश न माना जाय, तो अविद्या के तत्व-ज्ञान से नष्ट होने में कोई दृष्टान्त ही न रहेगा। किस दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति सिद्ध होगी ? यदि कहें कि तत्वाभ्यास के विरोधी अग्रहण और मिथ्याज्ञान की शुक्त्यादि तत्वज्ञान से निवृत्ति देखी जाती है, अतः ब्रह्मतत्वाभास के विरोधी अज्ञान की ब्रह्मतत्वज्ञान से निवृत्ति सिद्ध हो जायगी। तो यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह अनुमान है या अर्थापत्ति या दृष्टान्त-दर्शन से संभावनामात्र ? प्रथम पक्ष ('विमतं तत्वज्ञान निवर्त्यम्, तत्वावभासविरोधित्वात्, शुक्त्यज्ञानवत्' यह अनुमान) मानने पर स्वप्नकल्पक अविद्या में ही व्यभिचार है; क्योंकि प्रबोधकाल में भी उसकी निवृत्ति नहीं मानी जाती। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान-निवर्त्य के विना ही तत्वावभास-विरोधित्व स्वप्नज्ञान में उपपन्न देखा जाता है। तृतीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि स्वप्नज्ञान के ही समान विपरीत (तत्त्वज्ञान से अनिवर्त्यत्व) की भी संभावना की जा सकती है। श्रुतिप्रमाण के बल पर ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति मानने पर "भूयश्चान्ते विश्वमाया"—इस श्रुति-प्रमाण से अनेक अज्ञान एवं उसकी क्रमशः निवृत्ति भी माननी पड़ेगी। द्वितीय (स्वप्नकल्पक अविद्या से भिन्न अविद्या जाग्रत् की कल्पक है) पक्ष मानने पर आपके मत में भी अनेक-अविद्याकल्पना का दोष प्राप्त है। यदि कहें कि कार्य भेदरूप कल्पक के रहने पर उक्त दोष नहीं है। तो प्रश्न होता है कि वह भेद-दर्शन क्या पारमार्थिक है या नहीं ? पारमार्थिक मानने पर

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विरोध होता है, अतः कल्पना सिद्ध नहीं होती। भेद-दर्शन को पारमार्थिक न मानने पर एक ही अविद्या से वह सिद्ध हो जाता है, अनेक अविद्या कल्पना व्यर्थ है-- यह आपके ही लगाये दोष आप पर लागू हो जाते हैं।

यदि कहें कि सभी के कल्पित होने पर भी कुछ पदार्थ व्यावहारिक होते हैं, जो कि देहात्मभाव-निवर्तक आत्म-साक्षात्कार होने तक अनुवृत्त बने रहते हैं और कुछ पदार्थ प्रातिभासिक होते हैं, जो कि प्रमातृत्वादि-व्यवहार के रहने पर ही निवृत्त हो जाते हैं-- इस प्रकार अवान्तर भेद की सिद्धि के लिये अविद्या के भेद मानने चाहियें। तब तो जैसे जाग्रत् तथा स्वप्न का भेद करने वाली अनेक अविद्यायें मानी जाती हैं, वैसे ही कल्पक के रहने पर अनन्त अविद्याओं की कल्पना कर लेनी चाहिये। अर्थात् हमारे मत में भी मुक्तामुक्तादि रूप से अनन्त व्यावहारिक शुक-वामदेवादि जीवों की प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति के लिये उसकी हेतुभूत अनेक अविद्याओं को मानने पर भी कोई दोष नहीं। यदि कहा जाय कि अद्वैतवादियों के लिये प्रमाण से तो जीवभेदों का भान होता नहीं और भ्रान्तिसिद्ध जीव-भेद की तो एक ही अविद्या से सिद्ध हो जाती है, अतः अनन्त अविद्या कल्पना युक्त नहीं। तो यह कहना संगत नहीं, क्योंकि जीवभेद, तत्त्वावेदक प्रमाण के अविषय है? या व्यावहारिक प्रमाण के? प्रथम पक्ष में तो जाग्रत् स्वप्नव्यवहार-भेद भी वैसा ही है, अतः आपके मत में भी अविद्या-भेद सिद्ध नहीं होता। अन्तिम पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि जीव-भेद अनुमानादि व्यावहारिक प्रमाण के विषय ही माने जाते हैं। इसी कारण से स्वप्नदृष्टान्त के बल पर एक ही अविद्या पर्याप्त है— यह आक्षेप भी खंडित हो जाता है।

यदि कहा जाय कि अन्य पुरुष की अविद्या तथा उसके कार्य में अन्य पुरुष की दृश्यता मानने पर उसी (दर्शक) पुरुष की ही वह अविद्या माननी होगी। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जाग्रत् स्वप्नकल्पक अविद्या-भेद के समान ही उसका भी समाधान है, अर्थात् एक पुरुष का सम्बन्ध होने पर भी अविद्याओं का परस्पर अवान्तर भेद होता है। हम

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी अनन्त अविद्याओं में एक ब्रह्म का सम्बन्ध मानते हैं। इन्द्रजालादि के दृष्टान्त भी पूर्वोक्त रीति से ही परास्त हो जाते हैं, क्योंकि अन्य कल्पित वस्तु, अन्य पुरुष की अपरोक्ष न होने पर भी उस में परोक्षतावभास सम्भव है– यह कहा जा चुका है। गुरु-शिष्य की कल्पना का परस्पर अपरोक्ष न होने पर उपदेश कैसे किया जायेगा ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि समस्त भूतभौतिक प्रपञ्च, ईश्वर की माया से निर्मित्त होने पर भी सभी की अपरोक्षता उसमें रह जाती है। यह बात "यतो वा इमानि भूतानि" "अहंकृत्नस्य जगतः प्रभव." "जन्माद्यस्य यतः" आदि श्रुति, स्मृति, सूत्र तथा भाष्य में स्पष्ट कही गई है। अन्यथा शुक्ति-रजत के समान जीव की अविद्या से निर्मित मानने पर जगत् में जीवादि-कर्तृत्व का निराश व्यर्थ हो जायगा। एवं ईश्वर को जीवाविद्या-कल्पित मानने पर जीवों का ईश्वर नियन्ता है– इस तथ्य की प्रतिपादक श्रुतियों और स्मृतियों में अप्रामाण्य आ जायगा। एक प्रपञ्च, बहुत पुरुषों के मोह से कल्पित नहीं माना जाता, अतः उस पक्ष में दिये गये दोष स्वयं दूर हो जाते हैं। अपनी-अपनी विद्या से अपनी अपनी अविद्या निर्मित कर्तृत्वादि बन्ध का समूल उच्छेद हो जाने पर नित्य, शुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म को प्राप्तिरूप मुक्ति भी बन जाती है। "स्वस्वाविद्या"—ऐसा कह-कर अविद्या में जीवनिष्ठता का व्यवहार कैसे होगा ? क्योंकि ब्रह्माश्रित रहने पर भी अविद्यायें स्वावच्छिन्न जीवरूप की पक्षपाती होकर प्रतीत होती हैं। लोक में देखा जाता है–केवल मुख का सम्बन्धी होने पर भी दर्पण, प्रतिबिम्ब का पक्षपाती है एवं आकाश मात्र का सम्बन्धी होने पर भी घट, स्वावच्छिन्न आकाश का पक्षपाती होता है। अतः इस नाना अविद्या पक्ष में कोई दोष नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि सूत्र, भाष्य तथा स्मृति वाक्यों में मुख्या-र्थत्व की उपपत्ति के लिये यही व्यवस्था माननी होगी। इसप्रकार "नेतरानुपपत्तेः" "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" "कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च" "परात्तु तच्छ्रुतेः" कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः" इत्यादि सूत्र तथा भाष्यों का समुचित सामञ्जस्य हो जाता है। देवों में

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जो जो ब्रह्म को जानता गया, वह वह तद्रूप होता गया, वैसे ही ऋषियों और मनुष्यों में। उस गर्भ में ही वामदेव को दिव्य ज्ञान हो गया कि मैं ही मनु हुआ और मैं ही कई जन्मों में सूर्य बना। उस मलरहित अन्तःकरण वाले महर्षि को तम से परे ब्रह्म का दर्शन भगवान् सनत्-कुमार ने करा दिया · अरे मैत्रेयि ! इतना ही अमृतत्त्व है---ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य प्रव्रजित हो गये। इन्द्र ने प्रजापति के पास एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मविद्या के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को सर्व विद्याओं में श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। इत्यादि श्रुति-स्मृति-इतिहास पुराणादि के वाक्य भी उक्त व्यवस्था का आश्रय लेने से ही अपने मुख्यार्थ में प्रमाण होंगे।

इसलिये एक ही ब्रह्म अनेक उपाधियों से परिच्छिन्न होकर नाना बद्ध जीवरूपों को धारण करता है और जहाँ विद्या के द्वारा अविद्या रूप उपाधि निवृत्त हो जाती है, वहाँ मुक्त जैसा हो जाता है। अतः नानाजीववाद में बन्धमोक्ष की व्यवस्था बन जाती है, ऐसा मण्डनमिश्र और वाचस्पतिमिश्रमतानुयायी मानते हैं।

---

१६. अवच्छेदवाद

जीव के स्वरूप, उत्पत्ति स्थिति और लयका ज्ञान जब तक मनुष्य को न होगा, तब तक वास्तविक सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अतः जीवतत्त्व को जानना परमावश्यक है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"वाचस्पतेरवच्छेद आभासो वार्तिकस्य च ।
संक्षेपशारीरकृतां प्रतिबिम्बमिहेष्यते ।"

चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार इन चारों के समुदाय का नाम अंतःकरण (अन्तर की इन्द्रिय) है और ये चारों वृत्तिविशेष रूप हैं। इनमें से किसी एक की एक काल में प्रधानता होती है। शांकर-वेदान्त में दो मत हैं—एक अवच्छेदवाद और दूसरा प्रतिबिम्बवाद। प्रतिबिम्बवादियों का कहना है कि अंतःकरण में सर्वत्र व्यापक शुद्ध चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रतिबिम्ब का नाम जीव है।

दूसरा अवच्छेदवाद (अवच्छिन्न) वाद है। इनका मत है कि अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य का नाम जीवात्मा है। "अंशो नानाव्यदेशात्" "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवाः" "ममैवांशो जीवलोकेजीवभूतः सनातनः" इत्यादि श्रुतिस्मृतियां अवच्छेदवाद में प्रमाण हैं। अवच्छेद-वादियों का कहना है कि प्रतिबिम्बवाद सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि संसार में देखा जाता है कि आकारवान् वस्तु का ही आकारवान् वस्तु में प्रति-बिम्ब पड़ता है। आकारवान् दर्पण में आकारवान् मुख का प्रतिबिम्ब देखा जाता है।

नीरूप वस्तु का नीरूप वस्तु में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। अतः नीरूप चैतन्य का नीरूप अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब नही पड़ सकता। और दूसरी बात यह भी है कि जब आत्मा सर्वव्यापक है तो अन्तःकरण में भी आत्मा पूर्व से ही विद्यमान है। अतः अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। क्योंकि जिसमें जिस वस्तु का प्रत्तिबिम्ब पड़ता है तो उन दोनों के बीच यदि अन्तराल नहीं होगा तो प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेगा। आत्मा और अन्तःकरण के बीच में तो कोई अन्तराल है नहीं। जैसे दर्पण और मुख के बीच में अन्तराल होने पर ही मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है, अन्यथा नहीं। और यह जो कहा जाता है कि रूपरहित आकाश का प्रतिबिम्ब जलादि में पड़ता हैं, तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि यह जलादि में आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आकाश में व्याप्त सूर्य की किरणों का ही प्रतिबिम्ब है। रूपरहित वस्तुओं का प्रतिबिम्ब सर्वथा अनुपपन्नहै, इसी अभिप्राय से भामतीकार कहते हैं:— 'गन्धस्पर्शरसादीनां कीदृशी प्रतिबिम्बता'' वाचस्पति ने नीरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का खण्डन कर अवच्छेदवाद को ही स्वीकार किया है। जो शब्द का प्रतिबिम्बरूप प्रतिध्वनि मानते हैं। उनके मत का सिद्धान्तलेशकार ने खण्डन किया है—"प्रतिध्वनिरपि न पूर्व शब्दप्रतिबिम्बः, पञ्चीकरणप्रक्रियया पटहपयोनिधिप्रभृतिशब्दानां क्षितिसलिलादिशब्दत्वेन प्रतिध्वनेरेवाकाशशब्दत्वेन तस्याऽन्यशब्दप्रतिबिम्बत्वायोगात्। वर्णरूपप्रतिशब्दोऽपि न पूर्ववर्णप्रतिबिम्बः। वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिनिमित्तकप्रतिध्वनेर्मूलध्वनिवदेव वर्णाभिव्यञ्जकत्वेनोपपत्तेः। तस्माद् घटाकाशवदन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः। तदनवच्छिन्नमीश्वरः।"

उसी चैतन्य का उपाधि में प्रतिबिम्ब मानना चाहिये, जिसका उपाधि में अवस्थान नहीं है। जलचन्द्र के दृष्टान्त से संपूर्ण का प्रतिबिम्ब नही मानना चाहिये। उपाधि के अन्तर्गत भाग का उसी उपाधि मे प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। क्योंकि मेघावच्छिन्न आकाश का अथवा आलोक का जल में प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता है अथवा जल से बाहर जब मुख की अवस्थिति रहती है, तब जैसे मुख का जल में प्रतिबिम्ब होता है, वैसे जल के भीतर मज्जन (प्रवेश) के समय उस जल में मुख का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता है। अतः उक्त दृष्टान्तों से यह सिद्ध हुआ कि उपाधि में अनन्तर्गत का ही उस उपाधि में प्रतिबिम्ब होता है। इससे जल-प्रतिबिम्ब के प्रति जैसे मेघाकाशादि में बिम्बत्व है, वैसे ही अन्तःकरणादि उपाधियों में रहने वाले प्रतिबिम्ब के प्रति अन्तःकरणादि में अनन्तर्भूत चैतन्य में बिम्बत्व होगा। इसलिए बिम्बभूत चैतन्य के विकार के अन्दर अवस्थान का अयोग होने से प्रतिबिम्बपक्ष में "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यादि अन्तर्यामि ब्राह्मण की असमञ्जसता प्राप्त होगी। इससे अवच्छिन्नचैतन्य के जीवत्वपक्ष में कर्म करने और उसके फल भोगने के समय में पृथिवी और स्वर्ग आदि में अन्तःकरणा-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वच्छिन्न चैतन्यप्रदेश के भिन्न होने पर भी कृतहान या अकृताभ्यागम रूप दोष का प्रसंग निरस्त हुआ। क्योंकि प्रतिबिम्बपक्ष में भी उपाधि में अनन्तर्गत और उपाधि के सन्निहित चैतन्य-प्रदेश का ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब होता है, ऐसा कहना होगा। इसलिए उस-उस स्थल में अन्तःकरण के गमन में बिम्ब के भेद से उसके प्रतिबिम्ब का भेद भी अवश्यंभावी है। अतः पूर्वोक्तकृतहान और अकृत का अभ्यागम रूप दोष प्राप्त होगा।

यदि प्रतिबिम्बवादी उक्त दोष से बचने के लिए ऐसा कहें कि हम अविद्या में चित् के प्रतिबिम्ब को जीव मानते हैं, जैसे तत्तत् जलाशयों में प्राप्त महामेघमण्डल के प्रतिबिम्ब की अभिव्यक्ति का हेतु जलाशय के ऊपर भाग में गमनशील मेघ के छिद्रों से निकला हुआ स्पष्ट प्रकाश-विशेष है वैसे ही इस लोक या परलोक में गमनशील अन्तःकरण भी अविद्या में प्रतिबिम्बभूत जीव की अर्थात् जीवगत कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की विशेष अभिव्यक्ति का हेतु है, इसलिए इस पक्ष में समानता-प्रयुक्त दोष नहीं है। कृतहानादि दोष की प्रसक्ति भी नहीं है क्योंकि अन्तःकरण के समान अविद्या की गति न होने से प्रतिबिम्ब का भेद हो ही नहीं सकता।

उक्त शंका के उत्तर में अवच्छेदवादी का कहना है कि अवच्छेदपक्ष भी इसी प्रकार अविद्यावच्छिन्न जीव है, ऐसा स्वीकार हम भी कर सकते हैं। "अविद्याप्रतिबिम्बो जीव." इस पक्ष में ब्राह्मणादि शरीरगत अन्तःकरण से अवच्छिन्न प्रदेश में कर्तृत्व और देवादिशरीरगत अन्तः-करण से अवच्छिन्न प्रदेश में भोक्तृत्व है। इस प्रकार प्रदेश-भेद होने पर भी कृतहानादि दोष का निराकरण करने के लिए अगत्या प्रति-बिम्बवादियों को एकजीववादपक्ष अङ्गीकार करना होगा। अतः इसी न्याय के आधार पर अन्तःकरणोपाधिपक्ष में भी वास्तव में चैतन्य की एकता और चैतन्य की अवच्छेदक उपाधि की एकता को प्रयोजन मानने से कृतहानादि दोषों का निराकरण भी हो सकता है। जैसे पूर्व के

Prof. Amedavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रतिबिम्ब के योग्य स्वच्छ और सूर्य से दूर देश में रहने वाला रूपवान् जल उपलब्ध होता है, वैसे सर्वगत आत्मा के प्रतिबिम्ब के योग्य और आत्मा से दूरदेशवर्ति कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती, इस प्रकार प्रतिबिम्ब का असम्भव कह कर—"वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" अर्थात् जैसे जल में प्रतिबिम्बित सूर्य जल की वृद्धि होने पर बढता-सा है, जल के कम होने पर छोटा सा होता है और जल के चलने पर जलप्रतिबिम्बित सूर्य मानो चलता है, इस प्रकार सूर्य में जल के सम्बन्ध से आध्यासिक वृद्धि और ह्रास आदि की प्रतीति होती है, वैसे ही चिदात्मा के अन्त:करण आदि से अवच्छिन्न होने के कारण उसकी बुद्धि आदि उपाधि में अन्तर्भूत होने से उसमें अन्त:करणप्रयुक्त आध्यासिक वृद्धि और ह्रासादि की प्रतीति होती है।

अवच्छेदपक्ष में श्रुति आदि के विरोध का केवल अभाव ही नहीं है, प्रत्युत् श्रुति और सूत्र का आनुकूल्य भी है—

'घटसंवृत्तमाकाशं नीयमाने यथा घटे।

घटो नीयेर्त नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः॥"

इस श्रुति और "अंशो नानाव्यपदेशात्" इस सूत्र से भी अवच्छेदपक्ष की ही पुष्टि होती है। अत एव प्रतिबिम्बपक्ष में दोष होने से और अवच्छेदपक्ष में किसी प्रकार का दोष न होने से सर्वगत चैतन्य का अन्त:-करणादि उपाधियों से अवच्छेद अवश्य होगा। अन्त:करण से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव मानना सर्वथा उचित है॥

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२०. प्रतिबिम्बवाद

'अद्वैत-शांकरवेदान्तमतानुयायी विद्वानों में अधिकतर विद्वान् प्रतिबिम्बवाद को ही स्वीकार करते है। इस मत में अन्तःकरण या अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब का नाम जीव है और माया में चैतन्य के प्रतिबिम्ब का नाम ईश्वर है। "जीवेशावाभासेन करोति" "आभास एव च" "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।" अर्थात् सूर्य की प्रतिबिम्ब की भाँति, जीव चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही है। जैसे एक सूर्य के प्रतिबिम्ब के काँपने पर अन्य प्रतिबिम्ब नहीं कांपते, वैसे ही एक जीव का कर्मफल के साथ सम्बन्ध होने पर दूसरे जीव का सम्बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार जीवों का सकर भी नहीं है। अतः एक ही ब्रह्म समस्त जीवों में स्थित है। जल में चन्द्र प्रतिबिम्ब की तरह समस्त जीवों के अन्तःकरण में उस का प्रतिबिम्ब है, वही जीवात्मा है।

प्रतिबिम्बवाद में शंका होती है कि संसार में देखा जाता है कि आकारवान् वस्तु का ही आकारवान् वस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ता है, जैसे आकारवान् दर्पणादि में आकारवान् मुखादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है। नीरूपवस्तु का नीरूपवस्तु में प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता। आत्मा नीरूप हैं, अतः नीरूप अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता।

इसके उत्तर में प्रतिबिम्बवादी का कहना है कि नीरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वस्तु के अस्तित्व में केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण नहीं है, प्रमाणान्तर से भी सिद्ध हो सकता है। जैसे नीरूप द्रव्य के अस्तित्त्व का श्रुत्यादि प्रमाणों से स्वीकार किया जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि अनेक नीरूप द्रव्यों का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, जैसे शब्द नीरूप है, परन्तु शब्द का प्रतिबिम्ब होता है। रूपवान् वस्तु का प्रतिरूप जैसे प्रतिबिम्ब है, वैसे ही ध्वनि का प्रतिरूप प्रतिध्वनि भी ध्वति का प्रतिबिम्ब है, ध्वनि बिम्ब है प्रतिध्वनि प्रतिबिम्ब है। रूपादि का प्रतिबिम्ब दृश्य होने के कारण,

Prof. Amodvardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है, उसी प्रकार शब्द का प्रतिबिम्ब श्रोतव्य होने के कारण श्रावण प्रत्यक्ष का विषय है। अतः यह सिद्ध हुआ कि नीरूप द्रव्य का भी प्रतिबिम्ब होता है। अतः नीरूप शब्द और आकाश के प्रतिबिम्ब की तरह नीरूप आत्मा का भी प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ सकता है। इस में कोई सन्देह नही है। प्रतिबिम्ब के विषय में यह शंका और होती है कि आत्मा जब सर्वव्यापक है, तो अन्तकरण में भी आत्मा पहले से ही विद्यमान है, अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि जिसमें जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ेगा, उन दोनों के बीच में अन्तराल न होने से प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि यह कोई आवश्यंभावी नियम नहीं है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब के मध्य में अन्तराल होना चाहिये, क्योंकि इस नियम का व्यभिचार देखा जाता है—आकाश सर्वव्यापक वस्तु है, अतः जल में आकाश का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार नीरूप व्यापक आकाश का प्रतिबिम्ब जल में पड़ सकता है, उसी प्रकार नीरूप व्यापक आत्मा का भी प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ सकता है। अतः प्रतिबिम्बवाद ग्राह्य है।

अवच्छिन्नवाद में तो निम्न प्रकार से दोषों का निराकरण नहीं किया जा सकता है:—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव माने तो कृतहान और अकृताभ्यागम दोष की प्रसक्ति होगी, क्योंकि ब्राह्मणादि शरीरों में रहने वाले अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य-प्रदेश ही इस लोक के कर्मों का कर्ता है, और अन्य लोक में देवादिगत अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य-प्रदेश, जो कि किसी कर्म का कर्ता नहीं है, भोक्ता होगा। इसलिये उनका भोग पूर्वोपार्जित कर्म का फल नहीं हो सकता है, अतः कृत कर्म का हान स्पष्ट होगा। और देवादि शरीर के अन्तःकरण से युक्त चैतन्य किसी कर्म का कर्ता नहीं है तो भी फल का भोक्ता है, और मनुष्य आदि शरीरगत अन्तःकरण से युक्त चैतन्य कर्म का कर्ता है, तो भी फल का भोक्ता नहीं हो सकता। दोनों ये दोष अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य के जीव मानने में होंगे।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अतः अवच्छिन्नवाद दोष से मुक्त नहीं है। पञ्चदशीकार ने भी प्रतिबिम्बवाद को ही स्वीकार किया है। चित्रदीप-प्रकरण में उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है:--

"कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥"[२]

प्रतिबिम्बवाद का समर्थन "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इत्यादि श्रुति तथा "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" इत्यादि स्मृति एवं "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" इत्यादि सूत्ररूप प्रमाणों से होता है। प्रतिबिम्बवाद के आगम प्रमाण द्वारा सिद्ध होने से "नीरूप का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता" इत्यादि प्रत्यक्षादि-विरोध बाधित हो जाते हैं, कारण कि श्रुत्यादिरूप आगम-प्रमाण सब से प्रबल प्रमाण माना जाता है। आकाशादि दृष्टान्त का तात्पर्य तो केवल ब्रह्म की असंगता मात्र के बोधन में है, प्रतिबिम्बवाद का खण्डन करके अवच्छेदवाद का समर्थन करने में नहीं है। स्वामी विद्यारण्य तथा पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्म-यति आदि आचार्यों ने प्रतिबिम्बवाद को ही स्वीकार किया है।

---

२१. चेतना (ज्ञान)

शांकर-वेदान्त में ज्ञान के दो भेद हैं-- एक वृत्तिज्ञान और दूसरा स्वरूपज्ञान। वृत्तिज्ञान की उत्पत्ति होती है और विनाश भी। वृत्तिज्ञान की उत्पत्ति अन्तःकरण, इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से होती है। इस वृत्तिज्ञान का विरोधी प्रत्ययों से बाध भी हो जाता है। इस सम्बन्धत्रय

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

से जन्य ज्ञान को अपरोक्षज्ञान कहते हैं। परोक्षज्ञान अनुमान, शब्दादि से उत्पन्न होता है. परोक्षस्थल में इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं होती। स्वरूपज्ञान चैतन्य का नाम है। आत्मा से भिन्न स्वरूप-ज्ञान नहीं होता। इसी का दूसरा नाम दृक्शक्ति है।

माहेश्वरमत में चैतन्य का दो भेद माना गया है—एक दृक्शक्ति और दूसरी क्रिया-शक्ति। यह भी ज्ञातव्य है कि विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से सहकृत जो मन है, वही प्रत्यक्षज्ञान का कारण है। प्रत्यक्षज्ञान में मन, विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध के अधीन रहता है। विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर यह सम्बन्ध ही, इन्द्रियों से स्पृष्ट जो मन है, उससे संयुक्त आत्मा में किसी गुण-विशेष को उत्पन्न करता है, इसी गुणविशेष का नाम 'ज्ञान' है। नैयायिक और वैशेषिक के मत में ज्ञान निराकार और अनित्य है। केवल ईश्वर का ज्ञान नित्य है। रामानुजाचार्य के मत में जीव का भी ज्ञान नित्य माना गया है। विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से केवल घटज्ञान, पटज्ञानादि विशेष अवस्थाओं के रूप से प्रकाशित होते हैं और शेष सब विषयों में नैयायिकों का सिद्धान्त इनको मान्य है। नाकुलीश पाशुपत दर्शन में चित्त नाम का जो जीव का विशेष गुण है, वही बोधरूप होने के कारण विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध होने पर दीपक की तरह घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है।

वैभाषिक बौद्ध के मत में घटादि पदार्थों के दो रूप होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। इन के मत में बाह्य पदार्थ लौकिक कार्य का सम्पादन करता है और आन्तरिक पदार्थ, जब इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है, तब इन्द्रियों के द्वारा, इन्द्रियों से सम्बद्ध मन में प्रवेश करता है। इनके मत में इसी का नाम 'ज्ञान' है। विषय-स्वरूप का मन में आना ही ज्ञान कहा जाता है। विज्ञानवादी बौद्ध के मत में बाह्यार्थ कुछ भी नहीं है। विज्ञान स्कन्ध ही पूर्व संस्कार से घट-पटादि विषयों के आकार में परिणत होता रहता है और वही बाह्यरूप से प्रतीत होता है। इनके मत में ज्ञान साकार है और क्षणिक होने से अनित्य भी माना

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाता है। माध्वाचार्य के मत में मन के परिणाम-विशेष को ही 'ज्ञान' माना गया है। पातञ्जल मत में मन को विभु माना गया है। उसी व्यापक मन का जो हृदयदेश में प्रवेश है, उसी की विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से परिणति होती है, उसी परिणति का नाम मनोवृत्ति है और उसी मनोवृत्ति का आत्मा में प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह प्रतिबिम्ब भी व्यापक आत्मा के हृदय-देश में पड़ता है। उसी मनोवृत्ति के प्रतिबिम्ब से युक्त जो आत्म-चैतन्य है, वही इनके मत में ज्ञान है।

सांख्यों के मत में विषय से सम्बद्ध जो मनःप्रदेश है, उसी का परिणाम होता है और विषय सम्बद्ध जो आत्म-प्रदेश है, वहीं प्रतिबिम्ब होता है। इतना ही पातञ्जल मत से इन के मत में भेद है। सांख्य के एकदेशी मत में मन को अणु माना गया है। इनके मतानुसार इन्द्रियों के द्वारा मन का विषय-प्रदेश में गमन होता है और वहीं परिणाम भी होता है।

शांकर-वेदान्त में भी मन को अणु माना गया है। इसलिए, इन्द्रिय द्वारा विषयदेश में मन का गमन और वहीं विषयाकार से मन का परिणाम, ये दोनों उक्त साँख्य मत के तुल्य ही है। परिणाम को ही वृत्ति कहते हैं और उस वृत्ति से सम्बद्ध आत्म चैतन्य ही शांकर मत में 'ज्ञान' है। मूर्त्त और अमूर्त्त निखिल जगद्व्यापक जो आत्मा है, उसकी व्याप्ति जिस प्रकार विषय, हृदय और मन में है, उसी प्रकार मनोवृत्ति में भी उसकी व्याप्ति रहती है। आत्मा का ही नाम चैतन्य है। इनके मत में ज्ञान को साकार और अनित्य माना जाता है। यद्यपि शांकर मत में चैतन्य नित्य है, तथापि वृत्ति से सम्बद्ध चैतन्य को औपाधिक होने के कारण अनित्य कहा गया है।

o——o

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२२. अन्तःकरण

अन्तःकरण का अर्थ है–अन्दर की इन्द्रिय (ज्ञान का साधन)। अन्तः-करण की उत्पत्ति मिले हुए अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के सत्वांश से होती है। अन्तःकरण के वृत्ति के भेद अर्थात् कार्य के भेद से चार भेद होते हैं। वही अन्तःकरण जब संकल्प-विकल्प (संशय) करता है, तब उसका नाम मन पड़ता है और जब चिन्तन करता है, तब वह चित्त के नाम से कहा जाता है। जब निश्चय करता है, तब वह बुद्धि कहलाता है और वही अन्तःकरण जब अहंभाव को प्राप्त होता है, तब अहंकार के नाम से जाना जाता है।

मन को सभी इन्द्रियों का प्रेरक माना गया है। वह पांच ज्ञानेन्द्रियों एव पाँच कर्मेन्द्रियों को प्राण के द्वारा मन प्रेरित करता है। न्याय और वैशेषिक के मत में मन को भौतिक नहीं माना गया है। इन के मत में मन स्वतन्त्र द्रव्य है। सांख्य और पातञ्जल के मत में राजस अहंकार से सहकृत सात्विक अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है। शांकरवेदान्त में महाभूतों के सात्विक अंश से मन की उत्पत्ति होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि यद्यपि मन में सब भूतों का अंश है; तथापि वायु का अंश अधिक होने के कारण मन की गति सबसे अधिक है।

मन का परिमाण

नैयायिक मनको अणु-परिमाण मानते हैं। सांख्य और पातञ्जल के मत में मन को विभु माना गया है। मीमांसकों ने भी मन को विभु ही स्वीकार किया है। जो मन को अणु-परिमाण मानते हैं, उनके मत में मन का एक काल में अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए अनेक विषयों का एक काल में ज्ञान भी नहीं होता। एक काल में जो अनेक विषयों का ज्ञान होता है, वह भ्रम है। अत्यन्त सूक्ष्मकाल होने के कारण कालान्तर का भान नहीं होता; इस लिए एक ही काल प्रतीत होता है। जो मन को विभु मानते हैं, उनके मत में एक काल में

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनेक ज्ञान होना सम्भव है। क्योंकि मन के व्यापक होने के कारण एक काल में भी अनेक इन्द्रियों के साथ इस का सम्बन्ध होना संभव है। पाशुपत दर्शन में अन्तःकरण के तीन ही भेद माने गये हैं— मन, बुद्धि और अहंकार। इन तीन प्रकार के अन्तःकरण की वृत्तियाँ भी तीन ही प्रकार की हैं— संकल्प, अध्यवसाय (निश्चय) और गर्व (अहंकार)। इन के मत में चित्त, मन की अवस्था-विशेष का नाम नहीं है। किन्तु जीव का बोध-स्वरूप जो गुण है, वही चित्त है।

मन (अन्तःकरण) प्रमेय-पदार्थों पर अपना प्रकाश डालता है तथा उन पदार्थों को प्रतिविम्बित करता है, अर्थात् जब अन्तःकरण इन्द्रियों के द्वारा विषय-देश में जाता है तब विषयवाच्छिन्न चैतन्य का उस विषय की ओर उन्मुख (विषयाकार) अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिविम्ब पड़ता है, उसी प्रतिविम्ब को फल-चैतन्य भी कहते हैं। वह प्रतिविम्ब विषयावाच्छिन्न चैतन्य-निष्ठ अविद्या के आवरण-अंश का भंग (नाश) करता है, तब विषय का प्रकाश होता है। इसी प्रक्रिया के अनुसार कहा जाता है कि आवरण के अभिभव करने में वृत्ति का उपयोग है। विषय के प्रकाशक विषयाकार को प्राप्त अन्तःकरण का नाम वृत्ति है। उक्त अन्तःकरण जब संशय की स्थिति में होता है, तब उसको मन कहते हैं। जब निश्चयात्मक स्थिति में होता है, तब उसे बुद्धि की संज्ञा दी जाती है। जब वह गर्व अर्थात् आत्म-चैतन्य की स्थिति में होता है तब उसको अहंकार कहते हैं। जब वह अन्तःकरण एकाग्रता और स्मरण की स्थिति में होता है, तब उसको चित्त के नाम से कहा जाता है।

आचार्य शंकर मन तथा बुद्धि में भेद मानते हैं——मन का कार्य संशय तथा बुद्धि का क्षेत्र निर्णय करने में है। मन में संकल्प-विकल्पादि मनोभाव आते हैं। बुद्धि उच्च श्रेणी की शक्ति है, जिसके द्वारा विचार, निर्णय, तर्क आदि संभव हो सकते हैं। वेदान्त-परिभाषाकार ने चारों को स्वीकार किया है। वेदान्तसार का और वेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहकार उक्त विभागों में मन तथा चित्त को एवं बुद्धि को अहंकार के साथ एक समांश मान कर सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति

Prof. Amodavardhana Kaundinhyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में भिन्न-भिन्न है, इसलिए एक मनुष्य का ज्ञान सभी मनुष्यों को नहीं होता, क्योंकि अन्तःकरण एक मर्यादित वस्तु-तत्व है। विविध प्रकार की परिधियों के अन्दर ही कार्य करता है। अन्तकरण का स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के भूतकाल के आचरण के आधार पर होता है। जीव विषयों का ज्ञान नहीं कर सकता, विना अन्तःकरण की सहायता के। न्यायमत में आत्मा, मन, इन्द्रिय एवं, विषय—इन का जब परस्पर सम्बन्ध होता है, तब विषय का प्रत्यक्ष होता है। शांकर मत में अन्तकरण इन्द्रिय द्वारा विषय-देश में जब जाता है, तब आवरणाभिभवादि के द्वारा घटादि बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु परोक्ष-स्थल में अन्तःकरण का बहिर्निर्गमन नहीं होता।

---

२३. इन्द्रियाँ

शांकरवेदान्त में इन्द्रियों की संख्या दश है। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियाँ। यद्यपि मन भी घटादिकों के ज्ञान का साधन है, तथापि मन के इन्द्रियत्व का वेदान्तपरिभाषादि ग्रन्थों में बड़े ऊहापोह के द्वारा निराकरण किया गया है। पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं—श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसन और घ्राण। पांच कर्मेन्द्रियां हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ।

इन्द्रियों की भौतिकता—

नैयायिक और वैशेषिक इन दोनों के मत में इन्द्रियों को भौतिक माना गया हैं। इनका कहना है कि यदि इन्द्रियों को भौतिक न माना जाय, तो विषयों के ग्रहण का जो प्रतिनियम है, वह सम्भव न हो

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सकेगा । अर्थात् इन्द्रियाँ उन-उन भूतों के विशेष गुणों के ग्रहण में समर्थ होती हैं । जैसे आकाश का गुण शब्द है, उसी का श्रोत्रेन्द्रिय ग्रहण करती है । शब्द से भिन्न अन्य किसी भी विषय का ग्रहण श्रोत्र नहीं करता । अतः यह सिद्ध होता है कि श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का कार्य है । इसी प्रकार त्वक्, नेत्र, रसन और घ्राण आदि इन्द्रियाँ क्रमशः स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धादि विषयों का ही ग्रहण करती हैं, अन्य का नहीं । अतः त्वगादि इन्द्रियाँ वायु-आदि भूतों के कार्य हैं । इनके मत में यह ज्ञातव्य है कि चारों भूतों के सात्त्विक परमाणुओं से चारों इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है । आकाश तो स्वभावतः सात्त्विक है । अतः उसमें सात्त्विक, राजस तथा तामस परमाणुओं की कल्पना संभव नहीं ।

सांख्य और पातञ्जल के मत में इन्द्रियों को भौतिक नहीं माना गया है । इनके मत में इन्द्रियों को सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण आहङ्कारिक माना जाता है । आकाशादि पञ्चभूतों के कारण जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पंच तन्मात्र हैं, उन्हीं की सहायता से सात्त्विक अहङ्कार इन्द्रियों को उत्पन्न करता है । इसीलिए इन्द्रियों के विशेष विषयों के ग्रहण करने का जो नियम है, वह व्यभिचरित नहीं होता । जैसे शब्दतन्मात्रा की सहायता से सात्त्विक अहङ्कार श्रोत्रेन्द्रिय को उत्पन्न करता है, इसीलिए श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का ही ग्रहण करती है, रूपादि का नहीं । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को भी समझना चाहिये । कुछ विद्वान् इन्द्रियों की उत्पत्ति में तन्मात्राओं की सहायता नहीं मानते । इनका कहना है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति के बाद भूततन्मात्र इनके पोषक होते हैं और नियमतः पोषक तन्मात्राओं के अनुसार ही विषयों का ग्रहण होता है ।

उक्त प्रकार से किसी के मत में इन्द्रियों को भौतिक माना जाता है और किसी के मत में आहङ्कारिक । परन्तु आचार्य शंकर का किसी भी मत में आग्रह नहीं प्रतीत होता अर्थात् दोनों में किसी भी पक्ष को मानें, उनकी दृष्टि में कुछ विरोध नहीं है । इसीलिए 'अन्तरा विज्ञान-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्' इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—'यदि तावद् भौतिकानीन्द्रियाणि ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्तिप्रलयौ भवतः' अर्थात् यदि इन्द्रियों को भौतिक मानें, तो भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के साथ ही इन्द्रियों की उत्पत्ति और प्रलय होता है, यह मानना होगा। इस प्रकार आचार्य ने उत्पत्ति और प्रलय दिखाकर, अथत्वभौतिकानीन्द्रियाणि' इत्यादि ग्रन्थ से इन्द्रियों के अभौतिकत्व अर्थात् आहङ्कारिकत्वसाधन में विरोध का परिहार किया है। इस प्रकार दोनों पक्षों का समर्थन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी एक पक्ष विशेष में आचार्य शंकर का पक्षपात नहीं है। आचार्य के परवर्ती विद्यारण्यमुनि ने इन्द्रियों को भौतिक माना है—'सत्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्' (पं० त० प्र०) इत्यादि श्लोको में भूतों के सत्त्व-अश से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया है। परन्तु ज्ञातव्य है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के सत्वांश से होती है और पांच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतों के रजोंऽश से होती है।

इन्द्रियों का परिमाण—

इन्द्रियों के परिमाण के विषय में भी दार्शनिकों का मतभेद है। कुछ तो अणुपरिमाण मानते हैं और कुछ विभु। सांख्य और पातञ्जल के मत में इन्द्रियों का परिमाण विभु माना गया है। इन्द्रियों में किसी इन्द्रिय का भी किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता है, अनुमान से ही इन्द्रियों का ज्ञान होता है। इसलिए इन्द्रियों को अतीन्द्रिय कहा जाता है। क्योंकि इन्द्रियों की उत्पत्ति अपञ्चीकृतभूतों से होती है।

"कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात्।
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद् बहिर्मुखम् ॥"

अर्थात् कर्णादि-गोलकों में स्थित होकर ही इन्द्रियां शब्दादि विषयों को ग्रहण करती हैं। अपञ्चीकृतभूतों से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इनका अनुमान कार्य के द्वारा ही होता है और ये बाह्यविषयों को ग्रहण करती हैं। परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय और

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चक्षुरिन्द्रिय, ये दोनों विषय-देश में जाकर विषय ग्रहण करती हैं। शेष रसना, घ्राण और त्वगादि इन्द्रियां अपने गोलक में स्थित होकर ही विषय का ग्रहण करती हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानशक्तिप्रधान हैं और पांच कर्मेन्द्रियां क्रियाशक्तिप्रधान हैं। न्यायमत में सभी इन्द्रियाँ अपने गोलक में रहकर ही अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। वीचितरंगन्याय से शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के पास आता है। इनके मत में श्रोत्रेन्द्रिय शब्द-देश में नहीं जाता ॥

२४. जगत्

शांकर-वेदान्त में चेतन और जड़ दो वर्ग माने गये हैं। चेतन की सत्ता पारमार्थिक है और वही अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म है। जड़-वर्ग का ही नाम जगत् है और उसकी व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्ता है। "गच्छति विपरिणम्यते प्रतिक्षणमिति जगत्" इस विग्रह के अनुसार गत्यर्थक गम् धातु से कर्ता में क्विप् प्रत्यय होने से जगत् शब्द की निष्पत्ति होती है[1]। अर्थात् जो प्रतिक्षण परिणमित होता रहे उसका नाम जगत् है।

टिप्पणी— १·'द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च' ३।२।१३८ इस वार्तिक से क्विप् प्रत्यय तथा द्वित्व हुआ। गमः क्वौ ६।४।४० इस सूत्र से मकार का लोप और तुक् का आगम हुआ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जगत् की उत्पत्ति

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रक्रियाएं हैं। वेदान्त के अनुसार–"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद् वायुर्वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" इस श्रुति के अनुसार तमः प्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्रारूप आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इस अपञ्चीकृत सूक्ष्म भूतों से सत्रह अवयव वाले (पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण और मन, बुद्धि) सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति हुई और पञ्चीकृत पञ्चभूतों से स्थूल शरीर पृथिवी आदि एवं ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई।

जगत् का स्वरूप

जिस प्रकार इन्द्रजालिक अपनी माया शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होता है, वही दशा ईश्वर की भी है। जादू उन्हीं लोगों को व्यामोह में डाल सकता है, जो उस इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानते हैं। परन्तु उसके रहस्य- वेत्ता पुरुष के लिए वह इन्द्रजाल व्यामोह का विषय नहीं होता। ठीक इसी प्रकार यह जगत् अद्वैत-सत्ता के अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए ही अपनी सत्ता बनाए रहता है, परन्तु अद्वैततत्त्व के वेत्ताओं के लिए उसकी सत्ता निराधार तथा निर्मूल है।

इस विषय में एक विशेष समस्या का हल करना नितान्त आवश्यक है। वह समस्या यह है कि जगत् सत्य है या असत्य ? 'जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त की सर्वसाधारण में यह धारणा फैली हुई है कि अद्वैत मतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। नित्य परिवर्तनशील या परिणामी स्वभाववाला ही यह जगत् है। परिणाम-प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है अर्थात् जगत् का व्यभिचारी धर्म है। एक क्षण के लिए भी जगत् प्रवृत्तिशून्य नहीं रहता। सत्य की जो परिभाषा शंकराचार्य ने की है, उस के अनुसार जगत् सत्य नहीं माना जा सकता। आचार्य के शब्दों में 'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्यम्' अर्थात् जिसरूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सन्तत समभाव से विद्यमान रहे, तो उसे सत्य कहते हैं। इस प्रतिक्षण परिणामी, सतत चंचल, नियत परिवर्तनशील संसार की कोई भी वस्तु इस परिभाषा के अनुसार सत्य कोटि में नहीं आ सकती। तो क्या जगत् नितान्त असत्य है। इस प्रश्न का उत्तर विज्ञानवादियों का मत खण्डन करते हुए आचार्य ने स्वयं दिया है। विज्ञानवादियों का मत है कि इन्द्रियार्थ-प्रतीति का मूल इन्द्रियार्थ तथा इन्द्रिय सन्निकर्ष सब आदि बुद्धि में है जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्याभूत हैं। जिस प्रकार स्वप्न, माया-मरीचिका आदि प्रत्यय बाह्यार्थ के विना ही ग्राह्य-ग्राहक-आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भादि पदार्थ भी बाह्यार्थ शून्य हैं। परन्तु आचार्य का कहना है कि बाह्यार्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप से हमें हो रही है। प्रतिक्षण अनुभूयमान पदार्थों की सत्ता उनके बोध के बाहर न मानना, उसी प्रकार उपहासास्पद है, जिस प्रकार स्वादुभोजन कर तृप्त होने वाला पुरुष जो न तो अपनी तृप्ति को ही माने, न भोजन करने की बात स्वीकार करे। बौद्धों का यह कथन कि बाह्यपदार्थ बाहर के समान प्रतीत होता है, बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध कर रहा है। जगत् स्वप्नवत् अलीक है, इस मत का खण्डन भाष्य में आचार्य ने नितान्त स्पष्ट शब्दों में किया है। उनका कहना है कि स्वप्न और जागरित अवस्था में स्वरूप मतभेद है। स्वप्न दशा का बाध होता है, परन्तु जागरित दशा का कभी भी बाध नहीं होता। स्वप्न में देखे गये पदार्थो का जागने पर अनुपलब्धि होने से बाधित होना प्रत्यक्ष-सिद्ध है। परन्तु जाग्रत् अवस्था में अनुभूत स्तम्भादि पदार्थों का किसी भी दशा में बाध होना नहीं देखा गया है। एक और भी महान् अन्तर है--स्वप्नज्ञान स्मृतिमात्र है परन्तु जागरित ज्ञान उपलब्धि है—अर्थात् साक्षात् अनुभवरूप है। अत: दोनों की भिन्नता स्पष्ट है। इस प्रकार जागरित पदार्थो के अबाधित स्पष्ट प्रतिपादित होने पर भी जगत् को असत्य कहना कहाँ तक यथार्थ है ? व्यवहार दशा में इस का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। परन्तु ब्रह्म-

Prof. Amedavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्मा के ऐक्य-ज्ञान होने पर ज्ञानी पुरुषों के लिए यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मात्मानुभव के द्वारा बाधित होता है। अतः उस जीवन्मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् की बाधितानुवृत्ति रहती है। परन्तु व्यवहार दशा में यह जगत् कथमपि असत्य नहीं हो सकता। अतः जगत् की पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता मान्य है। ब्रह्म से भिन्न नानात्मक जगत् मिथ्या है।

अद्वैतवेदान्त में तीन सत्ता मानी जाती हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। जगत् के पदार्थों में पांच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं—

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥"

अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो जगत् के। सांसारिक पदार्थों का कोई न कोई नाम तथा रूप होता है। इस नामरूपात्मक जगत् की सत्ता व्यवहार के लिए मानना नितान्त आवश्यक है। परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर जागतिक विषय अनुभव बाधित हो जाता है। अतः सर्वथा जगत् सत्य नहीं है, व्यवहार-काल में ही सत्य होने के कारण जगत् के निरात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है। इस समस्त जगत् के पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्यपदार्थ है, जो त्रिकाल में अबाध्य होने से ऐकान्तिक सत्य है, वही ब्रह्म है। अतः ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है। जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं, तभी वह असत्य प्रतीत होता है। इसलिए व्यवहारदशा में हमारी इन्द्रियों के लिए जगत् अवश्य सत्य है। परन्तु वास्तविक दृष्टि से जगत् सत्य नहीं है। उक्त तीनों (पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों) से भिन्न भी कतिपय पदार्थ हैं, जैसे बन्ध्यापुत्र, आकाशपुष्प, शशशृंग आदि। ये निराधार-निराश्रय पदार्थ 'तुच्छ' या 'अलीक' कहे जाते हैं। क्यों कि इनमें किसी प्रकार की सत्ता उपलब्ध नहीं होती। यही बात माण्डूक्यकारिका में कही गई है—

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"असतो मायया जन्म तत्वतो नैव युज्यते।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥"

शांकर-वेदान्त में जगत् को अनिर्वचनीय माना गया है। अनिर्वचनीय का अर्थ है—सत् और असत् से विलक्षण। यदि जगत् को सत् कहा जाय तो ब्रह्म ज्ञान से जगत् का बाध नहीं होना चाहिये, परन्तु ब्रह्मज्ञान से जगत् का बाँध होता है ऐसा शांकर-वेदान्त का मत है। (बाध का अर्थ है—जगत् में मिथ्यात्व का निश्चय, न कि जगत् का सर्वथा अभाव) अतः त्रिकालावाध्य रूप सत् जगत् नहीं है। जगत् को असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि सर्वथा असत् पदार्थों की प्रतीति नहीं होती, जैसे शशशृंग बन्ध्यापुत्र, गगनपुष्प आदि। जगत् के पदार्थों की प्रतीति होती है, व्यवहार दशा में। अतः-जगत् सर्वथा असत् नही है। किन्तु सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय जगत् है।

—

२५. दृष्टिसृष्टिवाद

अनेकपुण्यकर्मों के अनुष्ठान से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, ऐसे शुद्धसत्वपुरुष स्वप्नप्रपञ्च से जाग्रत्प्रपञ्च से कुछ भी विलक्षणता नहीं देखते हैं, उन ब्रह्मविद्याभिलाषियों को लक्ष्य करके स्वप्न और जाग्रत् अवस्था में समस्त संसार की उत्पत्ति और लय का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का अनुसरण करके दृष्टिसृष्टिवाद का पूर्वाचार्यों ने निरूपण किया है। इसी वादका अवलम्बन करके जाग्रत् पदार्थों में भी [illegible] अनुभव को भ्रान्त कहा गया है।

Prof. Anupdavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"दृष्टिसृष्टिविदस्त्वाहुर्गति जाग्रद्धियोऽप्यमूम् ।
अर्थसृष्टेः पुरार्थेषु सन्निकर्षाद्यसम्भवात् ॥"

दृष्टिसृष्टिवादियों का कहना है कि जो पदार्थ कल्पित हैं, उनकी अज्ञात सत्ता हो ही नहीं सकती। अतः सम्पूर्ण जाग्रत्प्रपञ्च की दृष्टि समकालीन सृष्टि मानकर घटादिदृष्टि में चक्षु के सन्निकर्ष का अनुविधान प्रत्यय-दृष्टि से पूर्व घटादि का अभाव होने से नहीं हो सकता है। अतः स्वप्न के समान जाग्रत्कालीन घटादि का अनुभव भी चाक्षुष नहीं है।

अत्र शंका होती है कि यदि दृष्टि-सृष्टिवाद का अवलम्बन कर के सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पित माना जाय, तो उसकी कल्पना करने वाला कौन है ? अविद्यारूप उपाधि से रहित आत्मा है अथवा अविद्यारूप उपाधि से उपहित आत्मा है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षावस्था में भी अन्य साधनों की अपेक्षा न करने वाले निरुपाधिक कल्पक आत्मा की अवस्थिति होने के कारण प्रपञ्च की अनुवृत्ति होगी और इससे मोक्ष और संसार में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। अविद्या से उपहित आत्मा संसार का कल्पक है, यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्या भी कल्पित ही है, इससे उस अविद्या की कल्पना से पहले ही कल्पक अविद्योपहित आत्मा का अस्तित्व मानना होगा, परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, अतः अविद्या की सृष्टि हो ही नहीं सकेगी।

इस आक्षेप के उत्तर में दृष्टिसृष्टिवादी का कहना है कि पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्या से उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर अविद्या का कल्पक है। यह अविद्या प्रथम कल्पित है, यह सिद्ध न होगा। इससे कल्पक और कल्पना के प्रवाह में अनवस्था दोष नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च कल्पक स्वरूप से श्रुतिसिद्ध अविद्योपहित आत्मा पूर्व-पूर्व अविद्या के बिना प्रपञ्च का कल्पक ही नहीं हो सकता।

यदि शंका हो कि अविद्या का अनादिरूप से स्वीकार किया गया है, इसलिए शुक्ति-रजत के समान उसको कल्पित नहीं मान सकते हैं। यदि [illegible] कल्पित मानेंगे तो सादि और अनादि का जो विभाग किया

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गया है, वह असंगत होगा। इस आक्षेप के उत्तर में दृष्टिसृष्टिवादी का कथन है कि जैसे स्वप्न में कल्प्यमान किसी गोपुर-आदि की पूर्वसिद्ध रूप से कल्पना की जाती है, और किसी की उसी काल में उत्पद्यमानरूप से कल्पना की जाती है, वैसे ही जागरित अवस्था में भी किसी अविद्यादि पदार्थ की अनादि रूप से कल्पना की जाती है। इस कल्पना से सादि और अनादि पदार्थों के विभाग की उपपत्ति हो सकती है।

सादि-अनादि-विभाग की उपपत्ति क कथन से कार्यकारणभाव की भी उपपत्ति हुई समझनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष के प्रति घटादि विषय जो कारण हैं, उनको घटादि-प्रत्यक्ष से पूर्व अज्ञात ही मानना पड़ेगा, अन्यथा कार्यकारणभाव का विघात होगा, इसी प्रकार अविद्या से उपहित एक चिदात्मा ही यदि अपने में संसार की कल्पना करता है, तो संसारी जीव के एक होने से गुरुशिष्य-विभाग और देव तिर्यगादि-विभाग अनुपपन्न होगा, ऐसी शंका उपस्थित होने पर उत्तर में कहा जाता है कि सादि-अनादि-विभाग के युक्तिसिद्धत्व का प्रतिपादन करने से यह प्रतीत होता है कि वस्तुतः प्रत्यक्ष के प्रति विषय के कारण न होने पर भी उसकी कारणरूप से कल्पना की गई है।

कुछ आचार्यों का कहना है कि अविद्यादि ६ पदार्थ वस्तुतः अनादि ही हैं। उनमें दृष्टिसृष्टि नहीं माना जाता है। किन्तु अविद्यादि षट् पदार्थ से भिन्न सम्पूर्ण कार्य प्रपञ्च में दृष्टिसृष्टि मानना चाहिए, अतः उक्त दोष की प्राप्ति नहीं है।

यदि शंका हो कि "दृष्टिसमये एव प्रपञ्चसृष्टिः" अर्थात् दृष्टिकाल में भी प्रपञ्च की सृष्टि है। दृष्टिशब्द से प्रत्यक्ष प्रतीति ही विवक्षित है, परोक्ष प्रतीति विवक्षित नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रतीति ही विषयाभिन्न होने से प्रातिभासिक पदार्थ की साधक हो सकती है। इस परिस्थिति में वियदादि पदार्थ प्रातिभासिक सिद्ध न होगें, क्योंकि वे केवल श्रुतिमात्र गम्य हैं। यदि आकाशादि प्रपञ्च श्रुति और प्रत्यक्ष दोनों से प्रतीत होते, तो प्रत्यक्ष के विषय होने से घटादि के समान वे आकाशादि पदार्थ भी प्रातिभासिक सिद्ध होते, परन्तु वैसा है नहीं। अतः आकाशादि जो केवल श्रुति से सिद्ध है, तो उन आकाशादि का कल्पक कौन है? उक्त

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शंका के उत्तर में कहना है कि वस्तुतः उन आकाशादिकों का कोई कल्पक नहीं है। यदि शंका हो कि "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुति निरालम्ब होंगी। इसके उत्तर में दृष्टिसृष्टिवादी का कहना है कि निरालम्ब नहीं होंगी, क्योंकि पूर्वपक्षी को यह ज्ञात होना चाहिए कि उन श्रुतियों का आलम्बन प्रपञ्चशून्य ब्रह्म और जीव का ऐक्य है। अतः उसके प्रामाण्य के विषय में अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

अध्यारोप और अपवाद से, प्रपञ्च-शून्य ब्रह्म की अवगति होती है। इसलिए समस्त प्रपञ्च से शून्य ब्रह्म की अवगति के उपायरूप से श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का कथन किया गया है। वस्तुतः सृष्टि आदि का प्रतिपादन श्रुतियों का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं है। इस प्रकार भाष्यादिनिबन्धों में प्रतिपादन किया गया है। यदि वियदादि सर्ग और उसके क्रम के प्रतिपादन में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है, तो वियत्पाद और प्राणपाद में परस्पर-विरोध के परिहार में जिस प्रयत्न का अवलम्बन सूत्रकार और भाष्यकार प्रभृति ने किया है, वह व्यर्थ होगा। इसके उत्तर में कहना है कि व्यर्थ नहीं होगा, क्योंकि न्यायों की व्युत्पत्ति के लिए कथंचित् तात्पर्य का अंगीकार करके वियत्पाद और प्राणपाद में यत्न किया गया है। शास्त्रदर्पण में कल्पतरुकार अमलानन्द ने कहा है—

"श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम्।
ब्रह्मात्मैक्यपरात्वात्तु तासां तन्नैव विद्यते॥"

"स इमाँल्लोकानसृजत" इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का स्वार्थ में तात्पर्य मानकर ही वियत्पाद और प्राणपाद में विरोध का समाधान किया गया है, क्योंकि सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य में ही होने से सृष्टिके प्रतिपादन में उनका अभिप्राय नहीं है।

"दृष्टिरेव हि विश्वस्य सृष्टिरित्यपरा विधा।
ज्ञानस्वरूपमेवाहुरित्येतत् स्मृतियानिका॥"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अर्थात् सिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थों में दृष्टिसृष्टिवाद का वर्णन अन्य प्रकार से किया गया है। दृष्टि ही विश्वसृष्टि है, दृश्य पदार्थ को स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप से पृथक् मानने में कोई प्रमाण नहीं है और इस अर्थ की प्रतिपादिका स्मृति भी है—

"ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद् विचक्षणाः ।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥"

अर्थात् विवेकी पुरुष इस प्रत्यक्ष सिद्ध जगत् को ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परन्तु कुछ भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानरूप जगत् को ज्ञानसत्ता से भिन्न देखते हैं।

२६. सृष्टिदृष्टिवाद

दृष्टिसृष्टिवाद में विश्वास न रखनेवाले, कुछ आचार्यगण सृष्टि-दृष्टिवाद को ही स्वीकार करते हैं। श्रुतियोंमें बतलाये गये क्रम के अनुसार परमेश्वर से रचित जगत् अज्ञातसत्ता से युक्त है और उन-उन विषयों में प्रमाणों की प्रवृत्ति होने पर उन-उन विषयों का ज्ञान सिद्ध होता है। सृष्टिदृष्टिवादियों का तात्पर्य है कि तत्तद्विषयों में तत्तत्प्रमाणों की प्रवृत्ति होनेपर आवरण-भंग द्वारा तत्तद्विषयों की दृष्टि (ज्ञान) होता है, अतः दृष्टि ही सृष्टि नहीं है। शंका होती है कि सृष्टिदृष्टिवाद के अनुसार प्रपञ्च कल्पित न माना जाय, तो प्रपञ्च सत्य ही सिद्ध होगा, क्योंकि प्रपञ्च सत्य है, श्रुतिसिद्ध होने से, ब्रह्म के समान, यह अनुमानप्रमाण है। यद्यपि प्रपञ्च स्वरूपतः प्रत्यक्ष से सिद्ध है,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तथापि सृष्टिप्रलय आदि से युक्त होने से श्रुतिस्मृति आदि से हीं सिद्ध है। इसीप्रकार प्रपञ्च सत्य है, अर्थक्रियाकारी होने से, सृष्टिआदि अर्थक्रियाकारी ब्रह्म के समान, यह हेतु स्वरूपासिद्ध भी नहीं है, क्योंकि पृथिवी-जलादि में उक्तहेतु प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है।

इस प्रकार के आक्षेप का उत्तर देते हुए सृष्टिदृष्टिवादियों का कहना है कि यद्यपि शुक्तिरजतादि के समान सम्प्रयोग, संस्कार और अधिष्ठानज्ञान, तथा दोषरूप तीन कारणों से जन्य न होने के कारण वियदादि प्रपञ्च कल्पनासमकालीन नहीं है, तथापि केवलज्ञांन से निवर्त्यत्वरूप, सदसद्विलक्षणत्वरूप अथवा प्रतिपन्नोपाधिगत त्रयकालिक-निषेध प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व आकाशदि-प्रपञ्च में सिद्ध ही है। अतः सत्यत्वविरोधी उक्त त्रिविधलक्षणोंसे लक्षित मिथ्यात्व के विद्यमान होने से उनमें सत्यत्व की प्रसक्ति नहीं है। घटादि के सत्यत्वपक्ष में प्रपञ्च में उक्त मिथ्यात्व के न होने से सत्यत्वपक्ष से दृष्टिसृष्टिपक्ष में भेद है ही। केवल ज्ञाननिवर्त्यत्व, जिसका वाध केवल अधिष्ठानतत्व साक्षात्कार से ही हो, वह मिथ्यात्व है। जैसे शुक्ति में उत्पन्न रजत की निवृत्ति शुक्तिरूप अधिष्ठान के तत्त्वसाक्षात्कार से होती है, अतः वह मिथ्या है। सदसद्विलक्षणत्व जो सत् (त्रिकालावाधित) से और असत् (किसी समय में भी प्रतीत न होने वाले) से विलक्षण हो, वह मिथ्या है, जैसे शुक्ति-रजत न सत् है और न शशश्रृंग के समान असत् है। अतः शुक्ति-रजत् मिथ्या है। केवल सद्विलक्षण को मिथ्या कहने से असत् शशश्रृंग में दोष होगा और असद् विलक्षण-मात्र कहने से ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी, इसलिए सदसद् विलक्षण मिथ्या का लक्षण कहा गया है।

यदि शंका हो कि ज्ञाननिववर्त्यत्व आदि मिथ्यात्व के स्वरूप माने जायं, तो आकाशादि प्रपञ्चके समान अहंकार और उसके धर्मों में कथित मिथ्यात्व उन अहंकारादि के प्रातिभासिक न मानने पर भी हो सकता है, फिर भाष्य, टीका और विवरण में अहंकारादि के अध्यास में

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कारणत्रयं के सम्पादन आदि में जो प्रयत्न किया गया है, वह व्यर्थ ही होगा। उक्त शंका निराकरण करते हुए सृष्टिदृष्टिवादी का कहना है कि वह व्यर्थ नहीं है, क्योंकि केवल साक्षी से वेद्य होने के कारण शुक्ति-रजतादि के समान अहंकारादि प्रातिभासिक ही हैं। ऐसा आचार्य चित्सुख का मत है।

उक्त विषय में रामाद्वयाचार्य का कहना है कि भाष्य, टीकादि सब ग्रन्थ केवल अभ्युपेत्यवाद ही हैं अर्थात् अहंकार आदिमें प्रातिभासिकत्व का केवल आपाततः स्वीकार करके भाष्य, भाष्यटीका आदि में कारणत्रय का सम्पादन किया गया है, वस्तुस्थिति का अंगीकार करके नहीं किया गया, क्योंकि वहाँ के 'अद्वितीय' अधिष्ठानत्वरूप ब्रह्मात्मा में चैतन्य ही प्रमाण है। कारणत्रय-सम्पादक ग्रन्थ की प्रौढिवादता स्पष्ट है, यदि उसे प्रौढिवाद न माना जाय, तो चैतन्य के प्रमाकरण होने से वेदान्त ही ब्रह्मप्रमाकरण है, इत्यादि कल्पना का भंग होगा।

---

२७. अजातवाद

अद्वैतवाद के समर्थन में अजातवाद के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अजातवाद का प्रतिपादन वस्तुतः उत्तम अधिकारी के लिए हुआ है और इस सिद्धान्त का उद्भव आचार्यगौड़पाद से हुआ है। अजातवाद में अध्यारोप और अपवाद को स्थान नहीं दिया गया है। कीचड़ लगाकर वस्त्र को धोने की अपेक्षा कीचड़ को वस्त्र में लगने न

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दिया जाय' के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। अजातवाद का प्रतिपादन करते हुए गौड़पादाचार्य का कथन है कि परमार्थतः न किसी जीव की उत्पत्ति होती है और न कोई जीव की उत्पत्ति का कारण है। वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जिसमें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। अतः परमार्थ दृष्टि से जीव अजात ही है।

एक अन्य स्थल पर वास्तविक अद्वैत एवं परमार्थ तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है कि वस्तुतः परमार्थ वह है, जिसका न प्रलय है और न उत्पत्ति। जो न बद्ध है और न साधक। इसके अतिरिक्त जो न कभी मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी मुक्त होता है। यही अखण्ड आत्मतत्व परमार्थ सत्य है। निम्नलिखित श्लोकों में गौडपादाचार्य का उक्त भाव अभिव्यक्त हुआ है–

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥"

आत्मा की अजातता को सिद्ध करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि द्वैतवादी लोग जन्महीन आत्मा के भी जन्म के अभिभाषी प्रतीत होते हैं। जो पदार्थ (आत्मा) निश्चित ही अजन्मा और मरणहीन है, वह मरणशील किस प्रकार हो सकता है।

इसलिए जो अमृतपदार्थ (आत्मा) है, वह मर्त्य नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो मर्त्यपदार्थ है, वह अमृतत्व नहीं प्राप्त कर सकता। इसका कारण यह है कि स्वभाव का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यही उक्तभाव गौड़पादीय कारिकाओं से व्यक्त होता है–

"अजातस्यैव भावस्य जातमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥
न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति ॥"

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार अज एवं अमर आत्मा ही एकमात्र परमार्थ सत्य है। परमार्थतः जीव की उत्पत्ति न मानने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम अजातवाद पड़ा है।

०——————०

२८. जगत् का कारण

अद्वैत-वेदान्त के शंकरपरवर्ती आचार्यों ने कार्यकारण-समस्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के प्रति उपादान और निमित्तभूत जो कारण है, वह शुद्ध परब्रह्म ही है। परन्तु अद्वैतसिद्धि के गौडब्रह्मानन्दीटीकाकार के अनुसार संक्षेप-शारीरककार का मत है कि अविद्योपहितचेतन जगत् का कारण है।

विवरणानुयायियों का मत है कि जो सर्वज्ञ, सर्ववित् तथा तपोज्ञानमय है, उस सर्वज्ञब्रह्म से हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं। सर्वज्ञत्वादि धर्म से युक्त माया से शवलित ईश्वररूप ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्मानन्द ने विवरणकार के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि ईश्वर और जीव अविद्या में क्रमशः शुद्ध-चित् के विम्ब एवं प्रतिविम्ब रूप हैं। यह शुद्धचित् तत्व ही जो ईश्वर एवं जीव सता को प्राप्त होता है एवं सर्वकालिक साक्षी है, वही जगत् का उपादान कारण है।

अद्वैतवेदान्त के गम्भीर समालोचक अप्पयदीक्षित ने वाचस्पतिमिश्र के कार्यकारण सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन करते हुए कहा है कि

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वाचस्पतिमिश्र के मतानुसार माया से विषयीकृत ब्रह्म ही जगत् का उपादानकारण है और माया सहकारी कारण है।

मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार अज्ञान ही इस द्वैतात्मक जगत् का उपादान कारण है। अद्वैत-वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् का कथन है कि अज्ञान के ही कारण ब्रह्म जगत् का कारण कहलाता है। वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली के प्रणेता आचार्य प्रकाशानन्द ने जगत् को अज्ञानकृत माना है। प्रकाशानन्द के मतानुसार अज्ञान ही जगत् का निमित्तकारण है और वही उपादान कारण भी है।

माया एवं अविद्या में भेद को स्वीकार करने वाले कुछ विद्वानों का मत है कि आकाशादि-महाभूत-प्रपञ्च ईश्वर में रहने वाली माया का ही परिणाम है। अतः आकाशादि-महाभूतप्रपञ्च का उपादान ईश्वर है। इसके अतिरिक्त अन्तःकरणादिप्रपञ्च ईश्वराश्रित माया के परिणाम-भूत आकाशादि महाभूतों से संसृष्ट जीव की अविद्या से उत्पन्न हुए, सूक्ष्मभूतों का कार्य है। इसलिए ईश्वर और जीव दोनों अन्तःकरण आदि के उपादानकारण हैं। माया एवं अविद्या सम्बन्धी भेद के आधार पर कुछ समालोचक विद्वानों का विचार है कि जिस प्रकार आकाशादि महाभूतप्रपञ्च ईश्वराश्रितमाया का परिणाम हैं और इसीलिए आकाशादिमहाभूतप्रपञ्च में ईश्वर उपादान है, उसी प्रकार अन्तःकरणादि जीवाश्रित अविद्या के ही परिणाम हैं और उनमें जीव ही उपादान है, ईश्वर नहीं।

उपर्युक्त मतों के विपरीत अद्वैतवेदान्त के कुछ विद्वानों ने माया एवं अविद्या को अभिन्न मानकर भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना की है। माया एवं अविद्या की अभिन्नता को मानने वाले कतिपय विद्वानों का विचार है कि यद्यपि आकाशादि महाभूतप्रपञ्च का ईश्वर ही उपादान है, परन्तु अन्तःकरणादि में जीव के तादात्म्य की प्रतीति होने से अन्तः-करणादि का उपादान जीव ही है।

कुछ विद्वानों का मत है कि व्यावहारिक पदार्थों का उपादान ईश्वर है और प्रातिभासिक पदार्थों का उपादान जीव है। अन्य मतों के

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि केवल एक जीव ही अज्ञान से स्वाप्निकपदार्थों के समान ईश्वरसहित इस समस्त प्रपञ्च का कारण है। विद्वानों के एक वर्ग का यह विचार है कि ब्रह्म और माया दोनों ही जगत् के प्रति उपादानकारण हैं। केवल अन्तर इतना है कि ब्रह्म विवर्तोपादान है और माया परिणामोपादान है। और यही मत निर्दुष्ट एवं युक्तिसंगत होने से अधिक मान्य है।

---

२६. परिणामवाद और विवर्तवाद

कार्यकारणभाव का विचार करने पर भी जगत् की कल्पना अनिर्वचनीय ही सिद्ध होती है। अद्वैतवाद में आरम्भवाद तथा परिणामवाद दोनों भ्रममूलक हैं। परिणामवादी कार्यद्रव्य को कारण से अभिन्न और साथ ही साथ भिन्न भी स्वीकार करते हैं। परन्तु यह मत युक्तिसंगत नहीं है। घटादि सब मृत्तिका के कार्य हैं। अतः मृतिका से अभिन्न हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि अभिन्न होते हुए भी इनमें पारस्पारिक भेद कहाँ से आया? यदि इसमें पारस्परिक भिन्नता प्रत्यक्ष है, तो मृतिका भी परस्पर भिन्न हुए विना नहीं रह सकती। इस प्रकार कार्यकारण में एक साथ ही भेद तथा अभेद कैसे माने जा सकते हैं? एक ही सत्य होगा और दूसरा कल्पित। अभेद का परमार्थ सत् होना उचित है, भेद (नाना) को कल्पित मानना ठीक है। ऐसा स्वीकार न करने पर असंख्य परमार्थ वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारण-सत्ता अविनाशी तथा निर्विकार है और उसमें कल्पित होने वाला नानात्मक प्रपञ्च केवल कल्पना-मूलक अनि-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वंचनीय है। इस प्रकार एकमात्र स्वप्रकाश, अखण्ड चैतन्यसत्ता के अतिरिक्त कार्यभूत जगत् प्रातिभासिक है। अतः कारण ही एकमात्र सत्य है तथा कार्य मिथ्या है। जगत् माया का तो परिणाम है, पर ब्रह्म का विवर्त है। कार्य के अनिर्वचनीयवाद की पारिभाषिक संज्ञा विवर्त है।

सिद्धान्तलेश में अप्पयदीक्षित ने दोनों का पार्थक्य भली-भाँति बतलाया है—"कार्यसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः" तद्विलक्षणो विवर्तः उपादानकारण का समानधर्मी अन्यथाभाव परिणाम और उपादान से विलक्षण अन्यथाभाव विवर्त है। वेदान्तसूक्तिमञ्जरीकार गंगाधर सरस्वती का मत है—

"तत्रोपादानता विश्वविवर्तास्पदता चितः।
स्वाभिन्नन्यूनसत्तार्थो विवर्त इति कथ्यते॥"

परिणाम

"वस्तुनस्तत्समानसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः"। इस लक्षण में वस्तु शब्द से उस वस्तु का ग्रहण है, जो उपादानत्वरूप से अभिमत हो और पूर्वरूप की अपेक्षा अन्य रूप से अवस्थानअन्यथाभाव अर्थात् अवस्था विशेष है। यह कैसा होना चाहिए? "तत्समानसत्ताकः—तेन समा सत्ता यस्य अन्यथाभावस्य स तथा" अर्थात् उपादान भूतवस्तु की सत्ता और उससे उत्पन्न हुए कार्य की सत्ता समान होनी चाहिए। जैसे मृतिका का परिणाम है—घट, घट का उपादान कारण है—मृतिका और घट है—मृतिका का अन्यथाभाव। घट की जो व्यवहारिकसत्ता है, वही उपादान कारण रूप मृतिका की है। अतः घटरूप मृत्तिका के अन्यथाभाव में, मृतिका रूप उपादान की समान सत्ता होने से घट मृतिका का परिणाम है। जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म की सत्ता त्रिकालाबाध्य है अर्थात् पारमार्थिक है और जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। उपादान का अन्यथाभाव उपादान की सत्ता से यदि विषमसत्ता वाला हो, तो वह विवर्त होगा। जैसे शुक्ति का विवर्त है—रजत। शुक्ति और उसमें उत्पन्न प्रातीतिक रजत की

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समान सत्ता नहीं है, क्योंकि शुक्ति की व्यावहारिक सत्ता है और रजत की प्रातिभासिक सत्ता है। इन लक्षणों का परिष्कार इस प्रकार किया जाता है—

"उपादानत्वाभिमतवस्तुसत्तासमानकत्वे सति तदवस्थाविशेषरूपत्वं तत्परिणामत्वम्" यहाँ पर विशेषण अंश इसलिए दिया गया है कि विवर्त में अतिव्याप्ति दोष न जाय और विशेष्यांश इसलिए दिया गया है कि घटादि में तन्तु आदि के परिणामत्व का निरास हो।

विवर्त

"उपादानत्वाभिमतवस्तुसत्ताविषमसत्ताकत्वे सति तदवस्थाविशेष-रूपत्वम् तत्विवर्तत्वम्" परिणाम का वारण करने के लिए सत्यन्त विशेषण है। विशेष्यदल ब्रह्म में मृत्परिणामत्व की व्यावृत्ति के लिए है। दोनों उक्त लक्षण पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओं को मानकर किये गये हैं।

यदि ये तीन सत्ताएं न मानी जाय और घट, शुक्ति, रजतादि सब स्थलों पर ब्रह्मस्वरूप सत्ता ही मान ली जाय, तो इस पक्ष में उक्त दो लक्षण परिणाम और विवर्त के नहीं होंगे। इसलिए 'कारणसलक्षणो०' इत्यादि रूप में परिणाम और विवर्त के अन्य लक्षण किये गये हैं। इसका अर्थ होगा—"उपादानत्वाभिमतवस्तुलक्षणसमानलक्षणत्वे सति तदवस्थाविशेषत्वं तत् परिणामत्वम्" यहां जड़त्वरूपधर्म से सालक्षण्य (सजातीयत्व) विवक्षित है अर्थात् उपादानत्वरूप से गृहीत जो वस्तु है, उसके जड़त्वरूप धर्म से सजातीय उपादान की अन्य अवस्था परिणाम होगी। मृत्तिका और उसकी अन्य अवस्था है घट, इस उपादान और उपादेय में जड़त्वरूप धर्म के अस्तित्व से सजातीयता है। ब्रह्म के विवर्त जगत् में चेतनत्व न होने से ब्रह्मरूप उपादान सजातीयता का अभाव है। अतः ब्रह्म के विवर्त जगत् में परिणाम का लक्षण नहीं गया। इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं है। मृतिका में घट के परिणामत्व का वारण करने के अभिप्राय से विशेष्यदल का प्रवेश है और प्रपञ्च में संवित् का परिणामत्व न हो, अतः सत्यन्त विशेषण है, यह समझना चाहिए।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस दूसरे प्रकार से विवर्त का लक्षण होगा—"उपादानत्वाभिमत-वस्तुविलक्षणत्वे सति तदवस्थाविशेषत्वम्" अर्थात् उपादानत्वरूप से परिगृहीत वस्तु से विलक्षण होकर उस उपादानरूप वस्तु का अवस्था-विशेष विवर्त है। यहां चित्व और जड़त्वरूप धर्मों से विलक्षणता विवक्षित है। शुक्तिरजत, शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का विवर्त है, यहां उक्त लक्षण का समन्वय भली-भाँति होता है, शुक्ति अवच्छिन्न चैतन्य ही अविद्या के समवधान से रजताकार से विवर्तभाव को प्राप्त होता है, अतः चैतन्य से रजत अवश्य विलक्षण हुआ, क्योंकि चैतन्य में चित्व धर्म है और रजत में जड़त्व। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी चित्व और जडत्व में वैलक्षण्य होने से ब्रह्म के विवर्त जगत् में भी लक्षणसमन्वय हो जायगा। चैतन्य में जड़विवर्तत्व के परिहार के लिए विशेष्यदल है और मृत्परिणाम घट आदि में मृत्विवर्तत्व के निराकरण के लिए विशेषण अंश है।

"तदभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तः" इस लक्षण से अप्पयदीक्षित ने कार्यरूप विवर्त का ही लक्षण किया है, क्योंकि लक्षण में कार्य शब्द का प्रक्षेप किया गया है। अथवा लक्षण में कार्यत्व की अविवक्षा करनी चाहिए, इससे अनादि अविद्या में भी, जो ब्रह्मविवर्त है, विवर्तत्व का लक्षण घट जायगा और अव्याप्ति भी नहीं होगी। 'तदभेदं विनैव" इसका अर्थ वस्तुसत् अभेद के बिना है, अतः प्रातीतिक अभेद होने पर भी असंगति नहीं है। इसलिए कार्यरूप विवर्त के लक्षण का यह परिष्कार हुआ—"उपादानत्वाभिमतवस्तुनः सकाशाद् वस्तुतो भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपत्वे सति कार्यत्वम्" अविद्या में अतिव्याप्ति-वारण के लिए विशेष्यदल है। आरम्भवाद और परिणामवाद में क्रमशः अभेद और भेद से कार्य का निरूपण अशक्य होने से उस स्थल में दोषवारण करने के लिए 'भेदाभेदाभ्याम्' इतना लक्षणकुक्षि में निविष्ट है। सिद्धान्त में कार्य और कारण में अभेद का उपगम होने से असम्भव का वारण करने के लिए 'वस्तुतः' कहा गया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३०. जगन्मिथ्यात्व

जिस जगत् को हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उसका मिथ्या होना, अद्वैत-वेदान्त की एक अद्भुत प्रहेलिका है। अद्वैतवेदान्त द्वारा किए गए जगत् के मिथ्यात्वप्रतिपादन का यह वैशिष्ट्य है कि यह कालानुसार जगत् के लौकिकव्यवहारों एवं परमार्थसत्तागत ब्रह्मानुभूति इन दोनों का ही समर्थन करता है। अतः यदि देखा जाय, तो अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जगत् का सत्यत्व एवं मिथ्यात्व काल की दृष्टि से ही विचार्य है। जगत् को मिथ्या प्रतिपादन करते हुए चित्सुखाचार्य ने मिथ्यात्व का लक्षण किया है—

"सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन सम्मते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥"

सभी भावपदार्थों में मिथ्यात्व है—स्वाश्रय मे रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व अर्थात् पटादिभावपदार्थों में जो अपने आश्रय-तन्तुआदि में वृत्ति अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता है, वही मिथ्यात्व उनका मिथ्यात्व है, क्योंकि उन पटादि की तन्तुओं से अन्यत्र तो सत्ता सम्भव है नहीं, अब यदि तन्तुओं में भी उनकी सत्ता न हो, तो फिर उन पटा-दिकों में मिथ्यात्व स्वतःसिद्ध ही है।

जगत् की सत्ता इसलिए असत् कही जाती है कि यह तीनों कालों मे नहीं रहती। वस्तुतः ब्रह्मात्मा का ज्ञान होने के पहले ही जगत् के व्यवहारों की सत्यता है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार की जाग्रद्-अवस्था से पूर्व स्वप्नदशा के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं। पर-मार्थ अवस्था में तो जगत् के सारे व्यवहार लुप्त हो जाते हैं। इसी बात की पुष्टि भाष्यकार ने की है 'सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः। स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्"(ब्र० सू० २।१।१४)। इसके अतिरिक्त सृष्टि के पूर्वकाल में भी एक मूलसत्त्व की सत्ता थी। इस प्रकार यह निश्चित है कि जगत् की सत्ता त्रैकालिक नहीं है। इसी दृष्टिकोण के अनुसार जगत् को असत् कहा जाता है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यदि शंका हो कि जगत् यदि असत् है तो प्रतीत क्यों हो रहा है, क्योंकि आकाशपुष्प, बन्ध्यापुत्र जैसे असत् हैं तो उनकी प्रतीति भी नहीं होती । तो यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि प्रतीयमान वस्तु सत् ही होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत् रज्जु में सर्प, मरुमरीचिका में जल की प्रतीति होने पर भी वे मिथ्या हैं । इसीप्रकार अद्वितीय ब्रह्म में सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पितमात्र है । आरोपित पदार्थ की अधिष्ठान से भिन्न सत्ता नहीं होती । वे केवल प्रतीतिकालमात्र में हैं । "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा" । अर्थात् जो वस्तु अपने उत्पत्ति से पूर्व में न हो और बिनाश के अनन्तर भी न रहे, उसकी सत्ता का वर्तमान-काल में भी अभाव ही समझना चाहिए । परमार्थ-दृष्टि से जगत् के असत्सिद्ध होने पर भी यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि परमार्थसत्ता-ब्रह्मबोध की स्थिति में जगत् का लोप हो जाता है । यदि ब्रह्मात्मता की स्थिति में जगत् का लोप हो जाता, तो एक व्यक्ति के जीवन्मुक्त होने पर जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जाती । ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए जगत् का लोप न होकर द्वैतमूलक नाम रूपात्मक प्रपञ्च एवं उससे उत्पन्न होने वाले समस्त व्यवहारों का ही लोप होता है, प्रत्यक्षदृश्यमान जगत् का नहीं । अतः शांकरवेदान्त के अनुसार जगत् के असत् होने का यही तात्पर्य है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है । भामतीकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व से हम केवल दोनों के अभेद का प्रतिपादन नहीं करते, अपितु भेद का निराकरण करते हैं—न खल्व-नन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं व्यासेधाम; ।" भामतीकार के मत के समर्थन में ही रत्नप्रभाकार का भी कथन है कि ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व, कारण से पृथक् कार्य की सत्ता की शून्यता सिद्धकरता है, न कि ऐक्य, । इसप्रकार अद्वैतवेदान्त के आचार्यो ने जगत् के मिथ्या-त्वप्रतिपादन के द्वारा ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् की सत्ता का ही निराकरण किया है । अतः जगन्मिथ्यात्व का उद्देश्य भौतिकजगत् का अभावसिद्ध करना नहीं है ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आचार्य मधुसुदनसरस्वती ने मिथ्यात्व के पाँच लक्षण किये हैं— प्रथमलक्षण का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि "सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम्" अर्थात् जो सद् से विलक्षण हो तथा असद् से विलक्षण हो, वही 'मिथ्या' शब्द का अर्थ है। इसी को विवरणप्रस्थानमतानुयायियों ने अनिर्वचनीयत्व रूप से मिथ्यात्व सिद्ध किया है। प्रपञ्च में सद् से विलक्षणत्व है. क्योंकि "त्रैकालिकाबाध्यत्वं सत्यत्वम्" अर्थात् जिसका तीनों कालों में बाध न हो वही सत् है। परन्तु जगत् में उक्त सत् का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के उत्तरकाल में प्रपञ्च का बाध हो जाता है, ऐसा शांकरवेदान्त में स्वीकार किया गया है। अतः प्रपञ्च को सत् नहीं कहा जा सकता। प्रपञ्च को असत् (अलीक) भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि जगत् असत् है, तो गगनपुष्प आदि के समान जगत् की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, जबकि जगत् की प्रतीति होती है व्यवहारदशा में। यद्यपि जगत् भ्रमात्मक है, तो भी जगत् में सफल-प्रवृत्ति की जनकता होने से प्रपञ्च सम्वादी भ्रमात्मक है, न कि विसम्वादी भ्रमात्मक। क्योंकि जगत् में व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई। अतः जगत् सदसत्प्रतियोगिक होने से मिथ्या है।

अद्वैतसिद्धकार ने मिथ्यात्व का दूसरा लक्षण किया है–"प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्"। अर्थात् अपने अधिकरण में जिसका तीनों कालों में अभाव हो वह मिथ्या है, जैसे शुक्तिरजत स्थल में वहां "इद रजतम्" इत्याकारक शुक्त्यधिष्ठानक मिथ्याज्ञान में विशेष्यरूप इदमभिन्न शुक्तिसामान्य रूप है, उसमें "शुक्तौ रजतं, नासीत्, न भविष्यति नास्ति।" अर्थात् शुक्ति में रजत् न था न होगा न वर्तमान में है, इत्याकारक अत्यन्ताभाव होगा, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व शुक्ति में अध्यस्त रजत में है। अतः रजत मिथ्या कहा जाता है। इसी प्रकार "द्वैतवद्ब्रह्म" इस प्रकार जो भ्रान्त पुरुषों की बुद्धि उत्पन्न होती है, इस बुद्धि में विशेष्यरूप ब्रह्म है, उस अधिकरणरूप ब्रह्म में रहने वाला अभाव है—'नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इस श्रुति से बोधित ब्रह्म में जगत् का अत्यन्ताभाव और उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व जगत् में सिद्ध

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ही है। अतः जगत् में मिथ्यात्व उक्त लक्षण के अनुसार निश्चित हो जाता है।

आचार्य ने मिथ्यात्व का तृतीय लक्षण किया है—"ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्" यहाँ पर ज्ञानपद से अधिष्ठानज्ञान गृहीत है। जैसे अधिष्ठानरूप शुक्ति का ज्ञान होने पर कि 'शुक्तिरियं नेद रजतम्" (यह शुक्ति है, रजत् नहीं है) शुक्ति के ज्ञान से शुक्ति में प्रतीयमान रजत् का बाध हो जाता है, इसी प्रकार "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतियों से अधिष्ठानरूप अद्वितीयब्रह्म का ज्ञान उदय होने पर कार्य सहित अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अतः कार्यरूप प्रपञ्च में मिथ्यात्व निश्चित होने पर प्रपञ्च मिथ्या ही सिद्ध होता है।

मिथ्यात्व का चतुर्थ लक्षण किया गया है– 'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व मिथ्यात्वम्" अर्थात् अपने आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व का नाम मिथ्यात्व है। यहां पर स्व शब्द से शुक्तिरूप्य तथा व्यावहारिक प्रपञ्च का ग्रहण है। जैसे शुक्तिस्थरजत का आश्रय है—शुक्ति, उसी शुक्ति में रहने वाला जो रजत का अत्यन्ता भाव उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है रजत। जिसका जहाँ पर अभाव होता है उस अभाव के प्रति वह प्रतियोगी होता है। पूर्व में भी कहा गया है कि अधिष्ठानरूप शुक्ति के ज्ञान से शुक्ति में प्रतीत होने वाले रजत का बाध होता है। "अत्र शुक्तौ रजत नासीत् न भविष्यति नास्ति" इस प्रकार शुक्ति में त्रैकालिकाभाव को ही अत्यन्ताभाव कहा गया है। इसलिए रजत् का आश्रय है–शुक्ति और उस शुक्ति में रहने वाला जो रजत का अत्यन्ताभाव, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगि हुआ रजत्, अतः रजत् में मिथ्यात्व सिद्ध है। इसी प्रकार जगत् का आश्रय ब्रह्म है। "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इस श्रुति से ब्रह्म में जगत् का अत्यन्ताभाव सिद्ध है। उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगि है—प्रपञ्च। इसलिए प्रपञ्च में मिथ्यात्व निश्चित है।

मधुसूदन ने पञ्चम-मिथ्यात्व-लक्षण का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—"सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्" अर्थात् जो सद् से भिन्न हो वह मिथ्या

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। आचार्य ने सद् का अर्थ किया है—जो प्रमाण से सिद्ध हो, वह सत् है और दोष से असहकृत यथार्थज्ञान का जो साधन (करण) हो, वह प्रमाण है। श्रुति-प्रमाण ही सब दोषों से रहित है और उस श्रुतिप्रमाण से त्रिकालाबाध्य ब्रह्म सिद्ध है। अतः ब्रह्म से भिन्न यावत् प्रपञ्च में मिथ्यात्व निश्चित है।

---

३१. साधनचतुष्टय

जीवमात्र के पुरुषार्थ (प्रयोजन अर्थात् जीवन के लक्ष्य) चार हैं—धर्म अर्थ काम और मोक्ष। इस में मोक्ष को परमपुरुषार्थ माना गया है। इस मोक्ष का साधन एकमात्र जीवब्रह्मैक्य ज्ञान माना गया है। शांकर वेदान्त में ज्ञान का अधिकारी वही है, जो साधन-चतुष्टय से सम्पन्न हो। क्योंकि साधन-चतुष्टय के विना ज्ञान का उदय होना सर्वथा असम्भव है। अतः साधनचतुष्टय का विचार किया जाता है।

विवेक

विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, और मुमुक्षता ये चार साधन हैं। नित्य अनित्य वस्तुओं के सामान्य ज्ञान का नाम विवेक है अर्थात् ब्रह्म ही एक नित्य वस्तु है, उससे अतिरिक्त अन्य सब वस्तुयें अनित्य है, ऐसा समझना नित्यानित्यवस्तु-विवेक है। आत्मा की नित्यता में निम्नलिखित श्रुतियाँ प्रमाण हैं— 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' 'अजो नित्यः शाश्वतः।' 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'। ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनित्य है, इस में निम्नलिखित श्रुतियाँ प्रमाण हैं— 'यो वै भूमा

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तदमृतं यदल्पं तन्मर्त्यम्। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन् नान्यत् किञ्चन मिषत्।' 'नेह नानास्ति किञ्चन'।

वैराग्य

इस लोक की भोग-विलास सम्बन्धी सभी सामग्री कर्मजन्य तथा अनित्य हैं। आज जो वस्तु दीखती है, वह कल नष्ट हो सकती है, कर्मजन्य यज्ञादिकों से प्राप्त स्वर्गादि तथा वहां की सब सामग्री भी अनित्य होगी, ऐसा निश्चय करके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक इन दोनों प्रकार की वस्तुओं से घृणा हो जाने को वैराग्य कहते हैं।

षट्सम्पत्ति

षट्सम्पत्ति ये हैं:—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा।

शम

जिस प्रकार भूख-प्यास शान्त करने के साधन अन्न जल हैं और भूखे प्यासे का मन वार वार अन्न पानी की ओर दौड़ता रहता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के साधन श्रवण मननादि हैं। उन श्रवण मननादि को छोड़कर अन्य जो सांसारिक विषय हैं, उन में बार बार दौड़कर जाते हुए मन को एक विशेष प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति रोकती है, इसी रोकने वाली वृत्तिको शम कहते हैं।

दम

ब्रह्म-साक्षात्कार के साधनभूत जो श्रवण-मनन आदि हैं, उनसे अतिरिक्त विषयों से चक्षु:, श्रोत्र आदि बहिरिन्द्रियों का हटा लेना दम कहलाता है।

उपरति

श्रवण-मननादि से अतिरिक्त जो विषय है, उनसे हटाई हुई श्रवण-मननादि ज्ञान के साधन भूत, इन्द्रियाँ इन से अतिरिक्त शव्दादि विषयों में जाने न पावे, यह जिस वृति से होता है, उसे उपरति कहते हैं। अथवा नित्य नैमित्तकादि कर्म, जैसें सन्व्याबन्दन अग्नि होत्रादि गृहस्थादिकों को करने के लिए शास्त्रों में कहे गये हैं, उन का संन्यास-आश्रम

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वीकार करके शास्त्रोक्त विधिपूर्वक परित्याग कर देना उपरति कहलाता है।

तितिक्षा

सर्दी गर्मी, मान अपमान, सुखदुःखादि का अनुभव सब को होता है। किन्तु यह समझकर कि यह तो शरीर के धर्म है आत्मा में सर्दी-गर्मी कुछ नहीं है, इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा सब को सहन करना तितिक्षा कहलाता है।

समाधान

वश में किये हुए मन को श्रवण-मनन आदि में लगाने तथा उनके अनुकूल निरभिमानित्वादि के निरन्तर चिन्तन एवं गुरु शुश्रुषादि को समाधान कहते हैं।

श्रद्धा

गुरु के कहे हुए वेदान्त वाक्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है।

मुमुक्षुता

अज्ञान तथा अज्ञानजन्य सांसारिक पदार्थों की प्रतीति को ज्ञान के द्वारा नष्ट करके ब्रह्मस्वरूप में स्थित होने की दशा को मोक्ष कहते हैं। ऐसे मोक्ष की भावना से युक्त होना मुमुक्षुता है।

इस प्रकार जिस जीव को लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों में किसी प्रकार का भ्रम नहीं है, वही आत्मज्ञान का अधिकारी है। जैसा कि कहा गया है—जिस का चित्त शान्त हो, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो, जिस का अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो, जो चतुष्टय साधन सम्पन्न हो, ऐसे व्यक्ति को आत्मज्ञान का उपदेश देना चाहिये।

—oo—

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३२. अहंग्रह और प्रतीकोपासना

उप पूर्वक आस् धातु से युच्+टाप प्रत्यय लगाने से उपासना शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है—शास्त्र-प्रतिपादित इष्ट के स्वरूप को मन के द्वारा उपलब्ध कर अन्य प्रत्ययों के व्यवधान से रहित लौकिक आत्म-अभिमान के समान उस इष्ट के स्वरूप में जब तक आत्मत्व अभिमान न हो, तब तक निरन्तर चिन्तन करना[1]।

उपासना के दो भेद हैं—अहंग्रह-उपासना और प्रतीकोपासना। "अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों से स्वाभिन्न ब्रह्म का ग्रहण करने का नाम अहंग्रह-उपासना है। विष्णु एवं देवादि के प्रतिमाओं में विष्णु तथा देवादि की दृष्टि से संस्कार द्वारा जो उपासनायें होती हैं, वे सब प्रतीकोपासनायें हैं। अहं-ग्रह उपासना और प्रतीक उपासना में यह भेद है कि अहंग्रह-उपासना के द्वारा जीव जीवन-दशा में ही भावना के प्रकर्ष से ही आत्मसाक्षात्कार करके आत्म स्वरूपता को प्राप्त कर लेता है। परन्तु प्रतीक-उपासना के द्वारा अभेद आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होना असम्भव है। ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों में अहंग्रह उपासक को ही कहा गया है कि अमानवपुरुष ब्रह्मलोक में उन पुरुषों को ही ले जाते हैं, जो प्रतीक उपासक नहीं है, अर्थात् जो अहं-ग्रहोपासक हैं। प्रतीक-उपासना में तो प्रतीक की ही प्रधानता होने के कारण प्रतीक-उपासक प्रतीक की ही उपलब्धि कर सकता है। आत्मा की साक्षात्काररूप उपलब्धि नहीं। क्योंकि आत्मा की वास्तव में कोई प्रतिमा नहीं है और दूसरा कारण यह भी है कि प्रतीक उपासना में भेद-बुद्धि होती है। अतः अभेदरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार प्रतीक

टिप्पणी— १—उपासनं नाम उपास्यार्थवादे यथा देवतादिस्वरूपं श्रुत्या ज्ञाप्यते तथा मनसोपगम्य आसनं चिन्तनं लौकिकप्रत्यया-व्यवधानेन यावत्तद्देवतादि-स्वरूपात्माभिमानाभिव्यक्तिरिति, लौकिकात्माभिमानवद्। बृ० उ० १।३।९ शां० भा०

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपासना में संभव नहीं है। इस प्रकार अहंग्रह एवं प्रतीक-उपासनाओं के फल पृथक् पृथक् हैं।

उपर्युक्त दोनों उपासनाओं के फल-वैलक्षण्य को सिद्ध करते हुये शंकराचार्य ने कहा है कि नामवागादि प्रतीकोपासनाओं में पूर्व-पूर्व उपासनाओं की अपेक्षा उत्तरोत्तर उपासनाओं में विशेष फलबोध होता है। उदाहरण के लिये, नाम की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने वाला नाम के विषय में स्वतन्त्र होता है और नामोत्तरवर्ती वाक् की उपासना करने वाला वाणी के विषय में स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार फल-विशेष की उपपत्ति उपासनाओं के प्रतीकाधीन होने से ही सम्भव है। इसके विपरीत उपासनाओं के ब्रह्माधीन मानने पर फल-विशेष की उपपत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अविशिष्ट है। अतः प्रतीकालम्बन उपासनाओं का फल इतर उपासनाओं के फल के समान नहीं है। यही बात ब्रह्मसूत्र (४।३।१६) में कही गई है।

उक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि प्रतीक-उपासना के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं है। प्रतीक उपासना की यही उपयोगिता है कि प्रतीकोपासक इस उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता के द्वारा आत्मसाक्षात्कार के साधनरूप ज्ञान का संपादन कर सकता है। क्योंकि चित्त की एकाग्रता के विना ज्ञान का भी सम्भव नहीं है। यद्यपि प्रतीकोपासना आत्मसाक्षात्कार का साक्षात्साधन नहीं है, तथापि अन्तःकरण के शुद्धि द्वारा परम्परा से साधन अवश्य है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३३. तत्त्वमसि में लक्षणा

जहाँ पर अभिधावृत्ति से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता, वहाँ पर लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया जाता है। शक्यार्थ की अनुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना गया है। जहां पर शक्यार्थ का बाध नहीं होता, वहाँ लक्षणा नहीं होती। जैसे अग्नि पद के उच्चारण होने पर अग्निका शक्यार्थ (वाच्यार्थ) अंगार अर्थ की प्रतीति (बोध) हो जाता है, अतः यहाँ पर लक्षणा की आवश्यकता नहीं है।

लक्षणा के तीन भेद हैं—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहद-जहल्लक्षणा। जहल्लक्षणा को ही जहत्स्वार्थी भी कहते हैं। जब पद अपने अर्थ का त्याग करके अन्यार्थ का बोध कराता है, तो वह जह-ल्लक्षणा कहलाती है। जहल्लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' (गंगा में घोष अर्थात् घर) है। उक्त उदाहरण के अन्तर्गत 'गंगा' शब्द का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) प्रवाह है। परन्तु प्रवाह में घोष का होना सम्भव नहीं होता, इसलिए 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थ प्रवाह को त्याग कर सामीप्य-संबन्ध के द्वारा तीर अर्थ का बोधक है। अतः 'गंगायां घोषः' स्पष्ट ही जहल्ल-लक्षणा का उदाहरण है।

जहाँ पद अपने अर्थ का परित्याग न करके अन्यार्थ का बोध कराता है, वहाँ अजहल्लक्षणा होती है। इसे अजहत्स्वार्थी भी कहते हैं। 'शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) अजहल्लक्षणा का उदाहरण है। उक्त उदाहरण के अन्तर्गत 'लाल' (वर्णविशेष) का दौड़ना असम्भव है, इसी लिए शोण शब्द का अर्थ लक्षणा के द्वारा शोणवर्णविशिष्ट अश्वादि लिया जाता है। 'शोणो धावति' में शोण शब्द अपने अर्थ लालवर्ण का परित्याग किए बिना ही शोणगुणविशिष्ट अश्वादि रूप अन्यार्थ का बोध कराता है।

जहदजहल्लक्षणा का ही नामान्तर भागत्यागलक्षणा है। भागत्याग लक्षणा उस स्थल पर होती है, जहाँ शब्द अपने कुछ अंश के अर्थ का

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्याग कुछ अंश के अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिए 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'तद्' (सः) शब्द का अर्थ है—तद्देशकालविशिष्ट देवदत्त और इदम् (अयं) शब्द का अर्थ है—एतद्देशकालविशिष्ट देवदत्त। उक्त वाक्य के अन्तर्गत देवदत्तांश में कोई विरोध न होने पर भी तद्देश-काल और एतत्देशकाल का विरोध है, क्योंकि भूतकाल और वर्तमान-काल तथा काशीदेश और कुरुदेश की एकता सर्वथा असम्भव है। अतः उक्त उदाहरण में विरुद्धांश का त्याग करके अविरुद्धांश देवदत्त-पिण्ड-मात्र का बोध कराने के लिए भागत्यागलक्षणा मानी जाती है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत भी 'त्वम्' शब्द का वाच्यार्थ है—अपरोक्षत्व-अल्पज्ञत्व-सुखित्व-दुःखित्व-परिच्छिन्नत्वादि-विशिष्ट चैतन्य और 'तद्' शब्दका वाच्यार्थ है--परोक्षत्व-सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमत्वादिविशिष्ट चैतन्य। इस प्रकार इन दोनों पदों के चैतन्यांश में कोई विरोध न होकर केवल परोक्षत्वादि एवं अपरोक्षत्वादि में ही पारस्परिक विरोध है। अतः परोक्षत्वादि एवं अपरोक्षत्वादिरूप बिरुद्धांशों का त्याग जहल्लक्षणा द्वारा और 'तद्' एवं 'त्वम्' से अविरुद्धांश अखण्ड चैतन्य का बोध अजहल्ल-क्षणा द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य से अखण्ड-चैतन्य का बोध होता है।

'तद्' एवं 'त्वम्' पदों द्वारा एक ही अर्थ का बोध होने से 'वही तू है' और 'तू ही वह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। अतः 'तद् एवं 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ के द्वारा जिस विरोध की प्रतीति होती है; उस का निराकरण उक्त विधि से लक्षणा मानने पर स्वयं हो जाता है। मधुसूदन सरस्वती प्रभृति अद्वैतवेदान्त के अनेक विद्वानों ने तत्त्वमसि के अखण्डार्थ बोध के सम्बन्ध में जहदजहल्लक्षणा का ही समर्थन किया है।

वेदान्तपरिभाषाकार ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए पहिले पूर्वपक्ष के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस प्रकार 'आदित्यो यूपः' (यज्ञस्तम्भसूर्यरूप है) तथा 'यजमानः प्रस्तरः' (यजमान दर्भ-मुष्टि-स्वरूप है), इत्यादि वाक्यों में गौण रूप से यूप में आदित्य एवं दर्भमुष्टि में यजमान का व्यवहार होता है। उसी प्रकार जीव और

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परमात्मा का अभेद "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च," "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानवृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" आदि प्रमाणों से बाधित होने पर भी तत्त्वमसि इत्यादि में आदित्य एवं यूप तथा यजमान एवं दर्भमुष्टि के परस्पर भेद की तरह 'तत्' 'त्वम्' पदों के अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी गौण रूप से अभेद का व्यवहार हो जाता है।

उक्त पूर्वपक्षी के मत का निराकरण करते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र का तर्क है कि 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के विरोध की शान्ति गौणार्थव्यवस्था के स्वीकार किये बिना ही सम्भव हो जाती है। परिभाषाकार का कथन है कि व्यावहारिक भेद को सिद्ध करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ वास्तविक अभेद का बोध कराने वाले 'तत्त्वमसि आदि वाक्यों का कुछ भी विरोध नहीं है। अपने मत की स्थापना करते हुए परिभाषाकार का कथन है कि तत्त्वमसि में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के भेद के साक्षात्कार में प्रत्यक्षादि में दोष-पूर्णता की संभावना हो सकती है। परन्तु वैदिक प्रमाण के सर्वथा निर्दोष होने के कारण उस में दोष की संभावना नहीं की जा सकती। अतः वेदजन्य ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षादि-प्रमाणों का बाध स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का अभेद-प्रतिपादन, वेद-प्रतिपाद्य होने के कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण से प्रतिपादित भेदप्रतिपादन की अपेक्षा प्रामाणिक होने के कारण स्वीकार्य है। यदि शास्त्रप्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण को बलवान् माना जाएगा, तब तो चन्द्रादि ग्रहों के अधिक परिमाण के ग्रहण करने वाले ज्योतिष-शास्त्र का, चन्द्रादि-प्रदेश का स्वल्पमात्र परिमाण दिखलाने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होने लगेगा, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा शास्त्र प्रमाण ही बलवान् माना जाना चाहिए।

पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रत्यक्ष तथा शब्द-प्रमाण का परस्पर उपजीव्योपजीवक भाव है। यदि शब्द-प्रमाण को प्रत्यक्ष-प्रमाण की अपेक्षा बलवान् माना जायेगा, तो उपजीव्योपजीवक-भाव की मर्यादा

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का ही भंग हो जाएगा। उक्त आशंका का समाधान करते हुए परिभाषाकार का कहना है कि अग्नि-संयोग से रक्त हुए घट में 'अयं रक्तो घटो न श्याम:' इत्याकारक प्रतीति होती है। यहाँ परिभाषाकार का कथन है कि 'सविशेषणे हि' इस न्याय-नियम के अनुसार जिस प्रकार पके हुए रक्त घट में 'सोऽयं घटो रक्तो न श्याम:' आदि स्थलों में श्यामता एवं रक्तता आदि धर्मों के भेद होने से भी धर्मी-विशेष्यमात्र घटादि का अभेद होने से, उक्त वाक्य का केवल श्यामत्व एवं रक्तत्व आदि धर्म-भेद ही में तात्पर्य सिद्ध होता है। उसी प्रकार जीव एवं परमात्मा के भेद के साधक प्रत्यक्ष का भी, उसके (प्रत्यक्ष के) विशेषणी- भूत अल्पज्ञत्व एवं सर्वज्ञात्वादि धर्मों का अवगाहन करने वाला होने से अर्थात् 'नाहं ईश्वर:' इत्यादि प्रत्ययों का केवल विशेषणमात्र में उपक्षीण होने से, केवल विशेष्य भाग में अभेद के बोधक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थ के साथ कुछ भी विरोध नहीं है। अत: 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' 'दुखी हूं संसारी हूं' इत्यादि प्रत्यक्ष-अनुभवों के आधार पर 'तत्' एवं 'त्वम्' पदार्थों की भेद-योजना अनुचित कही जायगी।

उक्त विवेचन में पूर्व पक्ष का जो आक्षेप था कि प्रत्यक्ष एवं आगम का उपजीव्योपजीवकभाव विरोध था, वह निराकृत हुआ, क्योंकि यदि ऐसा माना जाएगा, तो "मेरू पाषाणमय: पर्वतत्वात् विन्ध्यादिवत्" आदि अनुमान भी प्रामाणिक होंगे, परन्तु उक्त अनुमानवाक्य आगमप्रमाण से बाधित होने के कारण प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'जीवेश्वरौ परस्परभिन्नौ' आदि अनुमान-वाक्य भी आगमबाधित होने के कारण अप्रमाणिक हैं। परिभाषाकार का कहना है कि आगमान्तर के साथ भी 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का विरोध नहीं है, क्योंकि तत् पर एवं 'अतत्' पर वाक्यों में से तत्परवाक्य के बलवान् होने के कारण 'तत्त्वमसि' में भेद के अनुवादक 'द्वा सुपर्णा' आदि आगम-वाक्यों से 'तत्वमसि' आदि वाक्यों की ही प्रबलता है। क्योंकि उपक्रम-उपसंहारादि षडविध लिंगों के अनुरोध से अद्वैत में ही तात्पर्य निश्चित होता है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थों के विरोध का परिहार जहदजहल्लक्षणा के द्वारा न करके उक्त तर्क के आधार पर किया है।

---

३४. ज्ञानकर्मसमुच्चय–निरास

वेदान्त-दर्शन में कर्मों का उपयोग ज्ञान के प्रति माना गया है, अतः यह विचारणीय है कि क्या कर्मपूर्वक ज्ञान (कर्म सहित ज्ञान) मोक्ष का साधन है या केवलज्ञान। यहाँ शंका होती है कि जैसे आग्नेय आदि छः यागों में पूर्वोक्त अंगांगिभावादि प्रकारों के न होने पर भी सबका एक ही फल होने से एक कर्तृकत्व तथा क्रम माना गया है, वैसे ही धर्म तथा ब्रह्म के विचार में भी क्रम माना जायगा। ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा नहीं मान सकते, कारण कि इन दोनों धर्म और ब्रह्म विचार का एक ही फल होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। विद्या और अविद्या इन दोनों को जो साथ-साथ जानता है, इस अर्थवाली श्रुति से समुच्चय-विधान को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृत को प्राप्त करता है, इत्यर्थक श्रुति से अविद्या रूप कर्मों का और विद्या का वाक्य–शेष में फलभेद प्रतीत होता है। "तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यतैजसश्च" इत्यादि श्रुतिवचन को भी समुच्चय-विधायक मानना नहीं बनता, कारण कि इस वाक्य में ज्ञान और कर्म का एक ही पुरुष में समुच्चय का विधान नहीं है, किन्तु ब्रह्मज्ञानी और पुण्यकर्मा पुरुषों का दोनों मार्गों में योग होने में समुच्चय का विधान है। इस श्रुति का तात्पर्य है कि जो ब्रह्म

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्ञानी तथा जो पुरुष उद्गीथोपासना आदि पुण्य कर्म करने वाले हैं, वे दोनों भी इसी देवमार्ग से जाते हैं, अर्थात् मार्ग में दोनों का साथ हो जाता है। क्योंकि अन्वाचयार्थक चकार से निरपेक्ष एक मार्ग के साथ प्रत्येक के अन्वय की उपपत्ति हो सकती है। अन्वाचयार्थक चकार से परामृष्ट अर्थों का परस्पर अपेक्षित होना आवश्यक नहीं है जैसे 'भिक्षामट गां चानय' इस वाक्य में यद्यपि भिक्षाटन तथा गवानयन दोनों का एक ही देवदत्तादि में कर्तृत्व का सम्बन्ध है, तथापि दोनों कार्य परस्पर-निरपेक्ष है। वैसे ही प्रकृत 'तेनैति' इत्यादि श्रुति में परस्पर-निरपेक्ष दोनों का एकमार्गगामित्व होना उपपन्न है। निर्गुण-ब्रह्मज्ञानी के गतागत का निषेध होने से तथा कर्मकाण्ड-प्रधान पुरुषों का धूमयान से जाना प्रतिपादित होने से प्रकृत श्रुति में श्रुत्यन्तर से विरोध-परिहार के लिए ब्रह्मवित् और पुण्यकृत शब्दों का अर्थ दिखलाते हैं— 'तेनैति' इत्यादि श्रुति में ब्रह्मवित् पद से सगुण ब्रह्म का उपासक लिया जाता है, कारण कि निर्गुण ब्रह्मज्ञानी का उत्तरमार्ग अर्थात् देवयान से गमन नहीं होता है। और पुण्यकृत शब्द से प्रतीकोपासक के ग्रहण में तात्पर्य है, क्योंकि केवल कर्म करने वालों के लिए धूममार्ग से जाने का श्रुति में विधान है। इससे ब्रह्मज्ञानी और पुण्यकर्मी दोनों का विद्युल्लोक की प्राप्ति तक उत्तर में साथ-साथ गमन में तात्पर्य रखनेवाला उक्त-वचन है।

अब शंका होती है कि 'सत्यकाम पुरुष उन कर्मों का अवश्य आचरण करें' इत्याद्यर्थक श्रुति से ज्ञान और कर्म के समुच्चय का विधान किया जा सकता है, अर्थात् सत्यशब्द का अर्थ परब्रह्मरूप प्रसिद्ध ही है। उसकी कामना से कर्मों का अनुष्ठान कहा गया है, इससे समुच्चय की प्रतीति होती है। उक्त शंका के उत्तर में कहना है कि श्रुति केवल कर्मवालों के लिए कहती है। सत्य शब्द का ब्रह्मरूप अर्थ नहीं लेना चाहिए, कारण कि 'यह पुण्यब्रह्मलोक सुकृतशाली तुम पुण्यकर्मवालों के लिए है' इत्याद्यर्थक वाक्य-शेष में सत्यलोक कहा गया है। 'यह सत्य से लभ्य है तथा तप से लभ्य है और सम्यक्ज्ञान से लभ्य

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है' इत्याद्यर्थक श्रुति समुच्चय-विधायक होगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उक्त श्रुति में तपः शब्द अग्निहोत्रादि कर्म का अभिधान नहीं करता, किन्तु ध्यान को कहता है। 'मन और इन्द्रियों की एकाग्रता उत्कृष्ट तप है' ऐसा स्मृतियों में कहा गया है। इसलिए ज्ञान और कर्मों का समुच्चय मानने में कोई प्रमाण नहीं है, अपितु इसके विपरीत 'नास्त्यकृतः कृतेन' 'न कर्मणा न प्रजया' अर्थात् अकृत्–मोक्ष, कृतद्वारा–कर्मद्वारा प्राप्य नहीं है। न ही पुत्रोत्पादन द्वारा भी वह लभ्य है'। इत्यादि वचनों से कर्म मोक्ष का साक्षात् उपाय नहीं है, इस प्रकार निषेध किया जाता है। केवल कर्म का ही निषेध है, यह भी कहना उचित नहीं है, कारण कि समुच्चय का विधायक प्रमाण न होने से सभी कर्मों का निषेध उपपन्न होता है। अन्यथा ज्ञान के अंगभूत सकल कर्मों के संन्यास का विधान उपपन्न न होगा।

यदि कहा जाय कि संन्यासाश्रम के कर्मों के साथ समुच्चय मानो, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण कि संन्यासाश्रम के धर्मरूप ध्यान आदि ज्ञान के स्वरूप के साधक हैं, अतः फल के साथ समुच्चय की उपपत्ति नहीं हो सकती। यदि शंका हो कि नित्यकर्मों के विधान की अनुपपत्ति ही, ज्ञान की सहकारिता द्वारा नित्य कर्मों से मोक्षरूप फल होता है, यह कल्पना श्रुति करती है। तो उक्त शंका के उत्तर में कहना है कि प्रभाकर के मत में नित्य कर्मों को फल की अपेक्षा नहीं रहती और भट्ट के मत में विश्वजिन्न्याय से उनके स्वर्गरूप फल की कल्पना की जाती है और वेदान्तियों के मत में नित्य कर्मों का फल संस्कार और विविदिषा। यदि शंका हो कि ब्रह्मज्ञान ही इतिकर्तव्यतास्वरूप होने के कारण कर्मों में मोक्ष-साधनता की कल्पना करेगा। उक्त शंका के उत्तर में कहना है कि कर्मों में मोक्ष-साधनता नहीं है, कारण कि कर्मों के अतिरिक्त शम, दमादि इतिकर्तव्यता विद्यमान हैं। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि विधि के उद्देश्य में करणकारकरूप से प्रसिद्ध कर्मों को इतिकर्तव्य मानने से विधि के साथ विरोध भी आता है। उनको किसी प्रकार मोक्ष का साधन मानने पर भी उदितानुदित

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होम के समान ज्ञान और कर्मों का विकल्प अर्थात् पाक्षिक प्राप्ति क्यों न मानी जाय ? इससे समुच्चय की सिद्धि नहीं हो सकती। समुच्चयवादी के लिए मोक्ष में कर्मों के अध्यास का—सम्बन्ध का निरूपण करना सरल नहीं है, क्योंकि उन कर्मों का फल ब्रह्म और जीव का ऐक्य भी नहीं हो सकता, कारण कि वह तो स्वभाव से ही सिद्ध है। अविद्या या उसके कार्यों की निवृत्ति भी उनका फल नहीं माना जा सकता, कारण कि 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतिवाक्य में अविद्या या उसके कार्य की निवृत्ति ज्ञान का फल कहा गया है। और भी दोष आता है कि समुच्चयवादी के मत में विज्ञान से साध्य फल भी नहीं हो सकता। क्या कर्मरूप उपाधि की निवृत्ति ज्ञान का फल है अथवा मिथ्या अध्यास की निवृत्ति ? या उसके प्रवाह की निवृत्ति ? अथवा मिथ्या अज्ञान के संस्कार की निवृत्ति ? कि वा ब्रह्मस्वरूप प्रकाश ?

सिद्धान्ती का कहना है कि प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सत्यवस्तु होने से ज्ञानद्वारा कर्मरूप उपाधि की निवृत्ति का सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी संभव नहीं, क्योंकि मिथ्या अध्यास क्षणिक होता है, इसलिए स्वयं निवृत्त हो जाता है। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रवाह का प्रवाही की निवृत्ति के अतिरिक्त पृथक् कोई उच्छेद-विनाश नहीं है। चौथा पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि रजतादि का संस्कार शुक्ति आदि के ज्ञान से निवृत्त होते नहीं देखा गया है। ज्ञान के अध्यास द्वारा उत्पन्न संस्कार से निवृत्ति मानने में संस्कार को ही मुक्ति का कारण मानना होगा। इससे "ज्ञानादेव कैवल्यम्" इस शास्त्र से विरोध प्राप्त होगा। पाँचवाँ पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। अतः किसी भी प्रकार से ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता। मोक्ष की प्राप्ति केवल जीव-ब्रह्म के ऐक्यज्ञान से होती है। "ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः" "ज्ञानादेव कैवल्यम्" इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३५. शांकरवेदान्त में कर्मों की उपयोगिता

प्राणी-मात्र का परम पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति अद्वितीयात्मतत्त्व के ज्ञान से होती है। क्योंकि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् केवल ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अन्य से नहीं। अब प्रश्न है कि जब ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, तब ज्ञान भी किसी साधन से उत्पन्न होता है? या स्वयं ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके उत्तर में आचार्यों का कहना है कि अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही ज्ञान का उदय होता है। अन्तःकरण में तीन प्रकार के दोष होते हैं—मल, विक्षेप और आवरण। मल नाम है—जन्मजन्मान्तर के अशुभ कर्म अर्थात् वेदशास्त्रनिषिद्ध कर्म। विक्षेप नाम है—बुद्धि की चञ्चलता का, जैसे अस्थिर जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं भासित होता, उसी प्रकार अस्थिर बुद्धि में चैतन्य प्रतिबिम्बित नहीं होता। चैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त अद्वितीय आत्माकार बुद्धि का नाम ज्ञान (वृत्तिज्ञान) है और आवरण नाम है—अज्ञान का।

उक्त तीनों अर्थात् मल, विक्षेप और आवरण की निवृत्ति क्रमशः नित्य, नैमित्तिक, और प्रायश्चित कर्म, उपासना और ज्ञान से होती है। अतः उक्त तीनों प्रकार के कर्मज्ञानोदयपर्यन्त अवश्यकर्तव्यत्वेन ग्राह्य हैं। यद्यपि कर्म मोक्ष के प्रति साक्षात्साधन नहीं हैं, तो भी परम्परया तो साधन है ही। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' अर्थात् पापकर्मों का नाश होने से पुरुषों को ज्ञान होता है, इत्यादि स्मृतियों में पापक्षय रूप संस्कार द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति में कर्मों का उपयोग स्पष्ट है। कर्मों का संस्कार द्वारा ज्ञान-सिद्धि का अंग होना भगवान् ने भी श्रीमुख से गीता में कहा है—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः" अर्थात् अपने-अपने कर्मों में तत्पर पुरुष सिद्धि को प्राप्त करता है। यहां पर स्वंपद से नित्यकर्म का ही ग्रहण है। सिद्धिपद से अन्तःकरण की शुद्धि अभीष्ट है। आगे चलकर भगवान कहते हैं—"सिद्धि

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे" सिद्धि अर्थात् चित्तशुद्धि को पाकर ब्रह्म-प्राप्ति का प्रकार मुझ से सुनो।

"बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्यं समुपाश्रितः ॥"

विशुद्ध बुद्धि–अन्तःकरण से युक्त हो और धृति से अपना नियमन करके ध्यानयोग में तत्पर हो वैराग्य को प्राप्त करो। "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" यथार्थ रूप से मुझको जानकर अनन्तर मेरे साथ ऐक्य को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भगवान् की दिखाई हुई प्रक्रिया से नित्यकर्मों के द्वारा चित्त की शुद्धि को प्राप्त कर ध्यानयोग आदि सहकारी की सम्पत्ति मिलने से तत्त्वज्ञान का उदय होने से मोक्ष-प्राप्ति में कर्मों का उपयोग स्पष्ट ही है।

"प्रत्यक् प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥"

वर्षा-काल की समाप्ति में जैसे मेघ विलीन हो जाते हैं, वैसे ही यज्ञादि कर्म बुद्धि की—अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा परमात्मा विषयक लगन उत्पन्न कराकर कृतार्थ होकर अस्त हो जाते हैं।

जो आचार्य शंकर पर आक्षेप करते हैं कि वे नास्तिकों की तरह कर्मों के विरोधी हैं, परंतु उनका यह आक्षेप निर्मूल है, क्योंकि वे चित्तशुद्धि के लिए कर्मों को अवश्यकर्तव्य मानते हैं। शंकर का तात्पर्य यही है कि अन्तःकरण की शुद्धि निष्कामकर्म से ही होती है। जिन पुरुषों के वर्तमान शरीर में निष्कामकर्म का यदि अभाव है और उनका अन्तःकरण शुद्ध है, तो वे जन्मान्तर में निष्कामकर्म का सम्पादन भली भाँति कर चुके हैं, ऐसा समझना चाहिए।

कर्म का वीज देहाभिमान है, उसका अभाव हो जाने पर स्वभाव से ही उस समय कर्म का त्याग हो जाता है। वह मनुष्य कर्म को नहीं छोड़ता, किन्तु कर्म ही मनुष्य को छोड़ देता है। इसी का नाम नैष्कर्म्य है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए निष्कामकर्म की अवश्य-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्तव्यता का विधान आचार्यों ने किया है। जिस प्रकार काँटे से काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार निष्कामकर्म के द्वारा ही देहाभिमान हटाया जा सकता है। परन्तु केवल निष्कामकर्म से ही मनुष्य जीवन की कृतार्थता नहीं होती, अपितु आत्म-ज्ञान से ही कृतार्थता है। इसलिए भगवान् ने गीता में कहा है—"सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते।" हे अर्जुन! समस्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। तात्पर्य यही है कि समस्त कर्तव्य कर्मों का फल आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाना है। जब निष्काम कर्म के द्वारा मनुष्य की चित्त की शुद्धि हो जाती है तब मनुष्य की प्रवृत्ति आत्मज्ञान की ओर अग्रसर स्वयं होने लगती है।

---

३६. ज्ञान में संन्यास का उपयोग

कर्म का उपयोग चित्तशुद्धि के द्वारा ब्रह्म-विद्या में है, यह मत शांकर वेदान्त में स्वीकार किया गया है। परन्तु संन्यास का ब्रह्मविद्या में किस के द्वारा उपयोग है? अर्थात् अदृष्ट के द्वारा है या दृष्ट के द्वारा है? इस के उत्तर में कुछ शांकर-वेदान्तियों का कहना है कि ब्रह्मविद्या के प्रादुर्भाव में प्रतिबन्धक अनेक पाप हैं, अतः उनमें से अनेक यज्ञ-आदि के अनुष्ठान से निवृत्त होते हैं और कुछ संन्यास जनित अपूर्व से निवृत्त होते हैं। इसलिए संन्यास भी चित्त की शुद्धि द्वारा ही ब्रह्मविद्या में उपयोगी है। इस परिस्थिति में गृहस्थादि-कर्मों के अवकाश काल में श्रवणादि का अनुष्ठान भले ही करें, तथापि उस जन्म में उनको ब्रह्म-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विद्या की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु दूसरे जन्म में सन्यास लेकर ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है। जिन जनकप्रभृति गृहस्थाश्रमियों को ब्रह्म विद्या की प्राप्ति हुई है, उनको पूर्वजन्म के संन्यास से ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति हुई है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए संन्यास-जनित अपूर्व का ब्रह्मविद्या में व्यभिचार नहीं है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि अदृष्ट के द्वारा संन्यास श्रवण का अंग है। क्योंकि "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु: समाहित: श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्" इस श्रुति में संन्यास का उपरति शब्द से कथन होने के कारण, वह साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत ही है, अत: 'सहकार्यन्तरविधि:' इस सूत्र के भाष्य में श्रवण आदि के अनुष्ठान में उपयोगी सामान्यज्ञान से युक्त सन्यासी के लिए बाल्य (श्रवण) और पाण्डित्य (मनन) की अपेक्षा तीसरे निदिध्यासन का विधान किया जाता है, क्योंकि भूतकालीन ब्राह्मणों ने साधारण रूप से आत्मा को जानकर तत्त्वसाक्षात्कार के लिए संन्यास का ग्रहण किया था, अत: आधुनिक मुमुक्षु ब्राह्मण भी 'संन्यास का ग्रहण करके श्रवणादि का अनुष्ठान करें।' "तस्माद् ब्राह्मण:" इसके पूर्व में "भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस प्रकार संन्यास का अधिकार है। ऐसा भाष्य में प्रतिपादन किया गया है।

त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासत: ।
जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता ॥"

अर्थात् जो ऐहिक और आमुष्मिक विषय-भोग का त्याग करने की इच्छा रखता है, जो संपूर्ण नित्यनैमित्तिक क्रियाओं का परित्याग करके स्थित है और जो जीव-ब्रह्म के ऐक्य को जानने की इच्छा करता है, उसी का वेदान्तशास्त्र में अधिकार है। इस प्रकार वार्त्तिककार की उक्ति से ज्ञात होता है कि संन्यास-जनित अपूर्व का ज्ञान के प्रति साधनभूत वेदान्त के श्रवणादि में अधिकारी के विशेषण रूप से कथन है, अत: संन्यास का विद्या में ही उपयोग है।

विवरणकार प्रकाशात्मयति का कहना है कि श्रवणादि के अंग होने के कारण संन्यास का फल ब्रह्मज्ञान सिद्ध होता है, इस प्रकार इन की

Prof. Amodvardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उक्ति में अनन्य व्यापाररूप से श्रवणादि की उत्पत्ति कराता हुआ सन्यास क्रिया में ही उपयोगी है। जब दृष्ट द्वार मिल जाता है, तब तो अदृष्ट द्वार की कल्पना व्यर्थ ही है। यदि अन्य आश्रमस्थ होते हुए भी आलस्य रहित किसी बुद्धिमान् धीरपुरुष को कर्मजाल में रहते हुए श्रवणादिकी उत्पत्ति हो सकती है, तो यह नियम मानना चाहिए कि चारों आश्रमों में संन्यास-आश्रम का ग्रहण करके ही श्रवणादि का सम्पादन करना चाहिए।

०——०

३७. मोक्ष का स्वरूप

आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या उन दोनों के सम्मिलित रूप का नाम मोक्ष है अथवा भिन्न का। केवल एक मानने में भी प्रश्न होता है कि क्या केवल आत्यान्तिक सुख प्राप्ति ही मोक्ष है। या आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही? उत्तर में कहा जाता है कि केवल आत्यन्तिक सुख को ही मोक्ष नहीं कह सकते। कारण यह है कि आत्यन्तिक सुख रहने पर भी यदि आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति न हुई, तो दुःख के लेश रहने से वह सुख आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। सब प्रकार के दुःखों का लेश भी असंस्पृष्ट जो सुख है, उसी को आत्यन्तिक या निरतिशय कहा जाता है। किसी प्रकार के दुःख का लेश रहने पर वह सातिशय हो जाता है। इसलिए किसी प्रकार भी वह निरतिशय या आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यदि यह कहा जाय कि इतर सब सुखों की अपेक्षा अधिक होने के कारण, लेशतः दुःख रहने पर भी वह निरतिशय कहा जा सकता है, क्योंकि लेशतः दुःख निरतिशय सुख के स्वरूप में कुछ न्यूनता-सम्पादन नहीं कर सकता, किन्तु सुख के अनुभव में ही कुछ न्यूनता ला सकता है। इस प्रकार लेशतः दुःख रहने पर भी सर्वाधिक निरतिशय सुख को मोक्ष माना जाय। तो किसी प्रकार केवल सुख को मोक्ष कह सकते हैं, परन्तु वह मोक्ष शब्द का स्वारसिक अर्थ नहीं हो सकता। मोक्ष शब्द का स्वारसिक अर्थ है—मुक्तता, अर्थात् सब प्रकार के दुःखों से छूटना। यही 'मुच्लृ' धातु का अर्थ है और जहां दुःख का लेश मात्र भी है, वहां मुक्ति कहां ? लेशतः दुःख विद्यमान रहने पर भी प्रगाढ़सुख के अनुभव-काल में उसकी प्रतीति नहीं होने से वह अविद्यमान-सा रहता है, इसलिए वह आत्यन्तिक सुख या मोक्ष कहा जा सकता है, यदि ऐसा (उक्त प्रकार) कहें, तो किसी प्रकार हो सकता है, किन्तु वह भी उन्ही के मत में सम्भव है, जो आत्मा में परस्पर भेद मानते हैं। जो आत्मा को एक मानते हैं, उनके मत में नहीं। कारण यह है कि आत्मैक्यवादी के मत में प्रतीयमान भेद को औपाधिक मानना आवश्यक होता है अन्यथा अद्वैत-सिद्धान्त भंग हो जायगा, औपाधिक भेद का भी विलय होने से एक अखण्ड पूर्ण स्वतन्त्र सर्वनियन्ता परमेश्वर ही नित्य रह जाता है। इस अवस्था में आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति स्वयं हो जाती है। अतएव केवल निरतिशय सुख-प्राप्ति ही मोक्ष इनके मत में नहीं बनता। दूसरे शब्दों में केवल सुखस्वरूप मोक्ष मानने वालों को चित् और जड़ में भी भेद अवश्य मानना होगा, क्योंकि अभेद मानने में जड़ का आरोपित होना अनिवार्य हो जायेगा। और यदि मोक्षावस्था में आरोपित वस्तु का भान नहीं होता, तो सुख भी मोक्षावस्था में उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी अचेतन होने से आरोपित ही होगा। इस से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और अनात्मा तथा परस्पर आत्मा में भी जो भेद मानते हैं, उन्हीं के मत में केवल आत्यन्तिक सुख कथमपि मोक्ष हो सकता है और जो इन में भेद नहीं मानते, उनके मत में केवल सुख मोक्ष नहीं हो सकता।

Prof. Amodavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मोक्षावस्था का प्रतिपादन करते हुए श्रुति कहती है—"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः" मोक्षावस्था में प्रिय और अप्रिय अर्थात् सुख और दुःख का स्पर्श नहीं होता। जिस अवस्था में सुख या दुःख का लेश भी नहीं रहता, उसी को कैवल्य या मोक्ष कहते हैं। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्" तात्पर्य यह है कि जहाँ सबकुछ आत्मा ही हो जाता है, वहाँ किस से किस को देखे, किस से किस को जाने। यह श्रुति मोक्षावस्था में दर्शन और वृत्ति ज्ञानादि का अभाव-बोधन करती है। परन्तु जड़ होने के कारण नहीं, 'अपितु सर्वमात्मैवाभूत्' सब कुछ आत्मा ही हो जाता है इस लिए दर्शनादि के साधन न रहने के कारण। यह सर्वात्मैक्यदृष्टि-प्रयुक्त ज्ञानादि के ही अभाव का बोधन करती है। जब सर्वात्मैक्यदृष्टि-पराकाष्ठा को प्राप्त कर जाती है, तब द्रष्टा और दृश्य का भान नहीं होता। वहाँ दृष्टि स्वरूपतः विद्यमान रहने पर भी दृष्टि शब्द से व्यवहार करने योग्य नहीं रह जाती।

मोक्ष में कुछ अपूर्व वस्तु की प्राप्ति नहीं होती किन्तु मूलस्वरूप में जीवात्मा का जो अवस्थान है, वही मोक्ष कहा जाता है। उस अवस्था में कुछ अपूर्व प्राप्तव्य नहीं रह जाता, इसलिए अज्ञान या अविद्या का नाश होना ही मोक्ष है, यह सिद्ध होता है।

श्री सुरेश्वराचार्य ने भाष्यवर्तिक में लिखा है—

"अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः"। अर्थात् अविद्या के नाश का नाम मोक्ष है, और अविद्या का नाम बन्ध है।

अब प्रश्न उठता है कि जिस अविद्या-निवृत्ति को मोक्ष माना गया है, वह अविद्या की निवृत्ति क्या है? शंका का भाव यह है कि यदि अविद्या-निवृत्ति पदार्थ आत्मरूप माना जाय तो अविद्या-निवृत्ति ज्ञान जन्य नहीं होगी, क्योंकि वह नित्य सिद्ध हो रही है। यदि आत्मा से अतिरिक्त माना जाय तो द्वैतापत्ति होगी। उक्त प्रश्न के उत्तर में ब्रह्म-सिद्धिकार का मत है कि अविद्या निवृत्ति-आत्मा ही है, आत्मा से

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अतिरिक्त नहीं। न्यायमकरन्दकार आनन्द बोधाचार्य का मत है कि अविद्यानिवृत्ति सद्, असद्, सद्सत्, और अनिर्वचनीय इन चारों से भिन्न पञ्चम प्रकार की है। इन का तात्पर्य है कि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनमें उत्पत्ति नाम का एक भाव रूप विकार है, जो केवल एक ही क्षण में अर्थात् उत्पत्त्यवच्छिन्न काल में ही रहता है, सर्वदा नहीं रहता, यह अनुभव-सिद्ध है, वैसे ही निवृत्ति भी पदार्थों का भावरूप धर्म ही है, जो निवृत्त्यवच्छिन्न काल में ही रहता है, अन्य काल में नहीं। उत्पत्ति और निवृत्ति आदि और अन्तकाल को छोड़कर अन्य काल में भी यदि रहती, तो चिरकालोत्पन्न घट में और चिरशकलित घट में 'उत्पन्न होता है और नष्ट होता है' ऐसा व्यवहार प्रसक्त होता। अतः अविद्यानिवृत्ति, जो अत्यन्त क्षणिक पदार्थ है, उसकी अनुवृत्ति मोक्षकाल में नहीं हो सकती, अतः अनिर्मोक्ष-प्रसग नहीं है।

अब शङ्का होती है कि यदि अविद्या-निवृत्ति क्षणिक मानी जाय, तो अविद्या-निवृत्तिरूप मोक्ष स्थायी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होगा। इसके उत्तर में कहना है कि अविद्या-निवृत्ति ही स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, अतएव अविद्या-निवृत्ति ज्ञान-जन्य मानी गयी है, क्योंकि अविद्या-निवृत्ति न तो सुख है और न दुःखाभाव है, किन्तु अखण्ड आनन्द को आवृत्त करने वाली और सांसारिक दुःख के हेतुभूत अविद्या का उच्छेद होने से अखण्ड आनन्द का प्रकाश और सांसारिक दुःख की निवृत्ति हो जाती है, इस लिए आनन्द की प्राप्ति और दुःखाभाव में उपयोगी होने से अविद्या निवृत्ति को ज्ञानसाध्य माना गया है। "अविद्यास्तमयो मोक्षः सा संसार उदाहृता, विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते" (ब्र. सि. १४२) इस ब्रह्म-सिद्धि वाक्य की व्याख्या करते हुए चित् सुख मुनि का कहना है कि संसार की निवृत्ति का नाम मोक्ष है, अविद्या-निवृत्ति का नाम मोक्ष नहीं है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३८. जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

जिस जीव को जीव-ब्रह्मैक्यरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो गया हो और प्रारब्धवश जबतक शरीर वर्तमान है, तबतक उसकी जीवन्मुक्ति अवस्था मानी जाती है। क्योंकि 'जीवन्मुक्ति' शब्द का यही अर्थ है कि जीवनदशा में ही बन्धनों से मुक्ति की उपलब्धि हो जाना। यद्यपि शंकराचार्य ने अपने भाष्यसूत्र में कहा है कि–"पश्वादिभिश्चाविशेषात्" अर्थात् मुक्त पुरुषों के तथा पशु आदि प्राणियों के खान-पान आदि रूप व्यवहार में कोई अन्तर नहीं है। तथापि जीवन्मुक्त पुरुषों की सांसारिक भोग-पदार्थों में मिथ्याबुद्धि होने के कारण राग-द्वेष-पूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती। मुक्त पुरुषों के साथ जगत् का सम्बन्ध किस प्रकार का होता है? इस विषय में शंकराचार्य ने कहा है कि—मुक्तपुरुष के लिए यह जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार अग्नि के द्वारा घृत का काठिन्य नष्ट हो जाता है।

तत्त्वज्ञान के बाद भी प्रारब्धकर्म का शेष रहना श्रुतिस्मृति से सिद्ध है। क्योंकि "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" अर्थात् प्रारब्धकर्म को छोड़कर शेष (संचित) कर्म का नाश उक्त श्रुति और स्मृति में कहा गया है। यदि प्रारब्ध कर्म का भी नाश माना जाय, तब तो ज्ञानोदय के द्वितीयक्षण में ही तत्त्ववेत्ता के शरीर का पात हो जायगा। फिर ज्ञान एक प्रकार का रोग है, ऐसा मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि तत्त्वज्ञानी कोई संसार में रहेगा नहीं; क्योंकि जिसको तत्त्वज्ञान होगा, वह उसी क्षण में ही मर जायगा। फिर "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इत्यादिवाक्य से ब्रह्मज्ञानी के पास ब्रह्मज्ञान के लिए जिज्ञासुओं के जाने की प्रेरणा व्यर्थ ही होगी।" "विमुक्तश्च विमुच्यते" इस श्रुति में विमुक्तपद से जीवन्मुक्तपुरुष का ही कथन है। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्, नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यादि वाक्य के अनुसार प्रारब्धकर्म का भोग के बिना नाश नहीं

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कहा गया है। अतः ज्ञान से उन्हीं संचित कर्मों का नाश होता है, जिन्होंने अपना फल देना प्रारम्भ नहीं किया है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य अपरोक्षब्रह्मज्ञान से मूलाज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर मूलाज्ञान के कार्य प्रारब्धकर्म की भी निवृत्ति माननी होगी। फिर प्रारब्ध के नाश के अनन्तर ज्ञानी का शरीर बना रहता है—यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। उक्त शंका उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक प्रतिबन्धकरहित और दूसरा प्रतिबन्धकसहित। ज्ञान के फल अज्ञान की निवृत्ति में तथा मोक्ष में प्रारब्ध को प्रतिबन्धक माना गया है। इस प्रतिबन्धक-प्रारब्ध के रहते हुए महावाक्य से जन्य ज्ञान भी आवरणशक्तिनाश करके अज्ञान के कार्य-विक्षेपादि प्रारब्धकर्म को नाश नहीं कर पाता, ऐसी दशा में उसे प्रतिबद्ध ज्ञान कहते हैं। जैसे मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धक से युक्त अग्नि दाहकार्य को उत्पन्न नहीं करती। वैसे ही प्रतिबन्धक प्रारब्ध कर्म से युक्त महावाक्यजन्यज्ञान भी अज्ञान के कार्य विक्षेपादि (प्रारब्ध) को निवृत्त नहीं करता। आवरण-मात्र के निवृत्ति से ज्ञान का स्वरूप भी सिद्ध हो जाता है।

शांकरवेदान्त में मुक्ति के जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दो भेद मिलते हैं। जीवन्मुक्त प्राणी के लिए अविद्या की निवृत्ति एवं ब्रह्मबोध होने पर कर्मादि का बन्धन समाप्त हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार छोड़े हुए बाण की निवृत्ति वेग का क्षय होने पर होती है, उसी प्रकार जिस कर्म का फल निवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति शरीरपात होने पर ही होती है। इस प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता, तब तक मुक्तपुरुष को भी जीवनधारण करना ही पड़ता है।

शंकराचार्य ने जीवन्मुक्ति की स्थिति को कुम्भकार के चक्र के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार एक बार चलाया हुआ कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं रुकता, जबतक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार मुक्त पुरुष को प्रवृत्तफल वाले कर्मों के भोग के लिए जीवनधारण करना पड़ता है। यही जीवन्मुक्ति की

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्थिति है। जब जीवन्मुक्त प्राणी का प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है, तो उसका देहपात होता है और वह विदेहकैवल्य की उपलब्धि करता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति में प्रारब्धकर्म का भोग समाप्त होने तक जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है और विदेह-मुक्ति में प्राणी प्रारब्धकर्म के भोग समाप्त करके शरीर-बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति का प्रधान भेद है।

शंकराचार्य के परवर्त्ती आचार्यों ने शांकरवेदान्तसमस्त जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है। सर्वज्ञात्ममुनि तो जीवन्मुक्ति को ही अस्वीकार करते हैं। सर्वज्ञात्ममुनि का कहना है कि अविद्या के विरोधी तत्वसाक्षात्कार के उदित होने पर लेश रूप से भी अविद्या की अनुवृत्ति नहीं हो सकती, अत: जीवन्मुक्ति का प्रतिपादक शास्त्र श्रवणादि-विधि केवल अर्थवादमात्र है, क्योंकि जीवन्मुक्ति के प्रतिपादन में शास्त्र का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार जिस पुरुष ने निदिध्यासन किया है, उस पुरुष को ब्रह्म-साक्षात्कार की उत्पत्तिमात्र से विलास और वासना के साथ अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। शंकराचार्य और सर्वज्ञात्ममुनि के सिद्धान्तों के इस अंश में सम्मति है कि ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर अविद्यालेश शेष नहीं रहता। आचार्य शंकर के मतानुसार ब्रह्म अखण्ड, अनन्त एवं प्रकाशस्वरूप है, अत: अखण्डानन्त स्वयंप्रकाशस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर अविद्यालेश के शेष रहने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

आचार्य विद्यारण्य ने देहेन्द्रियादि-संघात के उपादान-कारण अविद्या की निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्ति की असंगता का निराकरण करते हुए कहा है कि तत्वसाक्षात्कार होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का नाश होने तक अविद्यालेश की अनुवृत्ति होने के कारण जीवन्मुक्ति की सिद्धि होगी। इस प्रकार विद्यारण्य के मतानुसार प्रारब्धकर्म, पूर्णतया अविद्या निवृत्ति का बाधक है। तत्वसाक्षात्कार होने पर भी अविद्या लेश की अनुवृत्ति होती है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मण्डनमिश्र ने जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में दो विरोधी विचारों का उल्लेख किया है। जीवन्मुक्ति का निराकरण करते हुए एक ओर उन्होंने सद्योमुक्ति का समर्थन किया है, तो दूसरी ओर प्रकारान्तर से जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन भी किया है। सद्योमुक्ति का समर्थन करते हुए मण्डनमिश्र का कथन है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर प्राणी के समस्त संचित, संचीयमान एवं प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है। ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि समस्त कर्मों का क्षय होने पर प्राणी का देह-पात हो जाता है और वह विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है। उक्त तर्क का ही समर्थन करते हुए कुछ विद्वानों का कथन है कि "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इस श्रुति तथा "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" इत्यादि स्मृतिवाक्य के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय सिद्ध होता है। परन्तु श्रुति और स्मृति के वाक्यों के पारस्परिक सामञ्जस्य के आधार पर यदि इस विषय का अध्ययन किया जाय, तो उक्त मत का अनौचित्य स्वयं सिद्ध होता है। क्योंकि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इस श्रुति-वाक्य तथा "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इस स्मृतिवाक्य के अनुसार प्रारब्ध-कर्मों का ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी विना भोग किये नाश नहीं होता। अतः मण्डनमिश्र प्रभृति विद्वानों का सद्योमुक्ति का विचार समुचित नहीं प्रतीत होता।

मण्डनमिश्र के जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त शंकराचार्य के जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त से भिन्न है। मण्डनमिश्र का विचार है कि जीवन्मुक्ति की स्थिति में, शेष अविद्यालेश में प्राणी में वाह्य तथा आभ्यन्तर किसी प्रकार का भी वन्धन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। परन्तु अविद्या का शेष रहने के कारण प्रारब्धकर्मों का भोग आवश्यक है। मण्डन-मिश्र का कहना है कि अविद्यालेश के ही कारण जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है और जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है; तो उस अविद्यालेश की भी पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है, जिसके कारण प्राणी प्रारब्ध कर्मों का भोग करता है। अतः स्पष्ट हुआ कि

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मण्डनमिश्र का जीवन्मुक्तिसम्बन्धी उक्त मत शंकराचार्य से पूर्णतया भिन्न है। सदानन्दप्रभृति शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भी कहा है कि जीवन्मुक्त प्राणी को अखण्डब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसके संचित कर्म, संशय, विपर्य आदि नष्ट हो जाते हैं और देह आदि समस्त बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है।

---

३६. मृत्यु के अनन्तर जीवों की त्रिविध गति।

मृत्यु के अनन्तर जीव अपने कर्मानुसार विवश होकर दूसरा शरीर ग्रहण करता है और पहले शरीर को छोड़ देता है।[1] जैसे चलते समय मनुष्य एक पैर आगे रख कर दूसरा पैर उठाता है और जैसे जोंक अगले तिनके को पकड़कर पहले पकड़े हुए को छोड़ती है, वैसे ही जीव भी अपने कर्म के अनुसार किसी शरीर को प्राप्त करके इस शरीर को छोड़ देता है।

मृत्यु के पूर्व मरणासन्न जीव के लक्षण सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद्[2] में कहा गया है—वाणी मन में लीन हो जाती है तथा मन प्राण

१–देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः। देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥ व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति। यथा तृणजलूकेवं देही कर्मगतिं गतः ॥ भागवत १०।१।३९–४०।

२–छान्दोग्योपनिषद् ६।८।६।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में, प्राण तेज में और तेज परदेवता (आत्मा) में लीन हो जाता है। जब वाणी मन में लीन हो जाती है, तब जीव बोल नहीं सकता और अन्दर दुःख का अनुभव करता है। मन के प्राण में लीन हो जाने पर दुःख का अनुभव भी जाता रहता है और केवल उर्ध्वगामी प्राणवायु का सञ्चार होता है। प्राण जब तेज में लीन हो जाता है तब श्वास भी बन्द हो जाता है और तेज की उपस्थिति के कारण शरीर के कुछ भाग (छाती) गरम रहता है। तेज भी जब आत्मा में लीन हो जाता है तब शरीर ठण्डा हो जाता, तब समझना चाहिये कि जीव शरीर से निकल गया।

जीवों के चार विभाग किये हैं—एक आत्मतत्ववेत्ता ज्ञानी, दूसरे अहंग्रहोपासक, तीसरे यज्ञादिका अनुष्ठान करने वाले कर्मी, और चौथे निषिद्ध कर्मों को करने वाले अज्ञानी। यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त करने वाले ज्ञानी महापुरुष के प्राण शरीर से निकल कर कहीं परलोक आदि में नहीं जाते, यही पर लीन हो जाते हैं, क्योंकि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हो जाने पर सत्रह तत्त्वों (१० इन्द्रियाँ, पंचप्राण मन, बुद्धी) का सूक्ष्म शरीर भङ्ग हो जाता है। इसी सूक्ष्म शरीर का नाम अतिवाहिक देह है। इसी अतिवाहिक शरीर के द्वारा जीव लोकपरलोक आदि में गमन करता है। ज्ञानी के सूक्ष्म शरीर के विलय हो जाने पर गमन संभव नहीं[3]। ज्ञानी के सूक्ष्मशरीर के समस्त तत्त्व अपने-अपने मूलतत्त्व में मिल जाते हैं। जीवात्मा की जो प्रकृतिस्थ होने के कारण पृथक् सत्ता प्रतीत होती थी, वह नष्ट हो जाती हैं। जीवात्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है[4]।

दूसरे जो अहंग्रह उपासक हैं, उनको इस शरीर से निकलने के अनन्तर अग्नि के अभिमानी देवता दिन के अभिमानी देवता तक, दिन

३– न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति बृ० उ० ४।४।६। 'अत्रैव समवलीयन्ते' बृ० उ० ३।२।११।

४– ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति बृ० उ० ४।४।६।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के अभिमानी देवता शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता तक, शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता उत्तरायण के अभिमानी देवता तक, उत्तरायण के अभिमानी देवता संवत्सर के अभिमानी देवतातक और संवत्सर के अभिमानी देवता सूर्यलोक तक, पहुँचा देता हैं। आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवता तक चन्द्राभिमानी देवता विद्युदभिमानी देवता तक पहुँचाते हैं। विद्युल्लोक से दिव्य चिन्मय अमानव पुरुष इस उपासक को कार्यब्रह्मलोक में पहुँचा देते हैं[५]। इसी मार्ग को उत्तरायण या देवयानमार्ग कहा गया है[६]। कार्यब्रह्मलोक में गये हुए उपासक को सृष्टि और प्रलय को छोड़कर बाकी सब भोग ऐश्वर्यादि कार्यब्रह्म के समान ही प्राप्त होता है[७]। उस कार्यब्रह्म की स्थितिकालतक (महाप्रलयतक) वह उपासक कार्यब्रह्मलोक में भोगों को भोग कर, जब महाप्रलय में उस कार्यब्रह्मलोक का विनाश हो जाता है, तब कार्यब्रह्म के साथ ही अभेद मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। उस उपासक का पुनर्जन्म नहीं होता[८]।

तीसरे वे हैं, जिन्होंने वेदविहित यज्ञादि कर्मों को सकामभाव से करके पुण्य का उपार्जन किया है। वे अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न स्वर्गादि लोकों में जाते हैं तथा वहाँ का सुख भोगकर पुनः मर्त्यलोक में लौटकर मनुष्यादि शरीर को प्राप्त करते हैं[९]। वे दक्षिणायन (धूम या कृष्ण) मार्ग से जाते हैं। उस पुण्यात्मा जीव को धूमाभिमानी देवता रात्रि-अभिमानी देवता तक, रात्रि-अभिमानी देवता कृष्णपक्षाभिमानी देवता तक, कृष्णपक्षाभिमानी देवता दक्षिणायनाभिमानी देवता तक, दक्षिणायनाभिमानी देवता पितृलोकाभिमानी देवता तक; पितृलोकाभिमानी देवता आकाशाभिमानी देवता तक और आकाशाभिमानी देवता चन्द्रलोक पहुँचाता है। यहाँ चन्द्रलोक से ब्रह्मलोक

५– छान्दोग्यो० ५।१०।१–२।

६– ब्र०सू० ४।३।१।१।

७– जगद्व्यापार वर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ब्र० सू० ४।४।७।१७

८– न च पुनरावर्त्तते छा० ८।१५।१। अनावृत्तिशब्दात् ब्र० ४।४।८।२२

९– गीता ९।२०–२१।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(ब्रह्मा जी के लोक) तक के जितने भी पुनरागमनशील देवताओं के लोक हैं, उन सभी को समझना चाहिये। वे सभी स्वर्ग कहलाते हैं। पुण्यात्मा कर्मी पुरुष इस मार्ग से जाकर वहाँ नियतकालतक स्वर्ग सुख को भोग करके वापस मर्त्यलोक में लौट आता है। लौटने का मार्ग इस प्रकार है—जिन कर्मों के प्रभाव से वे स्वर्गादिलोकों में गये हैं, उन कर्मों का भोग समाप्त हो जाने पर पुनः जिस मार्ग से गये थे, उसी मार्ग से वापस लौट आते हैं[१०]। वे पहले आकाश को प्राप्त होते हैं और आकाश से वायु को, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर अभ्र होते हैं। अभ्र होकर मेघ होते हैं, मेघ होकर वर्षा के जल के साथ वे पृथिवी पर आते हैं और अन्न, वनस्पति आदि रूप से उत्पन्न होते हैं। उन अन्नादिकों को जो-जो खाता है, उसके उदर में जाकर रस, रक्त वीर्यादि के रूप में जीव परिवर्तित होकर वीर्य के द्वारा माता के गर्भ में पहुँचता है। नव मास माता के गर्भ में रहकर पुनः अपने शुभाशुभ कर्मों के भोग के लिए जन्म लेता है[११]। जिसके वीर्य से शरीर धारण करता है, उसी के आकृति वाला होता है अन्य के नहीं[१२]। लौटे हुए उन अनुशयी जीवों में जो शुभकर्म वाले होते हैं अर्थात् जिस फलोन्मुख कर्म से अब शरीर धारण कर रहें हैं, वह कर्म यदि उत्तम फलप्रद है तो उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं और यदि अशुभ कर्म है, तो अशुभ आचरण वाली योनि को प्राप्त होते हैं[१३]।

चतुर्थ गति वाले वे जीव हैं, जो ज्ञान, उपासना, कर्म तीनों से रहित हैं और निषिद्ध कर्मों को करने वाले हैं, वे बारम्बार जन्मते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते है[१४]। इनका परलोकादि में गमन नहीं होता, तृणजलूका न्याय से जन्मान्तर को प्राप्त होते रहते हैं।

१०– तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते० छा० ५।१०।५।

११– छा० ५।१०।६।

१२– ऐ० उ० ४।१। छा० उ० ५।१०।६। शां० भा०

१३– छा० ५।१०।७।

१४– जायस्व म्रियस्व० छा० ५।१०।८

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

४०. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च

भारतीय दर्शनशास्त्र के अनेक आचार्य एवं समालोचकों ने अद्वैतवाद एवं बौद्धसिद्धान्तों के मौलिक वैषम्य की ओर ध्यान न देकर उक्त सिद्धान्तों के कतिपय साम्यों के आधार पर ही शंकराचार्य के अद्वैत-दर्शन के मूल में बौद्धदर्शन के विचार-तथ्यों के दर्शन किए हैं। इसके अतिरिक्त इन समालोचकों ने अद्वैतवाद के संस्थापक आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्धविज्ञानवाद तथा शून्य-वाददर्शन के पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन का अभाव भी उपर्युक्त आचार्यों एवं समालोचकों के मतों का एक प्रधान कारण है। इसके अतिरिक्त उक्त समालोचकों की दृष्टि निज मतस्थापन के सम्बन्ध में पक्षपातपूर्ण भी हो गई है।

'मायावादमसच्छास्त्रम्' इस पद्मपुराण के वाक्य के आधार पर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध और मायावाद को 'असत्शास्त्र' कहा गया है, यह सर्वथा असत्य है। क्योंकि मायावाद असत्शास्त्र कथमपि नहीं है। बौद्धदर्शन के विपरीत मायावाद में सदसद्वाद से विलक्षण अनि-र्वचनीय सत् की प्रतिष्ठा की गई है। अतः मायावाद असत्शास्त्र नहीं कहा जा सकता। इसलिए उक्त पुराण का मत अधिक प्रामाणिक नहीं है। विज्ञानवादी के मतानुसार बाह्य जगत् भी विज्ञानमात्र ही है। जबकि शांकर अद्वैतदर्शन के अन्तर्गत बाह्य जगत् की प्रत्यक्ष व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है। यहाँ तक कि अद्वैतवेदान्त मत के अन्तर्गत जीव के मुख्य होने पर भी प्रत्यक्ष जगत् का निराकरण नहीं होता। समालोचकों ने शांकर अद्वैतवाद एवं मायावाद तथा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद की यत्किञ्चित् भाषाशैली की समानता के आधार पर शंकरा-चार्य को प्रच्छन्न बौद्ध सिद्ध करने का विफल प्रयास किया है। शांकर अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद बौद्धविज्ञानवाद तथा शून्यवाद से पूर्णतया भिन्न हैं। शांकरअद्वैतवाद एवं बौद्ध सिद्धान्तों में मौलिक विरोध है यह विरोध

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसी से स्पष्ट है कि अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य तर्कपाद में शंकराचार्य ने विज्ञानवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों का मार्मिक ढंग से निराकरण किया है।

विज्ञानवाद एवं अद्वैतवाद

अद्वैतवाद के प्रमुख संस्थापक शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य के अन्तर्गत विज्ञानवाद का पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए उसका निराकरण प्रबल तर्कों के आधार पर किया है। परन्तु शंकराचार्य द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद का निराकरण होने पर भी विज्ञानवाद एवं शांकर अद्वैतवाद में बहुत सी समानताएं मिलती हैं। इन दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों में समानता का पाया जाना कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि दोनों ही का मूलाधार एक ही उपनिषद्-साहित्य है। अतः शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्धविज्ञानवाद के अन्तर्गत वैषम्य के साथ साम्य स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए शांकर अद्वैतवाद एव बौद्धविज्ञानवाद दोनों ही दर्शन-पद्धतियों के अन्तर्गत परमार्थसत्य की अद्वतता को स्वीकार किया गया है। इसके साथ-साथ परमतत्व की सर्वव्यापकता भी शांकर अद्वैतवाद एवं विज्ञानवाद दोनों सिद्धान्तों में स्वीकार किया गया है। दोनों मतों के अनुसार परमार्थसत्य वाङ्मनसातीत तो है, परन्तु शांकर अद्वैतदर्शन के अनुसार वह अभाव रूप नहीं है। अद्वैतवादी शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से परमार्थसत्य ब्रह्म को सत्स्वरूप स्वीकार किया है। इसके विपरीत विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्यों ने परम तत्त्व को सत्, असत् एवं सदसद् से विलक्षण कहा है। दोनों ही भौतिक जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। परन्तु दोनों के जगत्-मिथ्यात्व में अन्तर है। विज्ञानवादी बाह्य जगत् की उपलब्धि का ही निराकरण करता है। वह कहता है कि बाह्य जगत् की सत्ता चित्र की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस प्रकार विज्ञानवादी विज्ञप्तिमात्रता का पक्षपाती है परन्तु अद्वैतवादी शंकराचार्य का दृष्टिकोण विज्ञानवादी के उक्त विचार से भिन्न है। शंकराचार्य बाह्य जगत् को मिथ्या तो कहते हैं, परन्तु उनके

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुसार जगत् विज्ञानवादी की तरह कल्पना मात्र नहीं है। जगत् के मिथ्यात्व के द्वारा शंकराचार्य जगत् के नामरूपात्मक प्रपञ्च का ही निषेध करते हैं। इसीलिए शांकरवेदान्त के अन्तर्गत जगत् को सत् एवं असत् (अलीक) से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। इसके विपरीत बौद्ध मत में सब कुछ अनिर्वचनीय है।

बाह्य जगत् की सत्ता को स्वप्नादि के समान सिद्ध करते हुए विज्ञानवादी का विचार है कि जिस प्रकार स्वप्न, माया, मृगजल, गन्धर्वनगर आदि का ज्ञान बाह्यार्थ के बिना ही ग्राह्य-ग्राहक के आकार में परिणत होता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में होने वाले स्तम्भादि ज्ञान भी हो सकते हैं, क्योंकि दोनों का प्रत्ययत्व समान ही है। इस प्रकार विज्ञानवादी ने स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में समानता मानकर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में साधर्म्य की स्थापना की है, परन्तु शांकर अद्वैतवाद-सिद्धान्त के अन्तर्गत यह साधर्म्य मान्य नहीं है। शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के वैधर्म्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्नादि के ज्ञान के समान जाग्रत् अवस्था का ज्ञान हो, यह मत ठीक नहीं है। अपने मत की पुष्टि में शंकराचार्य का कहना है कि स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में वैधर्म्य है। यह वैधर्म्य बाध एवं अबाध रूप हैं। स्वप्नकालिक पदार्थों का जाग्रत् अवस्था में बाध हो जाता है। इसके विपरीत जाग्रत् अवस्था में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तुओं का व्यवहार--काल में बाध नहीं होता। शंकर का मत है कि स्वप्नकालिक अनुभव स्मृतिरूप है और जाग्रत्-काल के अनुभव उपलब्धिरूप है। इस प्रकार विज्ञानवादी के विपरीत शांकर-मतानुसार स्वप्न एवं जाग्रत् का वैधर्म्य पूर्णतया स्पष्ट है।

विज्ञानवादी को परमार्थ एवं संवृत्तिरूप दो सत्ताएं मान्य हैं। परन्तु शंकर पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रतिभासिक रूप से तीन सत्ताएं स्वीकार करते हैं। अद्वैत सिद्धान्त में जो कार्य अविद्या करती है, वही कार्य बौद्ध मत में संवृत्ति करती है। इस प्रकार कुछ अंशों में साम्य होने पर भी शांकरवेदान्त के सिद्धान्त से विज्ञानवाद सिद्धान्त

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मौलिक रूप से भिन्न है। मौलिक भिन्नता के ही फलस्वरूप शंकराचार्य ने विज्ञानवाद का प्रबल तर्कों के आधार पर निराकरण किया है। अतः शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहना सर्वथा निराधार एवं निर्मूल है।

o———o

४१. शांकर-वेदान्त में आचार-पक्ष

आचार-दर्शन वास्तव में जीवन-दर्शन है। वेदान्तसम्मत आचार-पक्ष मानव-मात्र के लौकिक एवं पारलौकिक लक्ष्य की प्राप्ति का हेतु है। 'आ' उपसर्ग पूर्वक चर धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'आचार' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है—शास्त्र सम्मत व्यवहार। आचार, व्यवहार, नीति एवं नैतिकता आदि पर्यायवाची शब्द है।

यद्यपि शांकर-वेदान्त में केवल कर्म अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चय से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह मत स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु अद्वैतवादी शंकराचार्य ने कर्म का महत्व स्वीकार करते हुए अद्वैतदर्शन के अन्तर्गत आचारपक्ष की रक्षा की है। आचार्य शंकर ने अपने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में स्पष्ट कहा है कि कर्मों के द्वारा संस्कृत हुए विशुद्धान्तःकरण वाले उपनिषद्-प्रकाशित आत्मा को बिना किसी प्रतिबन्ध के जानने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर का विचार है कि काम्यवर्जित नित्य कर्म आत्मज्ञानोत्पत्ति के द्वारा मोक्ष के साधक हैं। अतः नित्यकर्म परम्परया मोक्ष का साधन स्वीकार किया गया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शंकराचार्य-परवर्ती अद्वैतवेदान्त के आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने आचार एवं कर्म की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है कि जब मनुष्य स्वाभाविक राग और द्वेष को जीतकर शुभवासना की प्रबलता से धर्म-परायण होता है, तो वह देवकोटि को प्राप्त होता है और जब वह स्वभाव सिद्ध रागद्वेष की प्रबलता से अधर्मपरायण होता है, तो यह असुरत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने भी धर्म-परायण एवं अधर्म-परायणता की व्यवस्था द्वारा कर्म के क्षेत्र में आचार का ही समर्थन किया है। इस प्रकार जो नित्य कर्म करता है, उसका अन्तःकरण फलरागादि से कलुषित नहीं होता। नित्यकर्मों के अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं विशुद्ध तथा आनन्द-रूप आत्मा के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है। अतः यह निर्विवाद है कि अद्वैतदर्शन में आचार-पक्ष के अन्तर्गत कर्म की महत्ता भी स्वीकार की गई है।

अब शंका होती है कि यदि समस्त अस्तित्वरूप जगत् ब्रह्म है तथा अनेकत्वविशिष्ट जगत् आभासमात्र है, तो फिर पुण्य और पाप में कोई वास्तविक भेद नहीं हो सकता। यदि जगत् केवल छायामात्र है तो पाप छाया से भी न्यून है। तब फिर क्यों न मनुष्य पाप के साथ क्रीड़ा करके पाप का आनन्द भोगे, क्यों कि वे सब भी तो छाया मात्र हैं। इस जीवन रूप स्वप्न में धर्म के अन्वेषण के लिए अपने हितों का स्वार्थ त्याग करे, तो हमें क्या लाभ होगा? यदि नैतिक भेद प्रामाणिक है, तो जीवन भी यथार्थ है। यदि जीवन अयथार्थ है, तो वे भी प्रामाणिक नहीं। उक्त शंका के उत्तर में कहना है कि सब प्रकार के आरोप स्वयं निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं, यदि हम संसार के केवल भ्रान्तियुक्त स्वरूप को अस्वीकार कर दें। धर्म और अधर्म का नैतिक महत्व सर्वोपरि उद्देश्य के दृष्टिकोण से ही है।

जीवात्मा तथा ब्रह्म का आध्यात्मिक एकत्व मान लेने पर यह कहा जाता है कि नीतिशास्त्र के आदेश के लिए फिर कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि ब्रह्म ही सब कुछ है, तो फिर नैतिक पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं। इस आरोप का आधार यथार्थता और जीवन के मध्य

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भेद न करने से तथा नित्य और लौकिक के अन्दर भेद न करने से उत्पन्न होता है। शंकर ने यह कभी नहीं कहा है कि लौकिक घटनाओं की निश्चित रूप से अपूर्ण तथा दोष युक्त शृंखला तथा सत्य एवं अकाल ब्रह्म एक ही है। ब्रह्म की एकता का आध्यात्मिक सत्य लौकिक व्यवहार के स्तर पर किसी भी प्रकार से नैतिक भेदों की यथार्थता के ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता। शंकर कहते हैं—अग्नि एक ही है, तो भी हम उसी अग्नि से बचते हैं, जो अग्नि शवों को जलाती है अर्थात् श्मशान की अग्नि को हम त्याज्य मानते हैं, अन्य अग्नि को त्याज्य नहीं मानते हैं। इसी प्रकार अपवित्र स्थानों पर पड़ने वाले सूर्य के प्रकाश से बचते हैं, पवित्र स्थान पर पड़ने वाले सूर्य के प्रकाश से नहीं। ठीक इसी प्रकार यद्यपि परमार्थरूपमें सब वस्तुएं ब्रह्म ही हैं तो भी उन में से कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिनका हम त्याग करते हैं तथा अन्य ऐसी हैं जिनकी हम कामना करते हैं। 'मैं ब्रह्म हूं' इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि क्रियाशील आत्मा का परमार्थ रूप ब्रह्म के साथ सीधा तादात्म्य है (मुख्यसमानाधिकरण्य है), किन्तु उन मिथ्या उपाधियों के दूर हो जाने पर, जो यथार्थ रूप आत्मा का अवशिष्ट रहती है, उनका परस्पर तादात्म्यभाव है।

आचार्य शंकर ने पूर्णता के लिए, अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए कर्ममार्ग की विफलता पर क्यों अनावश्यक रूप में बल दिया है। उन्होंने अनुभव किया कि मीमांसकों ने यह घोषणा करते हुए कर्म-पक्ष के धनुष को आवश्यकता से अधिक झुका दिया कि केवल कर्मकाण्डपरक क्रिया-कलाप हमारी आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त हैं। इसलिए शंकर ने जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मों को अपर्याप्त बताया, वह मीमांसकों के द्वारा वैदिक क्रियाकलाप के ऊपर जो अतिशयोक्ति पूर्ण बल दिया गया था, उसकी प्रतिक्रिया थी। अन्तिम मोक्ष अज्ञान के निवारण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'उच्चतम सत्ता की प्राप्ति केवल मात्र अविद्या को दूर करना ही है'। ब्रह्म के स्वरूप के विषय में जो ज्ञान है, उसके दूर हो जाने पर जीवात्मा अपने निजी स्वरूप में

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अवस्थित होता है। और सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । ब्रह्म का ज्ञान किसी ऐसी नई वस्तु को प्राप्त करना नहीं है, जो हमारे पास नहीं थी, वरन् अपने उस सत्यस्वरूप को पहचान लेना है जिस से हम पहले अनभिज्ञ थे । अविद्या का नाश हो जाने पर विद्या स्वयं प्रकाश देती है, ठीक जिस प्रकार एक रस्सी के टुकड़े का उस समय यथार्थ ज्ञान हो जाता है जब कि 'यह साँप है' इस प्रकार का मिथ्या विचार खण्डित हो जाता है । केवल कर्म, जिसके कार्य क्षण भंगुर घटनाएं हैं, हमें नित्य मोक्ष की, जो एक तथ्य है, प्राप्ति नहीं करा सकता । कर्म अविद्या का नाश नहीं कर सकता, क्योंकि दोनों परस्पर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी नहीं हैं ।

शंकर स्वीकार करते हैं कि कर्तव्यकर्मों (नित्यकर्मों) का पालन हमें पूर्व जन्म के पापों के फलों को नष्ट कर देने में सहायक होता है; किन्तु ऐसे पुरुष जो विशेष पदार्थों की अभिलाषा रखते हों, उस की प्राप्ति के लिए नियतकर्मों (काम्य कर्मों) को कर सकते हैं। ये दोनों प्रकार के कर्म मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति कुछ समय के लिए कर सकते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी उसे नित्य जीवन की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते ।

आचार्य शंकर हमें अपनी स्वार्थपरता का दमन करने के लिए कहते हैं और इस कार्य के लिए यदि एकान्तवास तथा अवकाश-ग्रहण की आवश्यकता है । उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधन के रूप में इन्हें अपनाने का आदेश देते हैं। ऐसे पुरुष के लिए, जिसने अपने को स्वार्थंपरता से मुक्त कर दिया हो, सांसारिक जीवन व्यतीत करने की छूट है । उसकी मनोवृत्ति न तो संसार को प्राप्त करने की ओर न इससे भागने ही की होगी, वरना संसार से मोक्ष प्राप्त कराने की होगी । शंकर हमें संसार के अन्दर रहने को तो कहते है, किन्तु संसार का बन कर रहने का नहीं । वैसे ही जैसे जल का एक बिन्दु कमल-पत्र के ऊपर रहता है किन्तु उसके अन्दर लिप्त नहीं हो जाता। ज्ञान का कार्य अपनी आंखें खुली रख कर स्वप्न देखना है, अर्थात् संसार में बिना लिप्त हुए,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किन्तु उसके प्रति किसी प्रकार का द्वेषभाव भी किये विना जीवन यापन करना है।

इस क्रियात्मक जगत् में, इसके अर्थात् व्यवहार के पालन को अनुचित नहीं ठहराता। ऐसे पुरुषों के लिए भेद की अयथार्थता का कोई अर्थ नहीं है, जो अपने को स्वार्थपरता की शृंखलताओं में जकड़े हुए हैं और इस प्रकार सीमाबद्ध जीवन को दीर्घकालिक बनाते हैं। शंकर विधान या नियम को सर्वथा त्याज्य नहीं मानते, अपितु उनका मत है कि मोक्ष का मार्ग विधान के द्वार से होकर ही है। बुद्धि का आश्रय अन्तर्दृष्टि है और नैतिक जीवन का आधार आध्यात्मिक मोक्ष है। यह वह अंकुर है जिसके अन्दर से पूर्णता का फूल विकसित होता है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट–१

शांकरवेदान्त के प्रमुख ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ

१ अखण्डानन्द सरस्वती (१५वाँ शतक)- १-विवरण की टीका (तत्त्वदीपन), २-ब्रह्मसूत्र–भामती पर ऋजुप्रकाशिका टीका, ३-मुक्ति–सोपान, ४-अद्वैतरत्नकोश ।

२ अद्वयारण्यमुनि (१५८०) वेदान्तकौमुदी ।

३ अच्युतकृष्णानन्दतीर्थ (१८वाँ शतक) १-सिद्धान्तलेश की टीका (कृष्णालंकार) २-तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य पर 'वनमाला' टीका, ।

४ अद्वैतानन्द सरस्वती (बोधेन्द्र) (११४६) १-शारीरकभाष्य पर 'ब्रह्मविद्याभरण' टीका, २-आत्मबोध की 'अध्यात्मचन्द्रिका' टीका, ३-शान्तिविवरण, ४-गुरुप्रदीपिका ।

५ अनन्तकृष्ण शास्त्री (२०वाँ शतक) १-शतदूषणी, २-अद्वैततत्वसुधा, ३-अद्वैततत्त्वशुद्धि ।

६ अन्नंभट्ट (१५००) ब्रह्मसूत्रवृत्ति (मिताक्षरा) ।

७ अप्पयदीक्षित (१५३०-८०) १-कल्पतरु की टीका (परिमल), २- सिद्धान्तलेशसंग्रह, ३- ब्रह्मतर्कास्तव, ४- मध्वतन्त्र-मुखमर्दन, ५-मध्वमतविध्वंसन आदि ।

८ अमरदास- ईशादिआठ उपनिषदों पर मणिप्रभा टीका, वेदान्त-परिभाषा की शिखामणि टीका पर वृत्ति (मणिप्रभा) ।

९ अमलानन्द (१२५०) १-भामती की टीका (वेदान्तकल्पतरु), २-शास्त्रदर्पण, ३-पञ्चपादिकादर्पण ।

१० आत्मदेव पञ्चानन (१७२०) १-अभेदाखण्डचन्द्रमा ।

११ आनन्दगिरि (८२५) ये स्वामी शंकराचार्य के शिष्य थे । १-शांकर-भाष्य-व्याख्या, २-गीता-भाष्य-व्याख्या ।

१२ आयन्न दीक्षित १-व्यास-तात्पर्य-निर्णय ।

१३ आनन्द गिरि (१३वाँ शतक) १- दशोपनिषद्शांकरभाष्य पर

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न्यायनिर्णय नामक व्याख्या २-गीताभाष्यपर न्यायनिर्णय व्याख्या, ३-ब्रह्मसूत्रभाष्य पर न्यायनिर्णय-व्याख्या, ४-बृहदारण्यक-वार्तिक की व्याख्या, ५-वेदान्त-शतश्लोकी की व्याख्या, ६-उपदेशसाहस्त्रदृग्दर्शन-विवेक पर व्याख्या, ७-तैत्तिरीयोपनिषद्वार्तिक की व्याख्या, ८-शंकरदिग्विजय, ९-शंकराचार्यकृत पंचीकरण पर पञ्चीकरण-विवरण व्याख्या, १०-तत्त्वालोक (स्वतन्त्रग्रन्थ), ११-गंगापुरी भट्टारककृत 'पदार्थतत्त्वनिर्णय' पर व्याख्या, १२-शंकराचार्यकृत 'वाक्यवृत्ति' पर व्याख्या, १३-तर्कसंग्रह ।

१४ आनन्दपूर्ण (पूर्णानन्दमुनीन्द्र १४वाँ शतक) १-महाविद्याविडम्बना टीका, २-खण्डनखण्डखाद्यटीका (खण्डनफक्किकाविभाजन), ३-भावशुद्धि (ब्रह्मसिद्धि व्याख्या), ४-पञ्चपादिकाटीका (टीकारत्नम्), ५-समन्वयविवृत्ति (विवरणटीका), ६-वृहदारण्यकवार्तिक-टीका (न्यायकल्पलतिका), ७-काशिकावृत्ति-व्याख्या (फक्किकामञ्जरी), ८- न्यायसारव्याख्या (व्याख्यारत्नम्), ९- मोक्षधर्मव्याख्या, १०-न्यायचन्द्रिका ।

१५ आनन्दबोध भट्टारक (१२वाँ शतक) १-न्यायमकरन्द, २-प्रमाणमाला, ३-न्यायदीपावली, ४-प्रकाशात्मयति के शब्दनिर्णय पर न्यायदीपिका नामक व्याख्या ।

१६ कृष्ण भट्ट १-विवरण की टीका ।

१७ गंगाधरसरस्वती (१६७५) १-सिद्धान्तलेश की टीका (विन्दुशीकर) ।

१८ गोविन्दानन्द (१७वाँ शतक) १-ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पर रत्नप्रभा नामक टीका ।

१९ गौडपादाचार्य (७५०) १-सांख्यकारिका पर गौडपादीयभाष्य, २-शक्तिसूत्र, ३-सुभगोदय, ४-नृ० उ० ता० उपनिषद् पर व्याख्या, ५-दुर्गासप्तशती की व्याख्या, ६-उत्तरगीताभाष्य,८-माण्डूक्यकारिका ।

२० गोविन्दपादाचार्य (८म शतक) १-अद्वैतानुभूति, २-रसहृदय ।

२१ गंगापुरी भट्टारक, १-पदार्थतत्त्वनिर्णय ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२२ चण्डेश्वर, १-अपरोक्षानुभव की टीका।

२३ चित्सुखाचार्य (१२२५) १-न्यायमकरन्द की व्याख्या, २-खण्डनखण्डखाद्य की व्याख्या, ३-शारीरकभाष्य की भावप्रकाशिका व्याख्या, ४-शंकरदिग्विजय, ५-ब्रह्मसिद्धि की अभिप्रायप्रकाशिका व्याख्या, ६-नैष्कर्म्यसिद्धि पर भावतत्त्वप्रकाशिका टीका, ७-प्रमाणरत्नमाला की व्याख्या, ८-विवरण की व्याख्या, ९-विष्णुपुराण की टीका, १०-ब्रह्मसूत्र पर अधिकरण-संगति नामक निबन्ध, ११-अधिकरणमञ्जरी, १२-भागवत की टीका, १३-षड्दर्शनसंग्रहवृत्ति, १४-ब्रह्मस्तुति, १५-चित्सुखी (तत्वदीपिका)।

२४ ज्ञानोत्तममिश्र १-इष्टसिद्धि की टीका, २-नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका (चन्द्रिका)।

२५ दयाशंकर (१७६०) १-वेदान्तसार की टीका, (सुबोधिनी)।

२६ धनपति (१८००) गीता की टीका, वेदान्त-परिभाषा की टीका (अर्थदीपिका)।

२७ धर्मय्यदीक्षित (१६००) सिद्धान्तलेश की टीका।

२८ धर्मराजाध्वरीन्द्र (१७वाँ शतक) १-वेदान्तपरिभाषा, २-गंगेशोपाध्याय की 'न्यायचिन्तामणि' पर दशटीकाविभञ्जनी 'अभिनवा' टीका, ३-पदयोजनिका, ४-पंचपादिका की टीका (पददीपिका)।

२९ नारायणतीर्थ (१६५०) आत्मबोध की टीका (बालबोधिनी)।

३० नारायण सरस्वती (१६००) शारीरिक-भाष्य की टीका (भाष्यवार्तिक)।

३१ नारायणआश्रम (१५६०) १-भेदधिक्कार पर 'भेदधिक्कारसत्क्रिया' टीका, २-अद्वैतदीपिका के ऊपर 'अद्वैतदीपिका-विवरण नामक टीका'।

३२ नित्यानन्द बृहदारण्यकोपनिषद् एवं छान्दोग्योपनिषद् की वृत्ति (मिताक्षरा)।

३३ नृसिंहदीक्षित (१६००) भेद-धिक्कार की टीका।

३४ नृसिंहमुनि (१५००) विवरण-भाव-प्रकाशिका।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

३५ नृसिंह सरस्वती (१६वाँ शतक) १-वेदान्तसार की टीका (सुबोधिनी)।

३६ नृसिंहाश्रम (१५५०) १-वेदान्ततत्त्वविवेक, २- अद्वैतदीपिका, ३-भेदधिक्कार, ४-वेदान्तरत्नकोश, ५-पञ्चपादिकाविवरण पर भावप्रकाशिकाटीका, ६-संक्षेपशारीरकपर तत्वबोधिनी व्याख्या ७-नृसिंहविज्ञान, ८-वैदिकसिद्धान्त-संग्रह, ९-अद्वैतपञ्चरत्न, १०-अद्वैतबोध दीपिका, ११-अद्वैतवाद, १२-वाचारम्भण, १३-वेदान्ततत्व विवेक पर तत्वविवेकदीपन।

३७ पुरुषोत्तमयाजी-संक्षेपशारीरक की टीका।

३८ पूर्णानन्द तीर्थ—सिद्धान्तविन्दु की टीका (तत्वविवेक)।

३९ प्रकाशात्मयति (मुनि) (११वाँ शतक) १-पञ्चपादिका-विवरण, २-शब्दनिर्णय।

४० प्रकाशानन्द (१५वाँ शतक) १-वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली।

४१ प्रत्यक्स्वरूप (१५वाँ शतक) १-चित्सुखी की टीका (नयनप्रसादिनी)।

४२ वच्चाशर्मा—१-गीतापर मधुसूदनकृत गूढार्थदीपिका की टीका।

४३ बादरायण (व्यास ई० पू० ६९८) १-वेदान्तदर्शन, २-महाभारत, ३-चारो वेदों का विभाग, ४-१८ पुराणादि।

४४ बोधेन्द्र १-आत्मबोध की टीका (भावप्रकाशिका)।

४५ वोपदेव (११८०) मुक्ताफल।

४६ ब्रह्मानन्दसरस्वती (१७वाँ शतक) १- ईशावास्यरहस्य, २-सिद्धान्तविन्दु की टीका (न्यायरत्नावली), ३-गुरुचन्द्रिका टीका अद्वैतसिद्धि की, ४-लघुचन्द्रिकाटीका अद्वैतसिद्धि की, ५-वेदान्त मुक्तावली, ६-माण्डूक्योपनिषद्रहस्य, ७-मीमांसाचन्द्रिका।

४७ भैरवतिलक (१७६०) १-ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवरण।

४८ भट्टोजिदीक्षित (१६वाँ शतक) १-तत्त्वकौस्तुभ, २-वेदान्त-तत्त्वविवेक।

४९ मधुसूदनसरस्वती (१६वाँ शतक) १-संक्षेपशारीरकपर 'सारसंग्रहदीपिका' टीका, २-सिद्धान्तविन्दु, ३-अद्वैतरत्नरक्षण, ४-वेदान्त-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कल्पलतिका, ५-अद्वैतसिद्धि, ६-ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश, ७-भक्तिरसायन, ८-भागवतटीका, ९-गीतापर गूढार्थदीपिका टीका, १०-प्रस्थानभेद, आदि।

५० मल्लनाराध्य (१६वाँ शतक) १-अद्वैतरत्न, २-अभेदरत्न।

५१ महादेवसरस्वती (१८वाँ शतक) १-तत्त्वानुसन्धान।

५२ माधवाचार्य (विद्यारण्य) (१३५०) १-विवरणप्रमेयसंग्रह, २-वृहदारण्यक वार्तिकसार, ३-अनुभूतिप्रकाश,४-पञ्चदशी, ५-जीवन्मुक्तिविवेक, ६-ब्रह्मगीता, ७-माधवीयधातुवृत्ति, ८-पराशरमाधव, ९-कालमाधव, १०-सर्वदर्शनसंग्रह, ११-शंकरदिग्विजय, १२-सूतसंहिता की टीका, १३-अपरोक्षानुभूति टीका, १४-ऐतरेयोपनिषद्दीपिका, १५-तैत्तिरीयोपनिषद्दीपका,१६-छान्दोग्योपनिषद्दीपिका, १७-वैयासिकन्यायमाला, १८-सेश्वरमीमांसा, १९-ज्ञाततपस्मृतिटीका, २०-दुर्वासिनाप्रतिकार।

५३ रङ्गोजिभट्ट (१६२५) १-अद्वैतचिन्तामणि।

५४ रम्यदेव–इष्टसिद्धि की टीका।

५५ रामकृष्ण (१३७५) विद्यारण्यकृतपंचदशी की टीका।

५६ रामाद्वयाचार्य (१३वाँ शतक) १-वेदान्तकौमुदी।

५७ रामानन्द सरस्वती (१७वाँ शतक) १-पञ्चपादिका पर 'विवरणोपन्यास' टीका, २-ब्रह्मसूत्रपर 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' वृत्ति, ३-सिद्धान्तचन्द्रिका।

५८ रङ्गराजाध्वरी (१६वाँ शतक) १-अद्वैतविद्यामुकुर, २-विवरणदर्पण।

५९ रामकृष्णाध्वरीन्द्र (१६००) १-वेदान्तपरिभाषा की टीका (शिखामणि)।

६० रामचन्द्र (१७३०) अप्पयदीक्षितकृत सिद्धान्तलेश की टीका।

६१ रामचन्द्र (१५६५) १-अद्वैतप्रकाश, २-अद्वैतरहस्य, ३-अद्वैत-निर्णयसंग्रह।

६२ रामतीर्थ (१६२५) १-संक्षेपशारीरक की टीका (अन्वयार्थ-

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकाशिका), २-उपदेशसाहस्रीटीका, ३-वेदान्तसार की टीका (विद्वन्मनो-रञ्जनी)।

६३ रामसुब्रह्मण्य (१५८०) १-वेदान्तमुक्तवली की टीका।

६४ वाचस्पतिमिश्र (६म शतक) १-ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, २-न्यायकणिका, ३-सांख्यतत्त्वकौमुदी, ४-तत्त्ववैशारदी, ५-न्यायवर्तिक तात्पर्यटीका, ६-भामती आदि टीकाएं, ७-न्यायसूचीनिबन्ध, ८-तत्त्वविन्दु ये दो ग्रन्थ स्वतन्त्र हैं।

६५ वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर, १-अद्वैतामोद, २-कायपरिशुद्धि।

६६ विद्येन्द्रसरस्वती–वेदान्ततत्त्वसार।

६७ विमुक्तात्मा (१३वाँ शतक) १-इष्टसिद्धि, २-प्रमाणवृत्तिनिर्णय।

६८ विश्वनाथतीर्थ–सिद्धान्तलेश की टीका।

६९ विश्ववेद–१-शारीरकभाष्य की टीका, २-संक्षेपशारीरक की टीका (सिद्धान्तदीप)।

७० विश्वेश्वर—वाक्यवृत्ति की टीका (प्रकाशिका)।

७१ शंकरमिश्र—खण्डनखण्डखाद्य की टीका (शांकरी)।

७२ शकराचार्य (८वाँ शतक) प्रस्थानत्रयी भाष्य (उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र) ४-आत्मबोध, ५-अपरोक्षानुभव, ६-वाक्यवृत्ति, ७-दश-श्लोकी, ८-उपदेश साहस्री, ९-विवेकचूड़ामणि, १०-विष्णुसहस्रनाम भाष्य, ११-सनत्सुजातीयभाष्य, १२-हस्तमलकभाष्य आदि २७२ ग्रन्थ इनके द्वारा रचित हैं।

७३ शंकरानन्द (१३२५) १-कैवल्युपनिषद् वृत्ति (दीपिका), २-ईशावास्यदीपिका, ३-तैत्तिरीयदीपिका, ४-गीता की टीका।

७४ शिवदत्त (१८१०) वेदान्त-परिभाषा की टीका (अर्थदीपिका)।

७५ शुकाचार्य—तत्त्वानुसन्धान व्याख्या।

७६ शुद्धानन्द सरस्वती (१३२०) १-वेदान्तचिन्तामणि।

७७ श्रीधर—गीता की टीका (श्रीधरी)।

७८ श्रीहर्ष (११५०) १-खण्डनखण्डखाद्य, २-नैषधीयचरित, ३-अर्णव-वर्णन, ४-शिवशक्तिसिद्धि, ५-नवसाहसाङ्कचम्पु, ६-छिन्दप्रशस्ति,

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

७-विजयप्रशस्ति, ८-गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, ९-ईश्वरसिद्धि, १०-स्थैर्य-विचारणप्रकरण।

७९ सच्चिदानन्द–सिद्धान्तविन्दु की टीका।

८० सदानन्द (१५६०) १-पञ्चदशी की टीका, २-अद्वैतदीपिका की टीका, ३-अद्वैतब्रह्मसिद्धि, ४-जीवन्मुक्तिप्रक्रिया, ५-वेदान्तसार, ६-अद्वैतदीपिका (स्वग्रन्थ)।

८१ सदानन्दव्यास—१-अद्वैतसिद्धिसंक्षेप

८२ सदाशिवानन्द सरस्वती १-ब्रह्मसूत्रवृत्ति (अद्वैतामृतवर्षिणी)।

८३ सर्वज्ञात्ममुनि (९वाँ शतक) १-संक्षेपशारीरक।

८४ सुरेश्वराचार्य (८म शतक) १-ब्रह्मसिद्धि, २-स्फोटसिद्धि, ३-विधि-विवेक, ४-भावनाविवेक, ५-विभ्रमविवेक, ६-मीमांसासूत्रानुक्रमणी, ७- वृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, ८- तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्यवार्तिक, ९-तन्त्रवार्तिक व्याख्या, १०-नैष्कर्म्यसिद्धि, ११-दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक, १२-मानसोल्लास, १३-पञ्चीकरणवार्त्तिक, १४-आपस्तम्बीयमण्डन-कारिका, १५-काशीमोक्षनिर्णय, १६-स्वराज्यसिद्धि, १७-ब्रह्मसूत्र-भाष्यवार्तिक, १८-लघुवार्तिक, १९-वार्तिकसार, २०-वार्तिकसारसंग्रह।

८५ स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती— १-शारीरकभाष्यटीका (वेदान्त-वन्दनभूषण)।

८६ हेमाद्रि (१२७०) १-मुक्ताफलटीका (कैवल्यदीपिका)।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट—२

पारिभाषिक शब्दावली

१ अकृताभ्यागम– न किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों की प्राप्ति ।

२ अखण्डार्थत्वम्– संसर्गानवगाही अर्थात् भेदत्रयरहित अर्थ ।

३ अखण्डार्थबोधकवाक्य– संसर्गानवगाही यथार्थज्ञानजनक वाक्य ।

४ अंगांगीभाव– उपकार्य उपकारकभाव ।

५ अजहल्लक्षणा– जहां पर शक्यार्थ का त्याग न हो और शक्य संबन्धी अर्थान्तर में वृत्ति हो वहाँ अजहल्लक्षणा होती है, जैसे 'शोणो धावति' यहाँ पर शोण (लाल) गुणविशिष्ट अश्वादि द्रव्य में लक्षणा होती है ।

६ अतिदेश– अन्य धर्म का अन्यत्र आरोप करना ।

७ अतिप्रसंग– प्रस्तुत विषय से अन्यत्र स्थल में प्राप्ति होना ।

८ अविवाद– अत्युक्ति की स्थापना ।

९ अतिव्याप्ति– अलक्ष्य में लक्षण का जाना ।

१० अतिशयोक्ति– जो गुण जिस में न हो उसका उसमें वर्णन करना ।

११ अतीन्द्रिय– जो पदार्थ इन्द्रियों के विषय न हों ।

१२ अत्यन्तनिवृत्ति– कारण-सहित कार्य की निवृत्ति ।

१३ अत्यन्ताभाव– भूत-वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में अभाव ।

१४ अत्युक्ति–प्रशंसा या स्तुति परक वाक्य ।

१५ अदृष्ट– शुभाशुभकर्मजन्य संस्कार ।

१६ अद्वैत– सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित ।

१७ अद्वैतसिद्धिः– द्वाभ्यामितं द्वीतं द्वीतमेव द्वैतं न द्वैतमद्वैतं प्रकारता विशेष्यतासंसर्गतात्रिविधविषयता निरूपकं ज्ञानम् । अद्वैतस्य सिद्धिः (निश्चयः) अद्वैतसिद्धिः, एवंविधबोधप्रकाशकग्रन्थ-विशेषः ।

१८ अधिकरण– आश्रय, आधार ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

१९ अध्यस्त– आरोपित वस्तु जैसे सीप में चाँदी ।

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२० अध्यात्मशास्त्र–आत्मा का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ।
२१ अध्याय– एकार्थ विषय की समाप्ति की द्योतक प्रकरण ।
२२ अध्यारोप– वस्तु में अवस्तु का आरोप ।
२३ अध्यास– जो वस्तु जिस में न हो, उस वस्तु का उसमें प्रतीत होना।
२४ अनर्थ– अर्थ का विघातक (नाशक) अनिष्ट ।
२५ अनवधारण– अनिश्चयात्मक ज्ञान ।
२६ अनवस्था–अप्रामाणिक अनन्त-प्रवाह-मूलक प्रसंग ।
२७ अनादि–उत्पत्तिरहित ।
२८ अनिवर्चनीय–सद्, असद् तथा सदसदुभय से विलक्षण ।
२९ अनुभूति– अनुभवात्मक ज्ञान ।
३० अनुमिति– अनुमान प्रमाण से जन्य ज्ञान ।
३१ अनुष्ठान– विहित-कर्मादि को करना ।
३२ अनुस्मृति– निरन्तर स्मरण करना ।
३३ अनूचान– अङ्ग सहित वेदों का अध्ययन करने वाला ।
३४ अनैकान्तिक– व्यभिचारी ।
३५ अन्तःपाती– मध्यवर्ती ।
३६ अन्तर्यामी– अन्तःकरणादि का नियामक ।
३७ अन्त्यज– पंचमवर्णी ।

"रजकश्चर्मकारश्च नटी वरुड एव च ।
कैवर्त्तभेदभिल्लाश्च सप्तैते ह्यन्त्यजाः स्मृताः ॥"

३८ अन्यतम– बहुतों में से एक ।
३९ अन्धभिक्ष– "तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्युगां भुवं भुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥"
४० अन्ध विश्वास– प्रमाण के विना किसी वस्तु को स्वीकार करना ।
४१ अन्यतर–दो में से एक का निर्धारण करना ।
४२ अन्योऽन्याध्यास–दो वस्तुओं का परस्पर तादात्म्य रूप से प्रतीति ।
४३ अन्योऽन्याश्रय– परस्पर अपेक्षा ।
४४ अन्वयव्यभिचार– कारण के होने पर भी कार्य का अभाव ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

४५ अन्वादेश– कहे हुए का पुनः उपदेश।
४६ अपक्षय– अवयव का ह्रास होना।
४७ अपरिग्रह– आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना।
४८ अपरोक्षज्ञान– विषय और इन्द्रियों के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान।
४९ अपलाप– व्यर्थप्रलाप, सत्य का मिथ्यारूप से कथन।
५० अपवाद– निषेध या निषेधक शास्त्र।
५१ अपह्नव– सद्रूप से ज्ञात वस्तु का असद्रूप से कथन।
५२ अपूर्व– विहित-निषिद्ध क्रिया से जन्य, कालान्तर में होने वाले सुख-दुःख के हेतुभूत पुण्य-पाप।
५३ अपूर्वता– प्रकरण-प्रतिपाद्य विषय का प्रमाणान्तर का विपय न होना, जैसे उपनिषद् से प्रतिपाद्य आत्मा अन्य प्रमाण का विषय नहीं है।
५४ अपूर्वविधि– प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ का विधायक विधि।
५५ अपोह– स्वसिद्धान्त के प्रतिकूल तर्क का निराकरण करना।
५६ अप्रमा– मिथ्याज्ञान (अयथार्थज्ञान)
५७ अप्रामाण्य– बाधितअर्थविषयक ज्ञान।
५८ अभिज्ञा– विषयेन्द्रिसन्निकर्षजन्य इदन्तामात्र-अवगाही ज्ञान।
५९ अभिधाशक्ति– शब्द के अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शक्ति।
६० अभिधेय– शक्यार्थ, अभिधावृत्ति का विषय।
६१ अभिव्यक्ति– सूक्ष्मरूप से स्थित कारण का कार्यरूप से आविर्भाव।
६२ अभिव्यञ्जक– प्रकाशक, अवभासक।
६३ अर्थाध्यास– एक वस्तु की दूसरे वस्तु में प्रतीति।
६४ अर्थापत्ति प्रमा– साध्यज्ञान के द्वारा साधक की कल्पना। जैसे स्थूल देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता, स्थूलत्वसाध्य ज्ञान के द्वारा, साधक रात्रि-भोजन की कल्पना होती है।
६५ तूलाअविद्या– अवस्था अज्ञान, विषय-चैतन्यावरकाज्ञान।
६६ अविद्यमान– सत्तारहित।
६७ अविद्या– असत्-प्रकाशक शक्ति (अज्ञान)।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

६८ अविद्यावृत्ति– इन्द्रियों की सहायता रहित विषयाकारान्तःकरण की वृत्ति।

६९ अव्यय– उत्पत्तिविनाशवृद्धिह्रासादि से रहित।

७० अष्टांगप्रणाम– आठ अंगों द्वारा किया गया नमस्कार।
"पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा।
वचसा मनसा चैव प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥"

७१ असत्कार्यवाद– उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव, यह नैयायिकों का मत है।

७२ असदुत्तर– जो उत्तर, उत्तर का विघातक हो, जैसे किसी ने कहा कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है।

७३ असूयकः– दूसरे के गुणों में दोष आरोपण करने वाला।

७४ असूया– गुण में दोष देखना।

७५ अस्तव्यस्त– उलझा हुआ।

७६ अस्तेय– परधनादि का अपहरण न करना।

७७ अस्मिता– अहंकार की सूक्ष्म अवस्था।

७८ अस्वैरी– पराधीनता।

७९ अहंग्रहोपासना– अपने से अभिन्न उपास्य का चिन्तन।

८० अनुपलब्धि– जिससे अभाव का प्रत्यक्ष हो, वह प्रमाण विशेष।

८१ अनुपपत्ति– युक्ति विरुद्ध। इसको लक्षणा का बीज भी कहते हैं।

८२ अनुबन्ध– विषय, प्रयोजन, संबन्ध और अधिकारी।

८३ अतिदेश– सदृश वस्तु का बोध कराने वाला वाक्य।

८४ अन्वयव्याप्ति– हेतु और साध्य का साहचर्य।

८५ अभिनिवेश– मृत्यु का भय।

८६ अभ्युपगम– अपना सिद्धान्त न होने पर भी कुछ देर के लिए स्वीकर्तव्य मत।

८७ अव्याप्यवृत्ति– लक्ष्य के एकदेश में रहने वाला गुणादि।

८८ असम्प्रज्ञातसमाधि– जिस अवस्था में त्रिपुटी का भान न हो।

८९ आकांक्षा–वस्तु-प्राप्ति की ईक्षा।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

९० ग्राक्षेप– निषेधपूर्वक कथन ।

९१ ग्रख्यातपद– क्रियाप्रधान पद ।

९२ ग्रागम– विधि-निषेध-परक शास्त्र ।

९३ ग्रागमापायी– नाशमान वस्तु ।

९४ ग्रागामिकर्म– क्रियमाण कर्म ।

९५ ग्राचार– शास्त्रविहित व्यवहार ।

९६ ग्राततायी– महापापी

अग्निदो विषदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदाराऽपहारी च षडेते ग्राततायिनः ।।"

९७ ग्रात्मनिष्ठा– वेदान्तवेद्य ब्रह्मात्मा में स्थिति ।

९८ आत्मा– परमप्रेम का ग्रास्पद ।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते ।।

जो समस्त वस्तुग्रों में व्याप्त हो, प्रलय में संपूर्ण जगत् को ग्रपने में लीन कर ले, स्थितिकाल में समस्त विषयों को अनुभव करता हो ग्रौर जिस की सत्ता तीनों कालों में रहती हो, उस तत्त्व का नाम ग्रात्मा है ।

९९ ग्रात्यन्तिकप्रलय– ज्ञाननिमित्तक सर्वमोक्ष ।

१०० ग्राधार– ग्राश्रय ।

१०१ ग्राधिदैविकताप– देवादिनिमित्तक दुःख ।

१०२ आधिभौतिकताप– भूतादिनिमित्तक दुःख ।

१०३ आध्यात्मिक ताप– शारीरिक दुःख ज्वरादि ।

१०४ ग्रानन्दघन– परिपूर्ण ग्रानन्द ।

१०५ ग्रापातज्ञान– ग्रप्रामाणिक ज्ञान ।

१०६ ग्राम्नाय– वेद या किसी भी सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ ।

१०७ आशा– पदार्थों के प्राप्त होने पर भी तृप्ति न होना ।

१०८ इतिहास– धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।

पूर्वं वृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ।।

Prof. Amodavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१०६ उद्देश्यता– इच्छा की विषयता ।
११० उद्बोधक– प्रकाशक, स्मृतिप्रयोजक ।
१११ उद्यम–पुरुषयत्न ।
११२ उपजीव्य– कारण, जनक ।
११३ उपादानोपादेयभाव– कारणकार्यभाव (सबन्ध) ।
११४ काकतालीयन्याय– संयोग से कार्य हो जाय तो भी अमुक ने किया ऐसा प्रतीत होना, जैसे काक तालवृक्ष पर बैठा और उसी समय तालफल टपक पड़ा ।
११५ उपक्रम– उपायज्ञानपूर्वक आरम्भ ।
११६ उपजीवक– आश्रित या कार्यकारण का उपजीव्य-उपजीवक भाव सम्बन्ध होता है ।
११६ उपदेश–हितप्रद कथन ।
११७ उपदेष्टा– उपदेश करने वाला ।
११८ उपनिषद्– अज्ञान के नाश करने वाली आत्मविद्या। उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया सा उपनिषद् विद्या ।
११६ उपन्यास– वाक्य का उपक्रम ।
१२० उपपत्ति– प्रकृतार्थ के अनुकूल युक्ति ।
१२१ उपपाद्य– प्रतिपाद्य अर्थ ।
१२२ उपमिति– उपमानप्रमाणजन्य ज्ञान ।
१२३ उपमेय– उपमा का विषय (सादृश्य) ।
१२४ उपरति– कर्मादि तथा उनके साधनों में दोषदर्शनपूर्वक घृणा ।
१२५ उपलक्षित– उपलक्षण का विषय ।
१२६ उपशम– बाहर और भीतर से इन्द्रियों के व्यापार का अभाव ।
१२७ उपसंहार– विस्तार से निरूपित विषय का सारांश कथन के द्वारा समापन ।
१२८ उपख्यान– पूर्ववृतान्त का कथन ।
१२६ उपादानकारण– समवायिकारण जैसे घटका कारण मिट्टी ।
१३० उपादेय– उपादानकारण का कार्य ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

 CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१३१ उपाधि– व्यावर्त्तक, अलग करने वाला।
१३२ उपेक्षा–हेयोपादेय रहित, संस्कार की अजनक बुद्धि।
१३३ उपोद्घात– प्रकृतार्थ सिद्धि के अनुकूल अर्थान्तर का वर्णन।
१३४ ऊह– उपदेश के समय शिष्य की प्रतिपत्ति के अनुकूल अपूर्व युक्ति की कल्पना।
१३५ ऊहापोह– तर्कवितर्क द्वारा अपने मत की स्थापना, अन्य मत का खण्डन।
१३६ ऋत्विक्– वैदिक कर्म-कर्ता।
१३७ ऋषि– मन्त्रद्रष्टा, अतीन्द्रियार्थदर्शी।
१३८ एकतान– एकाकार चित्तवृत्ति।
१३९ एकदेशी– सिद्धान्त के एकदेश का आश्रय करके स्वतन्त्र रूप से अधिक अर्थ (विषय) का निरूपण करने वाला।
१४० एकवाक्यता– अनेक शब्दों का एकार्थबोधकता।
१४१ एषणा– इच्छा।
१४२ एकमत्य– सबका एकतात्पर्यपरक आशय।
१४३ ओत-प्रोत– अन्दर बाहर व्याप्त।
१४४ गन्धर्वनगर– नानारत्नमय गोपुर प्रसाद आदि के समान प्रतीयमान अभ्रचित्र।
१४५ गुडाकेश-जितनिद्रा, जितेन्द्रय, घुघुराले केशवाला।
१४६ चिदाभास–अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिविम्ब।
१४७ चिन्तन– उपदिष्ट अर्थ का अनुसन्धान।
१४८ चेतना– अर्थाकारवृत्ति।
१४९ चेष्टा– हिताहित-प्राप्तिपरिहारार्थक मनोभाव।
१५० जहदजहल्लक्षणा– भागत्याग-लक्षणा।
१५१ जहल्लक्षणा–शक्यार्थ का त्याग और तत्सम्वन्धि अर्थान्तर में वृत्ति।
१५२ जीवन्मुक्ति– जीवन अवस्था में सभी बन्धनों का अभाव।
१५३ जीव-साक्षी– अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य।
१५४ ज्ञप्ति– ज्ञान।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१५५ ज्ञातता– ज्ञानजन्य प्रकटता ।
१५६ ज्ञातसत्ता– ज्ञानसमकालीन विषयसत्ता ।
१५७ ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व– अपने व्यवहारानुकूल वृत्तिचैतन्य का अनावृत्त-विषय चैतन्य के साथ अभेद ।
१५८ टिप्पणी– मूलटीका से भिन्न अर्थ की व्याख्या ।
१५९ टीका– मूल अर्थ की व्याख्या ।
१६० तटस्थ लक्षण– लक्ष्य से अलग रहकर जो लक्ष्य को बोधित करे ।
१६१ तत्त्वज्ञान– आत्मसम्बन्धिज्ञान ।
१६२ तत्त्व– यथार्थ ।
१६३ तथापि– यद्यपि शब्द से आक्षिप्त अर्थ का समाधान ।
१६४ तप– इन्द्रियों का निग्रह ।
१६५ तर्कवितर्क– वादविवाद, संघर्ष ।
१६६ तात्पर्य–फलित अर्थ, अभिप्राय ।
१६७ तादात्म्य–दो वस्तुओं का अभेद ।
१६८ तितिक्षा– शीतोष्णादि द्वन्दों का सहना ।
१६९ तृष्णाक्षय– विषयों से चित्त की उपरति ।

"यत्किञ्चिद् वस्तु संप्राप्य स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
या तुष्टिर्जायते चित्ते तृष्णाक्षय प्रचक्षते ॥"

१७० निदिध्यासन–अपरोक्ष-निश्चय का संपादक तर्क ।
१७१ नैष्ठिक ब्रह्मचारी–जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला ।
१७२ परमहंस– ज्ञान निष्ठापूर्वक शिखासूत्र से रहित ।
१७३ परिभाषा– स्वशास्त्र के सांकेतिक शब्द ।
१७४ परिव्राजक– संन्यासी, चतुर्थआश्रमी ।
१७५ परेच्छाप्रारब्ध– दूसरे की इच्छा से भोगों का भोग ।
१७६ परोक्षज्ञान– अनुमानादि जन्यज्ञान ।
१७७ पाप– अपराध, निषिद्ध क्रिया जन्य अपूर्व ।
१७८ पुण्य– विहित क्रियाजन्य सकार रूप अपूर्व ।
१७९ पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१८० प्रकरण– एकार्थप्रतिपादक ग्रन्थांश ।
१८१ प्रकृति– रज सत्व तम तीनों गुणों की साम्यावस्था, या स्वभाव ।
१८२ प्रतिज्ञा– स्वीकृतवाक्य, दृढ़निश्चय ।
१८३ प्रतिभा– कुशाग्रबुद्धि । नवीनतार्थ की अन्वेषक बुद्धि
१८४ प्रतियोगी–जहां पर जिस का अभाव हो, उस अभाव के प्रति वह प्रतियोगी होता है ।
१८५ प्रत्यक्षविषय– इन्द्रियजन्यज्ञान का विषय ।
१८६ प्रत्यगात्मा– प्रति शरीर में अनुभूयमान आत्मा ।
१८७ प्रत्यभिज्ञा– तत्तेदन्ताऽवगाहि ज्ञान ।
१८८ प्रत्यवाय– वाधक ।
१८९ प्रत्युत्तर– उत्तर के प्रति उत्तर ।
१९० प्रध्वंसाभाव– सादि अनादि विशिष्ट अभाव ।
१९१ प्रपञ्च– जगत्, संसार, ।
१९२ प्रवन्धक– व्यवस्थापक ।
१९३ प्रमा– यथार्थज्ञान ।
१९४ प्रमाण-- प्रमाज्ञान का करण (जनक) ।
१९५ प्रमाणचैतन्य– वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ।
१९६ प्रमाता– अन्तःकरण ।
१९७ प्रमातृचैतन्य– अन्तःकरणावछिन्नचैतन्य ।
१९८ प्रमेय– प्रमाज्ञान का विषय ।
१९९ प्रमेयचैतन्य– विषयावच्छिन्नचैतन्य ।
२०० प्रलय– तीनों लोकों का विनाश ।
२०१ प्रवर्तक– प्ररेक, नियोजक ।
२०२ प्रशस्ति– प्रशंसा ।
२०३ प्रस्तावना– ग्रन्थावतरणार्थ व्याख्यान अंश ।
२०४ प्रहेलिका– दुर्विविज्ञानार्थक प्रश्न ।
२०५ प्राकृतप्रलय– कार्यब्रह्म-विनाश-निमित्तक सकल कार्य का विनाश
Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal
२०६ प्रागभाव– उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव ।

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२०७ प्राज्ञ— विचार-कुशल, बुद्धिमान।
२०८ प्रातिभासिक— आध्यासिक जैसे शुक्ति मे रजत।
२०९ प्रामाण्य— प्रमात्व
२१० प्रारब्धकर्म— वर्तमान-शरीरारम्भक कर्म
२११ प्रौढिवाद— अपनी बुद्धि की उत्कर्षता के प्रदर्शन के लिए अन-भिमत अर्थ का कथन।
२१२ फलचैतन्य— विषय में अभिव्यक्तचैतन्य।
२१३ फलितार्थ— निष्कर्ष, भाव, तात्पर्य।
२१४ बाधसमानाधिकरण्य— दोनों में से एक का बाध होने पर बाध समानाधिकरण्य (अभेद) होता है, जैसे जीव में प्रतिबिम्बांश का बाध होने पर अवच्छिन्नांश (कूटस्थ) का ब्रह्म के साथ अभेद होता है।
२१५ ब्रह्म— निरवच्छिन्न निरुपाधिक शुद्धव्यापक चैतन्य।
२१६ ब्रह्म का स्वरूप लक्षण— सत्य, ज्ञान अनन्त यही स्वरूप लक्षण है।
२१७ ब्रह्म का तटस्थ लक्षण— उत्पत्ति-स्थितिलय का कारणत्व।
२१८ ब्रह्मश्रोत्रिय— वेदवेदांग-पारंङ्गत।
२१९ भिक्षा— "माधुकमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्।
तत्कालिकोपपन्नञ्च भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम्॥"
"अष्टौग्रासा मुने भैक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिंशात्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्॥"
२२० भिक्षु— "यतिश्च ब्रह्मचारी च विद्यार्थी गुरुपोषकः।
अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च षडेते भिक्षवः स्मृताः॥".
२२१ भूमिका— ग्रन्थ के आरम्भ में वक्तव्य विषयक सूचना।
२२२ मध्यस्थ— वादी प्रतिवादी दोनों के विवादग्रस्त विषय का निर्णायक।
२२३ मुदिता— भोग्यवस्तुदर्शनजन्य चित्त की प्रसन्नता।
२२४ मुनि— वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व का अवगन्ता।
२२५ मूलाज्ञान— ब्रह्मावरक समष्टि माया।
२२६ मोक्ष— निखिल दुःख की निवृत्ति और स्वात्मानन्द की प्राप्ति।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२२७ म्लेच्छ– "गोमांसखादकश्चैव विरुद्धं बहु भाषते ।
सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते ।।"

२२८ यथार्थानुभव– अज्ञाताबाधितविषय का ज्ञान ।

२२९ राम– "राशब्दो विश्ववचनो मश्चापीश्वरवाचक : ।
विश्वानामीश्वरो यो हि तेन रामः प्रकीर्तितः ।।"

२३० लक्षणा का बीज– मुख्यार्थ की अनुपपत्ति, या तात्पर्यानुपपत्ति ।

२३१ लेशाविद्या– प्रारब्धभोगादि कार्य को संपादन करने वाली अविद्या।

२३२ वासना– अनुभव से जन्म और स्मृत्ति का हेतुभूत संस्कार ।

२३२ वार्तिक– उक्तानुक्तद्विरुक्तादिचिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ।।

२३३ विदेहमुक्ति– वर्तमानशरीरपात के अनन्तर भावी शरीर का अभाव।

२३४ विवर्त्त– उपादान से भिन्न सत्तावाला हो और अधिष्ठान से भिन्न रूप प्रतीत होने वाला ।

२३५ विसंवादी भ्रम– निष्फल प्रवृत्तिजनक भ्रम ।

२३६ वैयधिकरण– भिन्न-विभक्त्यन्त पदों का भिन्न अर्थ ।

२३७ व्यक्त– जो वस्तु इन्द्रियों से ग्राह्य हो ।

२३८ व्यभिचार– साध्याभाव में साधन की सत्ता ।

२३९ व्युत्पत्ति– धातु प्रत्ययों के स्पष्टीकरणपूर्वक विग्रह-वाक्य अथवा शब्दों के अर्थ की बोधन शक्ति ।

२४० शक्तिवृत्ति– पद और पदार्थ का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध ।

२४१ शक्य– पदनिष्ट शक्ति का विषय ।

२४२ शब्दशक्ति– यह पद इस अर्थ का बोधन करे, इस प्रकार ईश्वर का संकेत ।

२४३ श्री– लक्ष्मी, शोभा, सम्पत्ति ।
"देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधि-देवताम् ।
सिद्धं सिद्धाधिकारांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ।।"

२४४ शास्त्र– "प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पुंसां येनोपदिश्यते ।
तद्वाक्यं [illegible] शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः ।।"

Prof. Amodavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२४५ श्रुति– वेदवाक्य का अंश।

श्रुतिस्मृति-विरोधे तु स्मृतेस्त्यागो विधीयते।
तथैव लौकिक-वाक्यं स्मृतिबाधे परित्यजेत्॥

२४६ संवादीभ्रम– सफलप्रवृत्तिजनक भ्रम।

२४७ संवृत्ति– असत् प्रकाशनशक्ति, अविद्या का नाम बौद्ध मत में।

२४८ संसार्गाध्यास– अनात्मा में आत्मा का अध्यास।

२४९ संचितकर्म– जिनकर्मों के फल आरब्ध नहीं हुए हैं।

२५० सदुत्तर– यथार्थ उत्तर।

२५१ संन्यास– शास्त्रानुसार अन्दर बाहर से यावत प्रपञ्च का त्याग।

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रैषोच्चारणेन तु।
सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः॥
देहन्यासो हि संन्यासो नैव काषायवाससा।
नाहं देहोऽहमात्मेति निश्चयो संन्यास-लक्षणम्॥

२५२ सप्तर्षि– कश्यपोऽत्रि वशिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः॥

२५३ सविकल्पसमाधि– ज्ञातृज्ञानज्ञेयादि त्रिपुटी का अवभासपुरःसर आत्मा में चित्त का समाधान।

२५४ सामीप्यमुक्ति– उपास्य के समीपता की प्राप्ति।

२५५ सायुज्यमुक्ति– सदा उपास्य के साथ रहना।

२५६ सारूप्यमुक्ति– उपास्य के समान स्वरूप की प्राप्ति।

२५७ सालोक्यमुक्ति– उपास्य के समान लोक की प्राप्ति।

२५८ सिद्धसाधन– प्रमाणान्तर से साध्य की सिद्धि।

२५९ सिद्धान्त– वादी-प्रतिवादी से निर्णीत अर्थ।

२६० सिद्धान्ती– प्रमाणादि के द्वारा पूर्वपक्ष निराकरण पूर्वक सिद्धान्त पक्ष का स्थापक।

२६१ सूत्र– "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।"

२६२ सूत्रात्मा– हिरण्यगर्भ, समष्टि-सूक्ष्म-शरीरोपाधिक चैतन्य।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२६३ सृष्टिदृष्टि– सृष्टिके उत्तरकाल में दृष्टि (ज्ञान) होना।

२६४ स्तेय– परधनादि का अपहरण, चोरी।

२६५ स्वतःप्रमाण– अन्यप्रमाण के बिना स्वार्थ बोधन की सामर्थ्य।

२६५ हिन्दु– आसिन्धोः सिन्धु पर्यन्ता यस्य भारत भूमिका।
पितृभूः पुण्य-भूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

२६६ लोभ– परवित्तादिकं दृष्ट्वा नेतुं यो हृदि जायते।
अभिलाषा द्विजश्रेष्ठ स लोभः परिकीर्तितः॥

परिशिष्ट–३

कतिपय ग्रन्थनामों की व्युत्पत्ति

(लेखकः– पं० श्री मनसाराम शर्मा,
व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य, एम० ए०)

२६७ वेदान्तपरिभाषा—

वेदस्यान्तः शिरोभागस्तस्य परिभाषा विशिष्टसांकेतिकरूपेण प्रतिपादको ग्रन्थविशेषः। अर्थात् वेद के अन्तभाग का नाम वेदान्त है; उसका पारिभाषिक (सांकेतिक) शब्दों द्वारा तात्पर्य को प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ विशेष का नाम है—वेदान्तपरिभाषा।

२६८ पञ्चदशी—

पञ्चदशपरिमाणं प्रकरणमस्या सा पञ्चदशी ग्रन्थविशेषः। पन्द्रह-प्रकरणों का सम्यग्रूप से वर्णन करने वाला ग्रन्थ विशेष का नाम पञ्चदशी है।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

२६९ श्री मद्भगवद्गीता—

गीयते इति गीता, श्रीमांश्चासौ भगवान् श्रीमद्भगवान् तेन गीता वर्णिता इति श्री मद्भगवद्गीता ग्रन्थविशेषः। विशिष्ट शक्ति ऐश्वर्यादि से सम्पन्न भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा वर्णन किया हुआ ग्रन्थविशेष का नाम श्रीमद्भगवद्गीता है।

२७० ब्रह्मसूत्र—

वृंहति व्याप्नोति, वृहयति वा,परमाण्वादीन् जगद्रूपेण परिणमयतीति ब्रह्म, ब्रह्म सूत्रयते सूच्यते निरूप्यते यैस्तानि ब्रह्मसूत्राणि, तानि सन्ति यस्मिन् पुस्तके तद् ब्रह्मसूत्रंम्। जो स्वयं व्यापक है तथा जगत् के मूलकरणरूप परमाणु आदि को स्थूलजगत् के रूप में परिणामित्व का प्रेरक है, वह चेतन्य ब्रह्म है, उस ब्रह्म को लक्षणप्रमाणपरीक्षादि के द्वारा प्रकाशित करने वाले सूत्र हैं जिस पुस्तक में उसका नाम है ब्रह्मसूत्र।

२७१ शारीरक मीमांसा—

शरीरमेव शांरीरकं तत्र भवः शारीरको जीवस्तस्य मीमांसा विचारणा साऽस्ति यस्यां पुस्तिकायां सा शारीरकमीमांसा। शरीर उपाधि वाले चैतन्य का नाम शारीरक है, उस शारीरक(जीवात्मा) का विचार करने वाले शांकार-भाष्यादि का नाम 'शारीरक-मीमांसा' है।

२७२ वृहदारण्यकोपनिषद्—

वृहत्वात् परिमाणतो विशालत्वादिति वृहत्, अरण्ये वने भवं अरण्ये उच्यमानत्वादिति आरण्यकं। वृहच्च तदारण्यकं वृहदारण्यकं, निरूढाविद्यानिवर्तकं ज्ञानम्। उपनिशीर्यते अज्ञानमनया अथवा उपनिषीदति हृदि प्रकाशते ब्रह्मतत्वमनयेति उपनिषद् वृहदारण्यकस्योपनिषदिति वृहदारण्याकोपनिषद्। तपोवन में तत्त्वदर्शि ऋषियों के द्वारा साक्षात्कार किया हुआ जो ब्रह्मतत्त्वज्ञान है, वह वासना के सहित अविद्या निवर्तन में समर्थ होता हुआ वृहदारण्यक पद से बोधित होता है। उस परमार्थज्ञान को अपरोक्षानु

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भव रूप से साक्षात्कार कराने वाले ग्रन्थ-विशेष का नाम वृहदा-'रण्यकोपनिषद्' है । वार्तिककार ने कहा है—

"अरण्येऽध्ययनाच्चैतदारण्यकमितीर्यते । वृहत्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च वृहदारण्यकं मतम् ॥"

२७३ छान्दोग्योपनिषद्—

छन्दो गायन्तीति छन्दोगाः, छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यः वैदिकक्रियाकलापस्तस्योपनिषदिति छान्दोग्योपनिषद् । अर्थात् निरन्तर वेदाभ्यासरसिक विद्वानों का नाम छन्दोग है, उनका समस्तवेदप्रतिपादित ज्ञानकर्मोपासना आदि जो धर्म-विशेष था उसका नाम 'छान्दोग्य' हुआ, उसका प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष 'छान्दोग्योपनिषद्' कहलाता है ।

२७४ तत्त्वदीपिका—

दीपयति प्रकाशयतीति दीपिका, तत्त्वस्य दीपिका तत्त्वदीपिका । अर्थात् प्रत्यगभिन्न ब्रह्म ही वेदान्त सिद्धान्त में तत्त्व पद से निर्णीत हुआ है, उस तत्त्व को अपरोक्ष रूप से प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ-विशेष का नाम तत्त्वदीपिका है ।

२७५ विवरणप्रमेयसारसंग्रहः—

विवृतिर्विवरणं प्रकाशनम्, स्पष्टीकरणम् । विवरण-सम्बन्धिनः प्रमेयाः विषया तेषां सारस्तस्य संग्रहः इति विवरणप्रमेयसारसंग्रह गूढार्थों को किसी सुबोध भाषा में प्रकट करने वाली टीका विशेष को विवरण कहते हैं, उस टीका के प्रतिपाद्य विषय का नाम प्रमेय है, उन विषयों का संग्रह (प्रतिपादन) है जिस ग्रन्थ में उसका नाम 'विवरणप्रमेयसारसंग्रह' है ।

२७६ संक्षेपशारीरकम्—

शरीरमेव शारीरकं तत्र भवः शारीरको जीवः अभेदोपचाराद् ग्रन्थविशेषः, संक्षेपश्चशारीरकं संक्षेपशारीरकम् । शारीरक अर्थात् जीवात्मा विषयक शांकरभाष्य का नाम है—शारीरक भाष्य, उस

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शारीरक भाष्य का संक्षेप रूप से जिस ग्रन्थ में विचार किया है उस ग्रन्थ का नाम संक्षेपशारीरक है।

२७७ अद्वैतसिद्धिः—

द्वाभ्यामितं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतम् अद्वैतस्य सिद्धिः (निश्चयः) अद्वैतसिद्धिः एवंविधबोधक-ग्रन्थविशेषः। अर्थात् रूप द्वय—प्रकारता विशेष्यता आदि भिन्न भिन्न रूपों से विशिष्ट जो वस्तुतत्त्व है उसे द्वीत या द्वैत कहते हैं, सर्व उपाधियों से विनिर्मुक्त निर्विकल्प तत्त्व ही अद्वैत पद से कहा गया है, उस तत्त्व के निश्चय का नाम अद्वैतसिद्धि है। उपचार से उसके प्रतिपादक ग्रन्थ का नाम अद्वैत सिद्धि है।

२७८ सिद्धान्तलेशसंग्रहः—

सिद्धान्तानां लेशः स्वल्पः सारो वा तस्य संग्रहः सिद्धान्तलेशसंग्रहः, ग्रन्थविशेषः। कुछ अद्वैतवेदान्त सिद्धान्तों के सारभूततत्त्व का संग्रह किया गया है जिस ग्रन्थ में उसका नाम है–सिद्धान्तलेशसंग्रह

२७९ खण्डनखण्डखाद्यम्—

खण्डनमेव खण्डः इक्षुरससारस्तस्य खाद्यं मोदकविशेषः। जिस ग्रन्थ के अध्ययन अध्यापन करने वालों के लिए द्वैत का खण्डन ही चीनी से निर्मित लड्डू के समान मधुररस का आस्वादन हो उस ग्रन्थ का नाम खण्डनखण्डखाद्य है। अथवा—खण्डनस्याकाशादिपदार्थखण्डनरूपस्य खण्डस्य =शर्करायाः खाद्यम्=भक्ष्यं (स्वाद्यम्) भवति यस्य ग्रन्थस्य अध्ययनाध्यापनयोः। अर्थात् जिस ग्रन्थ के अध्ययन अध्यापन करने वाले को पदार्थादिखण्डन रूप खांड के समान माधुर्यरस का अनुभव हो वह खण्डनखण्डखाद्य है।

अथवा—

खण्डनेन = पदार्थादिखण्डनरूपेणखण्डाः = खण्डिताः खम् = आकाशम् आद्यं येषां ते खाद्याः=गगनादयः पदार्थाः येन यस्मिन् वा तत् खण्डनखण्डखाद्यम्।

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अर्थात् पदार्थादिखण्डनरूप से जिस में आकाशादि पदार्थों का खण्डन किया गया हो वह खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ विशेष है । अथवा—खण्डनरूपं यत्-खण्डखाद्यं तत्खण्डनखण्डखाद्यम् ग्रन्थ-विशेषः ।

—oo—

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट—४

द्वैतवाद और अद्वैतवाद के विकास का क्रम

मत	ग्रन्थकर्तृ नाम	ग्रन्थनाम	ग्रन्थ-समय
द्वैत	श्रीमध्वाचार्य	प्रस्थानत्रयभाष्यादि	११९९—१२७२ या १२३८—१३१८
अद्वैत	चित्सुखाचार्य	तत्त्वप्रदीपिका (द्वैतखण्डनात्मक)	१२५०—१३००
द्वैत	जयतीर्थ	वादावलि, (तत्त्वप्रदीपिका का खण्डन) प्रमाणपद्धति, न्यायसुधादि	१३१८—१४००
अद्वैत	आनन्दपूर्ण	न्यायचन्द्रिका (न्यायसुधाकाखण्डन)	१३३०—१४००
द्वैत	व्यासराज	न्यायामृत (तत्त्वदीपिका का खण्डन)	१४६६—१५५९
अद्वैत	नृसिंहाश्रम	अद्वैतदीपिकादि (द्वैत का खण्डन)	१५००
अद्वैत	मधुसूदन सरस्वती	अद्वैत-सिद्धि (न्यायामृत का खण्डन)	१५७५—१६४०

द्वैत	रामाचार्य	तरङ्गिणी (न्यायामृत की व्याख्या और अद्वैतसिद्धि का खण्डन)	१६००—१६५०
अद्वैत	बलभद्र	अद्वैतसिद्धिव्याख्या (तरङ्गिणी का खण्डन)	१६६०—१७००
अद्वैत	ब्रह्मानन्द सरस्वती	लघुचन्द्रिका, गुरुचन्द्रिका (अद्वैतसिद्धि की व्याख्या)	१६७५—१७५०
द्वैत	वनमाल मिश्र	न्यायामृतसौगन्ध्य (लघुचन्द्रिका का खण्डन)	१७५०—१८००
द्वैत	श्रीमदनन्ताल्वर	न्यायभास्कर (लघुचन्द्रिका का खण्डन)	१७५०—१८००
अद्वैत	श्रीरामसुब्रह्मण्यंशास्त्री	न्यायभास्कर का खण्डन	१८३०—१९२३
अद्वैत	अनन्तकृष्ण शास्त्री	सौगन्ध्यविमर्श	१८८८—१९३०
द्वैत	श्री निवासाचार्य	न्यायामृतार्णव	१९४७
अद्वैत	अनन्तकृष्ण शास्त्री	न्यायामृतार्णव-परीक्षा	१९५८

उल्लेख—इस तालिका का उल्लेख १९५९ में मद्रास से प्रकाशित 'न्यायचन्द्रिका' की भूमिका में अनन्तकृष्ण शास्त्री ने किया है।

Prof. Amodavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal
CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Amodavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

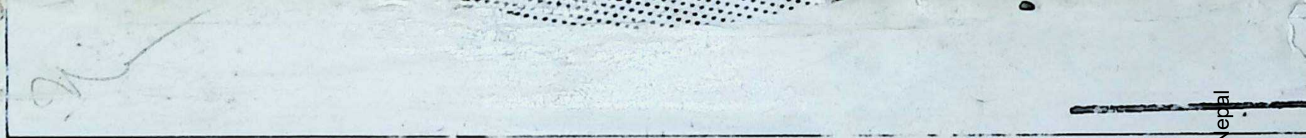

यह शायद एक परम उदाहरण है तथापि यह तीसरी दुनिया में सामाजिक कार्टूनिस्टों के अभाव को उचित रूप से दर्शाता है। समाज में अत्यंत अवमाननीय अनुभवों के विरुद्ध रक्षित गारंटी के बिना हास्य पनप नहीं सकता। भारत की वृद्धावस्था या जाति प्रथा एक सामाजिक कार्टून उभारने का परिवेश भली भांति नहीं दे सकती है।

लोककथा व पुराण व्यंग्य चित्रों के लिये अन्य उपजाऊ क्षेत्र है। लोकगीत और लोकनाट्य एक पूर्णतः ग्रामीण परिवेश के कारण इनसे लाभान्वित हुए हैं। परन्तु छपा हुआ अक्षर बन जाने के उपरांत यही व्यंग्य धार्मिक झगड़ों और हिंसा का कारण बन जाते हैं। मुझे शंकर का इलस्ट्रेटेड वीकली में भगवद्गीता का व्यंग्यात्मक चित्रण याद आता है। जब कृष्ण के पास ड्राइविंग लाइसेंस न होने के कारण उन्हें रोक दिया जाना और परिणामतः महाभारत युद्ध और गीता प्रवचन का रुक जाना दर्शाया गया है। यह एक अच्छा लतीफा था और भारत में प्रचलित निराली उपासनाओं, उदाहरणतः निन्द स्तुति – जिसमें हिन्दू दैवों क मजेदार सम्बन्धों की भर्त्सनात्मक स्तुति है। उस कार्टून के पीछे शोर-हल्ला और पत्रिका के उस अंक को निषिद्ध करने की बात आसानी से समझ में नहीं आती है। हम इसका स्पष्टीकरण सामाजिक मूल्यों में गिरावट और अभाव, और पौराणिक संदर्भों का उनकी जगह प्रवेश के कारण ही कर सकते हैं। हो सकता है कि कृष्ण को एक आम ड्राइवर के धरातल पर लाने से एक रचनात्मक अप्रासंगिता और मार्मिकता घटित होती है जिसे सहन कर पाना कठिन है।

तथापि यदि ऐसी प्रतिक्रियाओं को खुली छूट दे दें तो हास्य अपनी स्वच्छन्दता खो बैठेगा। दूसरे शब्दों में वर्तमान सांस्कृतिक अवचेतना हमारी उसी संस्कृति के दूसरे सहनशील तत्वों को दबा देती है।

अतः हास्य का स्तर कई दूसरे और भिन्न कारणों पर निर्भर है जैसे : किसी भी समय की राजनीतिक और धार्मिक धारणाओं की स्थिति, प्रतीकों की वाष्पशीलता या चंचलता तथा निजी व सामूहिक सुरक्षा, शैक्षिकता, मूल्यों और मान्यताओं की संभ्रांति और इन सबसे बढ़कर अपने ऊपर हंसने की क्षमता। हास्य मानव की जरूरतों और उनकी बुनियादी आवश्यकताओं में से है, हा आपातकालीन स्थितियां इसे भिन्न और नये चित्रों में ढाल देती हैं।

राजनीतिक कार्टून दूसरे संदर्भ और वर्ग में आते हैं। स्थिर प्रजातंत्रों में राजनीतिक मतभेद इसे एक नई शक्ति प्रदान करते हैं। जिन देशों में सामाजिक व राजनीतिक लोकाचार, पिछड़ी अर्थव्यवस्था, गरीबी व समाजिक शोषण द्वारा निश्चित होते हैं वहां अवश्य यह राजनीतिक मतभेद दुःखदायी हो सकते हैं।

भारत में काफी स्वतंत्रता उपलब्ध है। यद्यपि इसे कम करने की कभी-कभी कोशिश भी की जाती है। यहां की कटु वस्तुस्थिति हास्य की चमक को कभी-कभी बोझिल और कटु बना देती है।

एक राजनीतिक कार्टूनिस्ट होते हुए भी मुझे कुछ ही "हास्याप्रद"

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri
Prof. Amoda Vardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal